NAGARI PRACHĀRINI PATRIKĀ

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

अर्थात्

प्राचीन शोधसंबंधी त्रैमासिक पत्रिका

[नवीन संस्करण]

भाग ९—अंक १

NEW EDITION
VOL. IX

संपादक

महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझा

—:※:—

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

वैशाख संवत् १९८५]

[मूल्य प्रति संख्या २।) रुपया

विषय-सूची

सभा के नवीन कार्यकर्ता

सभापति—बाबू श्यामसुंदरदास बी० ए०

उपसभापति—पंडित रामनारायण मिश्र बी० ए०।

बाबू जगन्नाथदास, 'रत्नाकर' बी० ए०।

प्रधान मंत्री—बाबू माधोप्रसाद

प्रकाशन मंत्री—पंडित केशवप्रसाद मिश्र।

प्रचार मंत्री—बाबू रामचंद्र वर्म्मा।

अर्थ मंत्री—बाबू ब्रजरत्नदास बी० ए०।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

अर्थात्

प्राचीन शोधसंबंधी त्रैमासिक पत्रिका

[नवीन संस्करण]

भाग—९ संवत् १९८५

संपादक

महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझा

-:*:-

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

लेख-सूची

समुद्रगुप्त का पाषाणाश्व

(१) घोड़े के चित्र की प्रतिलिपि

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

[नवीन संस्करण]

नवाँ भाग—संवत् १९८५

(१) समुद्रगुप्त का पाषाणाश्व

[लेखक—बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर', बी० ए०, काशी]

नागरीप्रचारिणी-पत्रिका भाग ८ पृष्ठ २२९ में मैंने 'एक ऐतिहासिक पाषाणाश्व की प्राप्ति' नाम का लेख छपवाया था। इसका अँगरेजी भाषांतर दिसंबर सन् १९२७ के भारतीय ऐतिहासिक त्रैमासिक (Indian Historical Quarterly) में भी प्रकाशित हुआ था। उसमें लखनऊ-संग्रहालय में रक्षित एक और पाषाणाश्व का भी प्रासंगिक कथन किया गया था। वह घोड़ा ऐतिहासिक दृष्टि से मुझे विशेष ध्यान देने योग्य प्रतीत हुआ। अतः मैंने उसके विषय में कुछ अधिक अन्वेषण तथा विचार किया। जो बातें अनुसंधान से ज्ञात हुईं, अथवा मेरे विचार में आईं, वे प्राचीन इतिहास के प्रेमियों तथा शिलालेखों के विद्वानों के अवलोकन तथा विवेचन के निमित्त इस लेख द्वारा निवेदित की जाती हैं। यदि पुरातत्त्वज्ञों को मेरी कल्पनाएँ कोरी अनधिकार-चेष्टा मात्र ही प्रतीत हों तो भी, आशा है कि वे, इस लेख से केवल इतना लाभ समझकर, कि इससे उक्त घोड़े के विशेष अध्ययन की ओर ध्यान आकर्षित होता है, इसको क्षमा की दृष्टि से देखेंगे।

उक्त घोड़े के विषय में खोज करने पर जो कई ग्रंथों में संक्षिप्त विवरण मिले, पहले वे, पाठकों के सुभीते के लिये, यहाँ संगृहीत कर दिए जाते हैं—

"Another memorial of the event seems to exist in the rudely carved stone figure of a horse which was found in northern Oudh and now stands in the Lucknow Museum with traces of a brief dedicatory inscription incised upon it apparently referring to Samudra Gupta."

(Vincent Smith's Early History of India, 3rd Ed., p. 288.)

"The fact that the mutilated inscription—dda guttasa deyadhamma—is in Prakrita suggests a shade of doubt. All other Gupta inscriptions are in Sanskrit (J. R. A. S., 1893, p. 98, with plate). See fig. 11 in plate of coins. The horse having been exposed to the weather outside the Lucknow Museum for years, the inscription has disappeared. The image is now inside the building. The inscription was legible when the first edition of this book was published."

(Vincent Smith's Early History of India, 3rd Ed., p. 228., footnote.)

"The fact that Samudra Gupta actually performed the solemn rite is vouched for by the inscriptions as well as the reverse legends of the medals. It seems also to be commemorated by a very curious sculpture preserved at Lucknow. This is the life-size figure in stone of a small horse which was dug up some years ago near the ancient fort of Khairigarh in the Kheri District, on the border between Oudh and Nepal. Khairigarh was evidently a place of importance in ancient times, and Gupta coins are found in the neighbourhood. The stone horse bears on the right side of its neck an inscription of which the letters—dda guttasa deyadhamma—are legible. The first word must clearly be restored as Samudra and the three words must be translated as the pious gift of Samudra Gupta. The sculpture which stands in the open air, at the entrance of the Lucknow Museum, is accordingly labelled as being the sacrificial horse of Samudra Gupta."

"The artistic merits of the work, as will appear from the accompanying plate I, prepared from a photograph kindly supplied by Dr. Fuhrer, are contemptible. The letters of the inscription are so faintly engraved that they are barely

discernible in the original photograph, though the reading appears to be quite certain. All other Gupta inscriptions are in purely classical Sanskrit, and it is curious that this brief record should be in Prakrita. I do not think that the word 'deyadamma' is found in any other Gupta record"

(Observations on Gupta Coinage by Vincent Smith, published in the J. R. A. S., 1893, p. 98.)

"About two miles north-west of the fort Khairigarh stood till 1885 the life-size stone figure of a horse buried in dense jangal, though of rude workmanship it is nevertheless interesting on account of a fragmentary Gupta inscription of Samudra Gupta being incised on the right side of the neck. The attitude is stiff, and the workmanship of the legs is hard, weary and unnatural, but the back is skilfully caparisoned. Judging from the inscription, it is meant to be a substitute for a real, but costly, sacrificial horse. The stone horse is now standing in the compound of the Lucknow Provincial Museum."

(Fuhrer, Monumental Antiquities of N. W. P. and Oudh, p. 285)

"The earliest relic which can be dated with some certainty is a stone horse which formerly stood in thick jungle two miles from the fort of Khairigarh, and is now at the Lucknow Museum. Its attitude is stiff and conventional but it resembles closely the figure depicted on a rare coin of Samudra Gupta, and a fragmentary inscription mentions that monarch, who flourished in the fourth century A. D."

(District Gazetteer of the U. P., Vol. XLII, Kheri, p. 135.)

इन सब फुटकर विवरणों का सारांश इतना ही है कि खेरी प्रांत में खैरीगढ़ नामक प्राचीन दुर्ग के कोई दो मील पश्चिमोत्तर की ओर घने जंगल में एक पुरा-कालीन पत्थर का घोड़ा खड़ा था। वह सन् १८८५ ई० के पश्चात् लखनऊ के संग्रहालय में मँगा लिया गया। इस घोड़े की बनावट तो भद्दी है पर इसके पृष्ठावरण की चित्रकारी सुंदर और कलाकलित है। आकार में यह एक जीते-

जागते छोटे घोड़े के बराबर है। बीस पचीस वर्ष हुए तब तक इसकी ग्रीवा के दाहिने पार्श्व पर प्राचीन लिपि में एक छोटा लेख विद्यमान था। उसको डाक्टर फ्यूहर एवं मिस्टर विंसेंट स्मिथ महोदयों ने "—द्रगुत्तस देयधम्म"—पढ़ा था, और उसका पूर्ण रूप "समुद्रगुत्तस देयधम्म" मानकर उसका अर्थ "समुद्रगुप्त का धर्मार्थ दान' लगाया था। यह घोड़ा कुछ दिनों तक लखनऊ-संग्रहालय के बाहर रखा रहा। अत: जलवायु के प्रभाव से उक्त लेख अब सर्वथा लुप्त हो गया है। यह घोड़ा समुद्रगुप्त के अश्वमेध का स्मारक माना जाता है। डाक्टर फ्यूहर महाशय के मत में यह वास्तविक यज्ञाश्व का प्रतिनिधि (substitute) है। इस पर के लेख का प्राकृत में होना पुरातत्त्वज्ञों के विचार में कुछ संदेहात्मक है क्योंकि गुप्तवंशीय और सब प्राप्त लेख संस्कृत में हैं, कोई भी अब तक प्राकृत में नहीं मिला है। समुद्रगुप्त के एक दुर्लभ मुद्रा पर जो घोड़े का चित्र अंकित है वह इस घोड़े की आकृति से बहुत मिलता है।

इस घोड़े के विषय में ऊपर लिखी बातों के अतिरिक्त और कहीं कुछ नहीं मिला। संभव है कि ग्रीवा पर के लेख की छाप तथा कुछ और विशेष वृत्तांत अन्य किसी ग्रंथ में हों; पर मेरे देखने में नहीं आए। ग्रीवास्थ लेख के विषय में उसके प्राकृत में होने के कारण, जो संशय श्री विंसेंट स्मिथ महाशय ने प्रकट किया है, उसके अतिरिक्त मुझे यह एक बात भी विलक्षण प्रतीत हुई कि जिस लेख ने ऋतुओं की सब आपत्तियाँ झेलकर १५०० वर्ष से अधिक समय तक अपने पढ़े जाने की योग्यता बनाए रखी हो वह, उसके पश्चात्, १५-२० वर्षों ही में सर्वथा अपाठ्य हो जाय। अत: मैंने स्वयं लखनऊ जाकर उक्त घोड़े को देखा और उक्त लेखस्थल की परीक्षा की।

वह घोड़ा नाप में ६′ ११″ × ५′ २″ है और पादपीठ सहित एक कड़े प्रकार के ललाई लिए पत्थर के एक ही टुकड़े में बना है। इसके अगले तथा पिछले पावों के बीच का पत्थर निकाला नहीं गया है, और इसकी पूंछ, जो कि अब सर्वथा नष्ट हो गई है, पिछले

पावों के बीच के पत्थर में चिपकी हुई बनाई गई थी। इन बातों में यह काशीवाले घोड़े से मिलता है। इसके दोनों कान नहीं हैं। उनके स्थलों पर कुछ ऊँचाइयाँ प्रतीत होती हैं जो लकीरों से घिरी हुई हैं। ये कानों की प्रतिनिधि बनाई हुई जान पड़ती हैं। घोड़े की बनावट भद्दी तथा आकृति शोकाकुल सी है जो कि किसी आपत्ति-ग्रस्त प्राणी के लिये समुचित है। इसकी पीठ पर कुछ चित्रकारी सी बनी हुई है। बीचो बीच लंबान बल में एक बेल सी खुदी है जिसके दोनों सिरों पर चक्र की आकृतियाँ बनी हैं। इनके अतिरिक्त बेल के ऊपर तथा नीचे कुछ और रेखाएँ भी हैं। इस लेख के साथ पहला चित्र उक्त घोड़े का है और दूसरा उसकी पीठ पर की चित्रकारी की थपुआ-छाप का।

घोड़ा तो मैंने देखा, पर उसकी ग्रीवा पर के खंडित लेख को स्वयं परीक्षा करने की अभिलाषा पूरी न हो सकी। ग्रीवा के दोनों पार्श्वों में से एक पर भी किसी अक्षर का कुछ पता न चला। कुछ अव्यवस्थित रेखाएँ तथा छोटे-मोटे गढ़े अवश्य दोनों ओर हैं; पर वे अकुशल शिल्पी की टाँकी के चिह्न भी कहे जा सकते हैं। उक्त संग्रहालय के अध्यक्ष (Curator) राय प्रयागदयाल साहब से ज्ञात हुआ कि कुछ वर्षों पहले उस पर कुछ चिह्न पुराने अक्षरों से मिलते-जुलते वर्तमान थे। थपुआ-छाप उठाने से दो एक चिह्न कुछ अक्षरों के रूप के प्रतीत भी हुए पर उनसे कुछ काम न निकल सका।

यद्यपि ग्रीवास्थ लेख के देखने की कामना तो वैसी ही रह गई पर मेरी लखनऊ-यात्रा का श्रम निष्फल न हुआ। उक्त घोड़े की पीठ पर जो चित्रकारी खुदी हुई है और जिसको डाक्टर फ्यूहर महोदय ने केवल आवरण की चित्रकारी समझकर छोड़ दिया था और यही अथवा ऐसा ही कुछ मानकर श्री विंसेंट स्मिथ महाशय ने भी जिसके विषय में कुछ नहीं कहा तथा अन्य लेखकों ने भी उक्त महाशयों के मतानुसार अब तक जिसको चित्रकारी ही जान रखा है, उस पर

विशेष ध्यान देने से मेरे हृदय में यह भावना हुई कि वह कोरी चित्रकारी न होकर चित्राक्षरों में अथवा शंखलिपि (conch character) में कोई लेख हो तो आश्चर्य नहीं। यह विचार जब मैंने अपने मित्र उक्त संग्रहालयाध्यक्ष से प्रगट किया तो उन्होंने भी कहा कि वह संभवतः कोई चित्रित लिखावट (pictoreal writing) हो सकती है।

इस धारणा से मैंने उसके पढ़ने की चेष्टा की पर उस समय कुछ भी सफलता न हुई। तब मैंने उक्त राय साहब से उस चित्रकारी की एक पूरी छाप उतरवा देने की प्रार्थना की जो उन्होंने अपनी स्वाभाविक कृपा तथा सज्जनता से तैयार करा दी। उसी छाप की प्रतिकृति दूसरे चित्र में दिखाई गई है।

घर लाकर मैं उस छाप के पढ़ने का कोई ढंग सोचने लगा। पर कुछ दिनों तक कोई अता-पता न मिला। एक दिन इस बात पर ध्यान गया कि यदि यह चित्रकारी कोई चित्रित लेख (Ornamental writing) है, तो इसमें अनेक रेखाएँ केवल सजावट के निमित्त व्यर्थ भी बनाई गई होंगी, अतः उनको इस छाप में से बहिष्कृत करके इस पर विचार करना चाहिए। इस धारणा से मैंने इधर उधर की रेखाओं को, जो सर्वथा सजावटी प्रतीत हुईं, छोड़कर, केवल मध्यस्थ पंक्ति पर ध्यान जमाया।

इस पंक्ति में, जो कि एक शृंखला के रूप की है, मुझे ६ कड़ियाँ प्रतीत हुईं। पर उन कड़ियों के रूप आपस में कुछ ऐसे मिलते-जुलते से दिखाई दिए कि फिर भी उनके पढ़े जाने का कोई बानक न बना। प्रत्येक खंड के ऊपर तथा नीचे की वक्र रेखाओं को एक ही सी देखकर जी में यही आया कि उनके अक्षर होने की धारणा भ्रम मात्र थी; वस्तुतः वह शृंखला चित्रकारी मात्र ही है क्योंकि अक्षरों की पंक्ति में इतना साम्य क्योंकर संभव है। यह सोचकर मैं उसके पढ़े जाने की आशा, प्रत्युत, उसके लेख होने की संभावना को भी परित्यक्त करने ही को था कि एकाएक मेरा ध्यान

उन समान रेखाओं के बीच के भागों की विषमता पर गया। बस फिर यह धारणा हुई कि ये ऊपर तथा नीचे की रेखाएँ भी सजावटी रेखाएँ ही हैं और यदि अक्षर हो सकते हैं तो इनको भी छोड़कर जो मध्य भाग बच जाते हैं वे ही हो सकते हैं। यह सोचकर मैंने ऊपर तथा नीचे की वक्र रेखाओं को भी छोड़कर मध्य के टुकड़ों ही का अध्ययन आरंभ किया।

अब तो पंक्ति के खंड अपने अपने आकारों की भिन्नता प्रकट करने लगे, जिससे उनके किसी विशेष प्रकार के अक्षर होने की संभावना फिर भासित होने लगी, यद्यपि पहले तथा दूसरे अक्षरों में स्पष्ट भेद उस समय लक्षित न हो सका और चौथा तथा पाँचवाँ अक्षर एक ही सा प्रतीत हुआ। इस प्रकार उस पंक्ति में कुछ लिखा होना तो जान पड़ने लगा, पर रहा वह लेख अभी तक बुझौवल ही। हाँ इतना अवश्य हुआ कि उसके पढ़ने में मेरा उत्साह बढ़ गया और उसको मैं विशेष श्रम से मनन करने लगा।

गुनावन करते करते एक दिन उसके तीसरे अक्षर को मैंने 'ग' निर्धारित किया (प्राचीन लिपि-माला के १६ वें लिपि-पत्र में 'ग' की आकृति देखिए)। फिर इस 'ग' के सहारे चौथे अक्षर को जो गुप्तकालीन 'प' से मिलता है (उसी लिपि-पत्र में 'प' की आकृति देखिए) नीचे के अर्ध गुड़ले के सहित मैंने 'प्त' अनुमानित किया (उसी लिपि-पत्र तथा १८ वें लिपि-पत्र में अन्य अक्षरों के नीचे लगाए हुए 'त' का रूप देखिए)। इस अर्ध गुड़ले को पहले मैंने सजावटी समझा था। इस प्रकार तीसरे तथा चौथे अक्षरों को मिलाकर मैंने 'गुप्त' मान लिया, यद्यपि उस समय तक 'ग' में 'उ' की मात्रा का पता नहीं मिला था।

'गुप्त' शब्द के निर्धारित होने से यह बात निश्चित हो गई कि इस लेख में किसी गुप्तवंशीय राजा का नाम है। फिर यह देखकर कि 'गुप्त' शब्द के पहले दो ही अक्षर हैं यह भी स्थिर हुआ कि वह नाम दो ही अक्षरों का है। गुप्तवंशीय राजाओं में दो अक्षरों के

कई नाम हैं जैसे 'चंद्र०', 'स्कंद०', 'बुद्ध०' इत्यादि। पर पहले अक्षर की आकृति गुप्तकालीन 'घ' की आकृति से बहुत मिलती हुई दिखाई दी, अतः पहले दो अक्षरों का 'चन्द्र' होना अनुमान सिद्ध ठहरा यद्यपि उस समय तक दूसरे अक्षर के 'न्द्र' होने में संशय लगा रहा। गुप्तवंशीय और किसी राजा के नाम के आरंभ में 'च' का होना ज्ञात न हुआ। अब इस रीति पर पहले के चार अक्षरों को मिलाकर 'चन्द्रगुप्त' पाठ सिद्ध हुआ।

पाँचवें अक्षर के चौथे अक्षर से मिलते हुए होने के कारण उसका भी 'प' मानना तो संगत ज्ञात हुआ पर छठे अक्षर का उस समय कुछ भी पता न चल सका। मैंने अपने मित्र बाबू श्यामसुंदर-दास से भी अपने पाठ के विषय में परामर्श किया। उन्होंने मेरे अनुमानों को युक्तिसंगत बतलाया और कहा कि बहुत संभव है कि अंत में वे ठीक ठहरें।

अब मैंने, थपुआ-छाप की सामान्य अस्पष्टता तथा भ्रमात्मकता के निवारणार्थ, एवं अक्षरों की रेखाओं के घुमाव-फिराव की जाँच के निमित्त, मूल चित्रकारी की फिर से परीक्षा करने का विचार किया और इस कार्य के लिये पुनः लखनऊ की यात्रा की। इस बार के निरीक्षण में उन बातों पर विशेष दृष्टि रखी गई जिनके विषय में अधिक संशय था। मुझे यह देखकर बड़ा संतोष हुआ कि इस पुनरनुसंधान से मेरे अनुमानों की पूरी पुष्टि हो गई।

यहाँ पर मैं राय प्रयागदयाल साहब की कृपा तथा सज्जनता का धन्यवाद प्रकाशित कर देना आवश्यक समझता हूँ जिन्होंने उक्त लेख की परीक्षा के निमित्त पूरा सुभीता प्रदान किया और उसके अध्ययन करने के निमित्त यथेष्ट प्रबंध कर दिया।

सूक्ष्म दृष्टि से परीक्षा करने पर अक्षरों की जो आकृतियाँ स्थिर हुईं उनसे प्रथम चार अक्षरों के तो 'चन्द्रगुप्त' होने का अनुमान पूर्णतया प्रमाणित हो गया, और शेष दो अक्षरों को मैंने 'पितुः' पढ़ा। इस लेख के साथ जो तीसरा चित्र दिया गया है, उसमें पत्थर के गढ़ों

एवं व्यर्थ चिह्नों के धब्बे मिटवा दिए गए हैं और अक्षरों के आकार एवं सजावटी रेखाओं के रूप, जो पुन: परीक्षा से प्रतीत हुए, स्पष्ट करके दिखा दिए गए हैं। इसके अतिरिक्त पाठकों के सुभीते के लिए सजावटी रेखाएँ रंगीन भी कर दी गई हैं, जिसमें मूल अक्षर सर्वथा पृथक् दिखाई दें।

इस चित्र से पहले अक्षर के 'च' होने में तो कोई संशय नहीं रह जाता अत: उसके विषय में विशेष लिखना व्यर्थ है।

दूसरे अक्षर 'न्द्र' को प्राचीन लिपि-माला के १९ वें लिपि-पत्र के 'न्द्र' से मिलाने पर कुछ अंतर प्रतीत होता है। ऊपर जो 'न' लगा है वह तो दोनों में सर्वथा एक ही सा है, पर लिपि-पत्र के 'द' का नीचे वाला सिरा दाहिनी ओर को घूमा हुआ है और इस लेख के 'द' का निचला सिरा किंचिन्मात्र नीचे लटककर समाप्त हो गया है। इसके अतिरिक्त 'द' की मध्य रेखा के घुमाव में भी कुछ भेद है। पर इस रूप का 'द' भी प्राचीन लेखों में होता था। इसकी आकृति उक्त ग्रंथ के चौथे लिपि-पत्र के 'द' के समान है। 'द' के निचले सिरे में जो 'र' लगा है उसके विषय में भी उक्त १९ वें लिपि-पत्र में लगे हुए रेफ द्रष्टव्य हैं। इस लेख का रेफ कुछ विशेष घूमता हुआ ऊपर को चला गया अवश्य है, पर यह भेद केवल इसके चित्रित लिपि होने के कारण है। किसी किसी लेख में कुछ ऊपर को घूमे हुए रेफ भी दृष्टिगोचर होते हैं; यह बात उक्त ग्रंथ के १८ वें लिपि-पत्र में दिखाई देती है।

पुनरनुसंधान में तीसरे अक्षर अर्थात् 'ग' की दाहिनी टाँग के निचले सिरे की दाहिनी ओर अँकुसी के आकार का कुछ घुमाव सा प्रतीत हुआ जो तीसरे चित्र में दिखला दिया गया है। वह 'उ' की मात्रा माना जा सकता है (उक्त अट्ठारहवें लिपि-पत्र में 'ग' में लगी 'उ' की मात्रा देखिए), और चौथे अक्षर के 'प्त' होने में कुछ विशेष संशय पहले ही से नहीं था। अत: तीसरे तथा चौथे अक्षरों को मिलाकर 'गुप्त' होने का अनुमान पुष्ट हो गया।

पाँचवें अक्षर की आकृति चौथे अक्षर से सर्वथा मिलती है। अतः उसके भी 'प' होने के विषय में कुछ विशेष वक्तव्य नहीं है। उसके पेट में से जो एक लकीर ऊपर को दाहिनी ओर झुकती हुई गई है, और जो फिर बढ़ाकर सजावटी चित्र कर दी गई है, उसको मैं 'इ' की मात्रा मानता हूँ। उक्त १६ वें लिपि-पत्र में यद्यपि 'इ' की मात्राएँ बाईं ओर झुकती हुई बनाई गई हैं, पर १० वें तथा २० वें लिपि-पत्रों में इ की मात्राएँ कुछ दाहिनी ओर झुकती भी दिखाई पड़ती हैं।

छठे अक्षर के विषय में बहुत दिनों तक संशय बना रहा। उसकी आकृति किसी ऐसे अक्षर से नहीं मिलती थी जो 'पि' से मिलकर आवश्यकतानुसार कोई सार्थक शब्द बना सकता। उसको 'त' मानने के लिए बारंबार जी ललचाता था, पर उसके ऊपरवाली सजावटी रेखा से मिली हुई जो एक रेखा उसके उदर में दिखाई देती है (दूसरा चित्र देखिए) वह उसके 'त' होने में बाधा डालती थी। अंत को एक दिन यह धारणा हुई कि उक्त मध्यस्थ रेखा, जो ऊपरवाली सजावटी रेखा से मिली हुई प्रतीत होती है, वस्तुतः उससे मिली नहीं है प्रत्युत वह नीचे की दाहिनी ओरवाली सजावटी रेखा की विस्तृति मात्र है, जो 'त' के उदर में घुसकर समाप्त होती है, जैसा कि तीसरे चित्र में दिखाया गया है। पत्थर के घिस जाने के कारण वह उस नीचे वाली रेखा से अलग जान पड़ती है। इसके अतिरिक्त उस अक्षर के ऊपर एक छोटी सी चोटी भी प्रतीत हुई। इन बातों से छठे अक्षर के 'त' होने का अनुमान ठीक ठहरा। फिर उसके नीचे जो अर्धचंद्राकृति है वह, उ' की मात्रा अनुमानित की गई और दाहिने पार्श्व में जो दो छोटे छोटे अस्पष्ट बिंदु हैं उनको विसर्ग समझकर छठा अक्षर 'तुः' माना गया। १६ वें लिपि-पत्र में अँकुसी और अर्धगुड़ला दोनों रूप की 'उ' की मात्रा देखने में आती है। इस प्रकार पाँचवें तथा छठे अक्षर को मिलाकर 'पितुः' शब्द पढ़ा गया।

समुद्रगुप्त का पाषाणाश्व
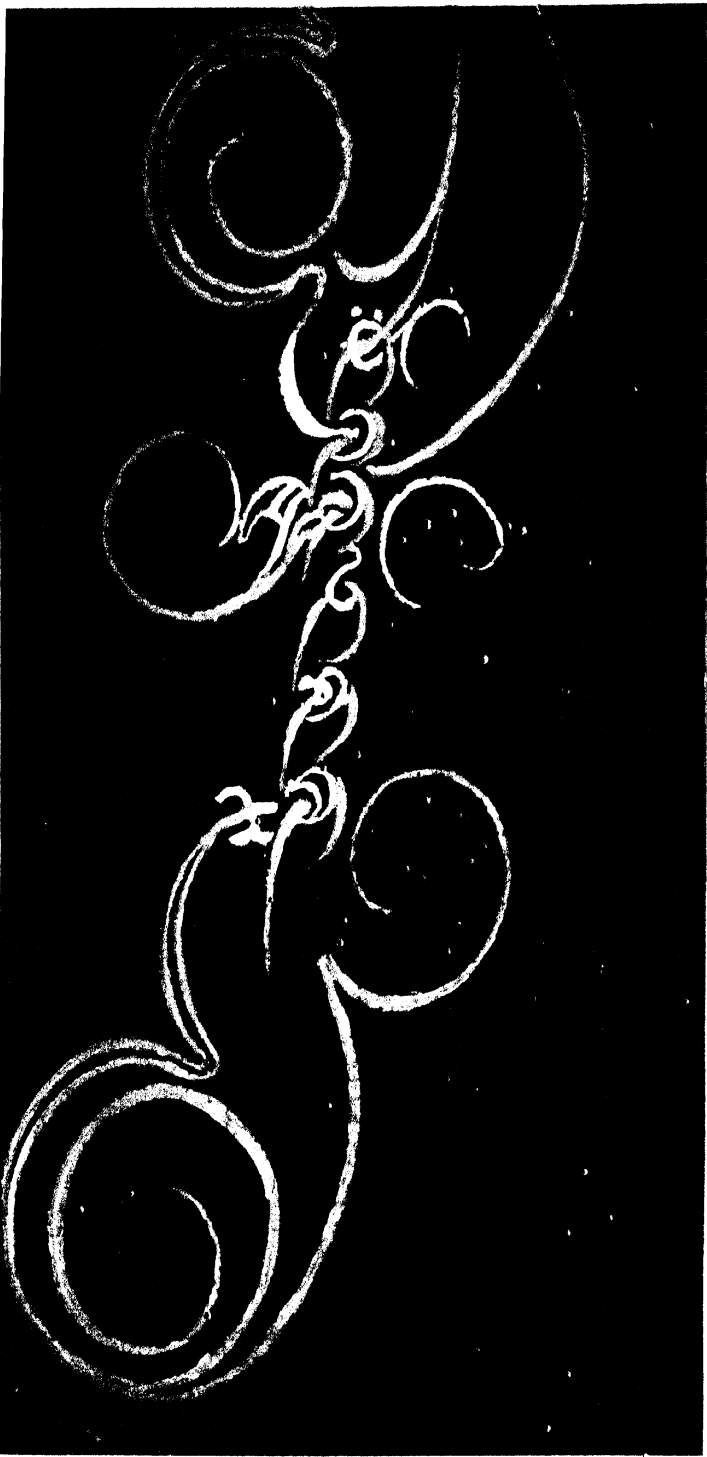
घोड़े की   के लेख की सुधारी हुई प्रतिलिपि

तीसरे चित्र में अक्षरों की जो स्पष्ट आकृतियाँ दिखलाई गई हैं एवं जो बातें उनके विषय में ऊपर कही गई हैं उनके अनुसार इस लेख की मध्यस्थ पंक्ति का पाठ यह होता है—

'चन्द्रगुप्तपितुः'

इस पंक्ति के अक्षरों के अतिरिक्त इस लेख में दो अक्षर और भी हैं—एक तो पंक्ति के पहले अक्षर के ऊपर और दूसरा चौथे अक्षर के ऊपर। पहले तो मैंने इन दोनों अक्षरों को सजावटी आकृतियाँ समझकर छोड़ दिया था। पर लखनऊ की दूसरी यात्रा में वहाँ के संग्रहालय में एक ऐसे शिलालेख पर, जो अभी तक पढ़ा नहीं गया है, ऐसी आकृतियाँ देखने में आईं, जिससे इन आकृतियों का भी अक्षर ही होना प्रतीत हुआ। अतः मैंने उनको भी अक्षर समझकर फिर से विचार किया।

पहले अक्षर की आकृति, जैसी कि तीसरे चित्र में दिखाई गई है, दाहिनी ओर लगी हुई भुजा को छोड़कर, प्राचीन लिपि के 'अ' से मिलती है (प्राचीन लिपिमाला के १६ वें लिपि-पत्र में देखिए)। दाहिनी ओर लगी हुई भुजा 'आ' की मात्रा मानी जा सकती है (उसी लिपि-पत्र में 'ज' में लगी हुई 'आ' की मात्रा देखिए)। ऐसी भुजाकार 'आ' की मात्रा के साथ यदि किसी अक्षर में नीचे 'उ' की मात्रा भी लगी होती है तो दोनों के मेल से 'ओ' की मात्रा बन जाती है (उसी पुस्तक के १० वें लिपि-पत्र में 'ञ' में 'ओ' की मात्रा देखिए)। अब यदि 'अ' की खड़ी रेखा के नीचे एक छोटा सा घुमाव रहना मान लिया जाय, जो अब दृष्टिगोचर नहीं होता, तो पहला अक्षर 'ओ' पढ़ा जाता है। 'ओ' की खड़ी रेखा के ऊपर से जो सजावटी रेखा चली है यदि उसके विषय में यह कल्पित किया जाय कि वह एक बिंदु पर से चली है—क्योंकि जितनी सजावटी रेखाएँ चली हैं वे सब किसी सहारे ही से चली हैं—तो पहले अक्षर को 'ओं' पढ़ना युक्तियुक्त ठहरता है।

दूसरे अक्षर की आकृति एक खोखले गो-शृंग के आकार की है जिसकी नोक बाईं ओर को झुकी हुई है और जिसके बीच में एक आड़ी रेखा है। इस अक्षर की आकृति पुरानी लिपि के 'श' की आकृति से मिलती है। उक्त १६ वें लिपि-पत्र में यद्यपि 'श' का मस्तक गोल बनाया गया है, पर पहले तथा दूसरे लिपि पत्रों में उसका मस्तक नुकीला ही है। इसके अतिरिक्त उसका नुकीलापन एवं बाईं ओर का झुकाव उसके चित्रित लिपि में होने के कारण भी कहा जा सकता है। इस 'श' की दाहिनी टाँग के नीचे से जो एक वक्र रेखा चलकर बाईं ओर सजावटी रेखा से जा मिली है वह रफ मानी जा सकती है और इसके सिर पर से जो रेखा दाहिनी ओर ऊपर को चलकर सजावटी रेखा हो गई है वह 'ई' की मात्रा है (उक्त ग्रंथ के १६ वें लिपि-पत्र में 'श्री' में लगी हुई 'ई' की मात्रा देखिए)। इस प्रकार यह अक्षर 'श्री' पढ़ा जाता है।

ऊपर लिखे अनुमानों तथा प्रमाणों से इस लेख का पूरा पाठ यह ठहरता है—

ओं श्री

चन्द्रगुप्तपितुः

यदि यह पाठ ठीक है और भीतास्थ लेख के विषय में पाश्चात्य विद्वानों का अनुमान भी यथार्थ है, तो दो विषम समस्याएँ उपस्थित होती हैं—एक तो यह कि यह घोड़ा किसका बनवाया है, समुद्रगुप्त का अथवा चंद्रगुप्त का, और दूसरी यह कि एक लेख शुद्ध संस्कृत में और दूसरा प्राकृत में क्यों है।

घोड़े के समुद्रगुप्त का बनवाया मानने में यह कठिनाई पड़ती है कि बाप का परिचय पुत्र के नाम से देने की अर्थात् अमुक का पिता अमुक इस प्रकार परिचय देने की प्रथा नहीं थी, प्रत्युत परिपाटी पिता के नाम से पुत्र का परिचय देने की थी, जैसे अमुक का पुत्र अमुक। यदि यह घोड़ा समुद्रगुप्त के पुत्र चंद्रगुप्त विक्रमादित्य

का बनवाया माना जाय तो यह प्रश्न उठता है कि उसने इस पर अपने पिता का नाम क्यों खुदवाया। इस प्रश्न का उत्तर स्थूल दृष्टि से तो यही ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त की परलोक-यात्रा के पश्चात् उसके बेटे चंद्रगुप्त ने यह घोड़ा उसका स्मारक-रूप बनवाया और इसी से उस पर 'चंद्रगुप्तपितुः' तथा 'समुद्रगुत्तस देयधम्म' खुदवाया। पर यह बात ध्यान देने की है कि इस घोड़े की प्रतिकृति समुद्रगुप्त के एक प्रकार की मुद्रा अथवा पदक पर मिलती है, जिससे प्रमाणित होता है कि उक्त मुद्रा के बनने के समय अर्थात् समुद्रगुप्त की उपस्थिति में यह घोड़ा विद्यमान था। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि इस घोड़े की प्रतिकृति समुद्रगुप्त की मुद्रा पर नहीं है, प्रत्युत उक्त मुद्रा के घोड़े के आकार का यह घोड़ा चंद्रगुप्त ने अपने बाप के स्मरणार्थ बनवाया। यह उत्तर निस्संदेह बड़ा सारगर्भित तथा युक्तियुक्त है, पर इस बात का विचार भी आवश्यक है कि यदि ऐसा था तो यह घोड़ा राजधानी अथवा किसी विख्यात तीर्थ-स्थान में न रखवाकर खेरी प्रांत में क्यों रखवाया गया। यद्यपि खैरीगढ़ उस समय एक महत्त्व का स्थान था, तथापि चंद्रगुप्त की राजधानी अथवा कोई बड़ा तीर्थस्थल नहीं था।

लेखों की भाषाभिन्नता के कारण यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ये दोनों लेख मिलकर एक ही लेख हैं या भिन्न भिन्न। यदि ये दोनों एक ही लेख के दो टुकड़े माने जायँ तो पूरा लेख इस प्रकार होता है—

"चन्द्रगुप्तपितुः समुद्दगुत्तस देयधम्म"

ऐसी दशा में एक ही वाक्य में आधा भाग संस्कृत और आधा प्राकृत हो जाता है जो कि परम अव्यवस्थित परिपाटी है। इसके अतिरिक्त यह शंका भी उपस्थित होती है कि पीठ पर पर्य्याप्त स्थान के होते भी एक वाक्य दो स्थानों में क्यों बाँट दिया गया। यदि दोनों लेख पृथक् पृथक् समझे जायँ तो यह प्रश्न उठता है कि

एक ही अर्थ के दो लेख क्यों लिखे गए, क्योंकि दोनों का अभिप्राय वस्तुत: एक ही है।

मेरी समझ में यदि नीचे लिखी बातें मानी जायँ तो सब असमंजसताएँ दूर हो जाती हैं।

श्री विसेंट स्मिथ महाशय के भारत के प्राचीन इतिहास से विदित होता है कि चंद्रगुप्त विक्रमादित्य अपने पिता समुद्रगुप्त के समय ही से राजकाज की देख-भाल करने लगा था और अपने पिता के कामों में सहायता दिया करता था। उसी ग्रंथ से यह भी जाना जाता है कि समुद्रगुप्त के समय में अयोध्या राज्य-शासन का मुख्य स्थान हो गया था, जिसके कारण अवध को विशेष गौरव प्राप्त था। नेपाल तथा अवध की सीमा का प्रांत होने के कारण खेरी प्रांत उन दिनों बड़े महत्त्व का था। अब यह अनुमान संगत प्रतीत होता है कि चंद्रगुप्त अपने पिता की ओर से खेरी का प्रांतपति था और अपनी वीरता तथा सुप्रबंध के कारण उस प्रांत में विख्यात तथा प्रजाप्रिय हो रहा था। जब समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ किया और यज्ञाश्वांकित स्वर्णपदक वितरण किए तो चंद्रगुप्त ने अपने प्रांत में अपने पिता का स्मारक-रूप पदकांकित अश्व की पाषाण मूर्ति रखवा दी, और उस प्रांत में अपने विशेष प्रख्यात होने के कारण उसने उक्त घोड़े पर समुद्रगुप्तस्य न लिखवाकर चंद्रगुप्तपितु: लिखवा दिया। फिर यह देखकर कि चित्रित लेख का पढ़ना सामान्यत: सर्वसाधारण को कठिन होता है और जन-समूह की भाषा भी उस समय संस्कृत नहीं थी; उसने उसी लेख का अभिप्राय: प्रचलित लिपि तथा भाषा में ग्रीवा पर खुदवा दिया। 'चन्द्रगुप्तपितु:' तथा "समुद्गुत्तस" का एक ही अभिप्राय है। संस्कृत लेख में देयधर्म्म का अध्याहार करना पड़ता है पर प्राकृत लेख में वह खोलकर 'देयधम्म' कह दिया गया है। इस प्रकार दोनों लेखों का भिन्न भिन्न, पर एक ही अभिप्राय का होना संगत हो जाता है।

घोड़े के कानों के अभाव के विषय में मेरा वही अनुमान होता है जो मैंने काशीवाले घोड़े के एक कान के न होने के विषय में कहा है।

इस लेख के पठन तथा प्रकाशन में मुझे अपने मित्रवर बाबू श्यामसुंदरदास से अनेक अमूल्य परामर्श प्राप्त हुए हैं जिनके निमित्त मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ।

(२) हिंदी-साहित्य का वीरगाथा-काल

[लेखक—बाबू श्यामसुंदरदास और पंडित रामचंद्र शुक्ल, काशी]

जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का स्थायी प्रतिबिंब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्त-वृत्ति के परिवर्त्तन के साथ साथ साहित्य के स्वरूप में भी परि-वर्त्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य-परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चित्त-वृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। अत: कारण-स्वरूप इन परिस्थि-तियों का किंचित् दिग्दर्शन भी साथ ही साथ आवश्यक होता है। इस दृष्टि से हिंदी-साहित्य का विवेचन करने में यह बात ध्यान में रखनी होगी कि किसी विशेष समय में लोगों में रुचि विशेष का संचार और पोषण किधर से और किस प्रकार हुआ। उपर्युक्त व्यवस्था के अनुसार हम हिंदी-साहित्य के ९०० वर्षों के इतिहास को चार कालों में विभक्त कर सकते हैं—

आदिकाल—(वीरगाथा-काल, संवत् १०५० से १३७५)

पूर्व मध्यकाल—(भक्तिकाल, संवत् १३७५—१६७५)

उत्तर मध्यकाल—(रीतिकाल, संवत् १६७५—१८५०)

आधुनिक काल—(गद्यकाल, संवत् १८६० से १९८४)

यद्यपि इन कालों की रचनाओं की विशेष प्रवृत्ति के अनुसार ही इनका नामकरण किया गया है पर यह न समझना चाहिए कि किसी विशेष काल में और प्रकार की रचनाएँ होती ही नहीं थीं। उदाहरण के लिये जैसे भक्तिकाल या रीतिकाल को लें तो वीर रस के अनेक काव्य मिलेंगे जिनमें वीर राजाओं की प्रशंसा उसी ढंग की मिलेगी जिस ढंग की वीरगाथा-काल में हुआ करती थी। अत: प्रत्येक

काल का वर्णन यहाँ इस रीति पर किया जायगा कि पहले तो उक्त काल की विशेष प्रवृत्ति-सूचक उन रचनाओं का वर्णन होगा जो उस काल के लक्षण के अंतर्गत होंगी; पीछे संक्षेप में उनके अतिरिक्त और प्रकार की ध्यान देने योग्य रचनाओं का उल्लेख रहेगा।

प्राकृत-काल की अंतिम अपभ्रंश अवस्था के उपरांत ही विक्रम संवत् १०५० से हिंदी-साहित्य का अभ्युदय माना जा सकता है। अतः हिंदी-साहित्य के प्रारंभिक स्वरूप की झलक पाने के लिये हमें अपभ्रंश की रचनाओं की ओर ध्यान देना पड़ता है। ये रचनाएँ अधिकांश फुटकर पद्यों के रूप में हैं जो जनता के बीच कहे सुने भी जाते थे और राजसभाओं में पढ़े भी जाते थे। जनसाधारण के बीच प्रचलित पद्य प्रायः नीति और शृंगार संबंधी ही मिलते हैं और राजसभाओं में सुनाए जानेवाले नीति शृंगार आदि विषय प्रायः दोहों में कहे जाते थे और वीर रस संबंधी पद्य छप्पय में। राजाश्रित कवि अपने राजाओं के शौर्य, पराक्रम और प्रताप का वर्णन अनूठी उक्तियों के साथ किया करते थे अथवा युद्ध-क्षेत्र में स्वयं तलवार चलाते और दूसरों को अपनी वीरोल्लासिनी कविता से उत्साहित करते थे। ऐसे कवियों ही की रचनाओं के रक्षित रहने का अधिक सुबीता था। वे राजकीय पुस्तकालयों में भी रक्षित रहती थीं और भट्ट-चारण जीविका के विचार से उन्हें अपने उत्तराधिकारियों के पास भी छोड़ जाते थे। इसी रक्षित परंपरा का विकास हमारे हिंदी-साहित्य के प्रारंभिक काल में मिलता है। अतः इस काल को हम वीरगाथा-काल कह सकते हैं।

भारत के इतिहास में यह वह समय था जब कि मुसलमानों के हमले उत्तर-पश्चिम की ओर से लगातार होते रहते थे। इनके धक्के अधिकतर भारत के पश्चिम-प्रांत के निवासियों को सहने पड़ते थे जहाँ हिंदुओं के बड़े बड़े राज्य प्रतिष्ठित थे। गुप्त-साम्राज्य के ध्वस्त होने पर हर्षवर्द्धन (मृत्यु वि० ७०४) के उपरांत भारत का पच्छिमी भाग ही भारतीय सभ्यता और बल-वैभव का केंद्र हो

रहा था। कन्नौज, दिल्ली, अजमेर, अन्हलवाड़ा आदि बड़ी-बड़ी राजधानियाँ उधर ही प्रतिष्ठित थीं। उधर की भाषा ही शिष्ट भाषा मानी जाती थी और कवि-चारण आदि उसी भाषा में रचना करते थे। प्रारंभिक काल का जो साहित्य हमें उपलब्ध है उसका आविर्भाव उसी भूभाग में हुआ। अतः यह स्वाभाविक है कि उसी भूभाग की जनता की चित्तवृत्ति की छाप उस साहित्य पर हो। हर्षवर्द्धन के उपरांत ही साम्राज्य-भावना देश से अंतर्हित हो चुकी थी और खंड खंड होकर जो गहरवार, चौहान, चंदेल और परिहार आदि राजपूत-राज्य पश्चिम की ओर प्रतिष्ठित थे वे अपने प्रभाव की वृद्धि के लिये परस्पर लड़ा करते थे। लड़ाई किसी आवश्यकता वश नहीं होती थी, कभी कभी तो शौर्य-प्रदर्शन मात्र के लिये योंही मोल ली जाती थी। बीच बीच में मुसलमानों के भी हमले होते रहते थे सारांश यह कि जिस समय से हमारे हिंदी-साहित्य का अभ्युदय होता है, वह लड़ाई भिड़ाई का समय था, वीरता के गौरव का समय था। और सब बातें पीछे पड़ गई थीं।

महमूद गजनवी (मृत्यु वि० १०८७) के लौटने के पीछे गजनवी सुलतानों का एक हाकिम लाहौर में रहा करता था और वहाँ से लूटमार के लिए देश के भिन्न भिन्न भागों पर, विशेषतः राजपूताने पर, चढ़ाइयाँ हुआ करती थीं। इन चढ़ाइयों का वर्णन फारसी तवारीखों में नहीं मिलता पर कहीं कहीं संस्कृत के ऐतिहासिक काव्यों में मिलता है। साँभर (अजमेर) का चौहान राजा दुर्लभराज द्वितीय मुसलमानों के साथ युद्ध करने में मारा गया था। अजमेर बसानेवाले अजयदेव ने मुसलमानों को पराजित किया था। अजयदेव के पुत्र अर्णोराज (आना) के समय में मुसलमानों की सेना फिर पुष्कर की घाटी लाँघकर उस स्थान पर जा पहुँची जहाँ अब आना सागर है। अर्णोराज ने उस सेना का संहार कर बड़ी भारी विजय प्राप्त की। वहाँ म्लेच्छ मुसलमानों का रक्त गिरा था इससे उस स्थान को अपवित्र मानकर वहाँ अर्णोराज ने एक बड़ा तालाब

बनवा दिया जो आना सागर कहलाया। आना के पुत्र बीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) के समय में वर्त्तमान किशनगढ़ राज्य तक मुसलमानों की सेना चढ़ आई जिसे परास्त कर बीसलदेव आर्य्यावर्त्त से मुसलमानों को निकालने के लिये उत्तर की ओर बढ़ा। उसने दिल्ली और हाँसी के प्रदेश अपने राज्य में मिलाए और आर्य्यावर्त्त के एक बड़े भूभाग से मुसलमानों को निकाल दिया। इस बात का उल्लेख दिल्ली के अशोक-लेख वाले शिवालिक स्तंभ पर खुदे हुए बीसलदेव के वि० सं० १२२० के लेख से पाया जाता है। शहाबुद्दीन गोरी की पृथ्वीराज पर पहली चढ़ाई (सं० १२४७) के पहले भी गोरियों की सेना ने नाडौल पर धावा किया था, पर हारकर उसे लौटना पड़ा था। इसी प्रकार महाराज पृथ्वीराज के मारे जाने और दिल्ली तथा अजमेर पर मुसलमानों का अधिकार हो जाने के पीछे भी बहुत दिनों तक राजपूताने आदि में कई स्वतंत्र हिंदू राजा थे जो बराबर मुसलमानों से लड़ते रहे। इनमें सबसे प्रसिद्ध रणथंभौर के महाराज हम्मीरदेव हुए हैं जो महाराज पृथ्वीराज चौहान की वंश-परंपरा में थे। वे मुसलमानों से निरंतर लड़ते रहे और उन्होंने उन्हें कई बार हराया था। सारांश यह कि पठानों के शासनकाल तक हिंदू बराबर स्वतंत्रता के लिये लड़ते रहे।

राजा भोज की सभा में खड़े होकर राजा की दानशीलता का लंबा चौड़ा वर्णन करके लाखों रुपये पानेवाले कवियों का समय बीत चुका था। राजदरबारों में शास्त्रार्थों की वह धूम नहीं रह गई थी, पांडित्य के चमत्कार पर पुरस्कार का विधान भी ढीला पड़ गया था। उस समय तो जो भाट या चारण किसी राजा के पराक्रम, विजय, शत्रु-कन्या-हरण आदि का अत्युक्तिपूर्ण आलाप करता या रणक्षेत्रों में भी जाकर वीरों के हृदय में उत्साह की उमंगें भरा करता था वही सम्मान पाता था।

इस दशा में काव्य और साहित्य के और भिन्न भिन्न अंगों की पूर्त्ति और समृद्धि का सामुदायिक प्रयत्न कठिन था। इस समय

तो केवल वीरगाथाओं की उन्नति संभव थी। इस वीरगाथा को हम दोनों रूपों में पाते हैं--मुक्तक के रूप में भी और प्रबंध के रूप में भी। फुटकर रचनाओं का विचार छोड़ यहाँ वीरगाथात्मक प्रबंध-काव्यों का ही उल्लेख किया जाता है। जैसा कि योरप में वीर-गाथाओं का प्रसंग 'युद्ध और प्रेम' रहा वैसे ही यहाँ भी था। किसी राजा की कन्या के प्रेम का संवाद पाकर छलबल के साथ चढ़ाई करना और प्रतिपक्षियों को पराजित कर उस कन्या को हर-कर लाना वीरों का गौरव और अभिमान का काम माना जाता था। इस प्रकार थोड़ा शृंगार का मिश्रण भी इन काव्यों में रहता था, पर गौण रूप से, प्रधान रस वीर ही रहता था। शृंगार केवल सहायक के रूप में रहता था। जहाँ राजनीतिक कारणों से भी युद्ध होता था वहाँ भी उन कारणों का उल्लेख न कर कोई रूपवती स्त्री ही कारण कल्पित करके रचना की जाती थी, जैसे शहाबुद्दीन के यहाँ से एक रूपवती स्त्री का पृथ्वीराज के यहाँ आना ही लड़ाई की जड़ लिखी गई है। इस प्रकार इन काव्यों में प्रथानुकूल कल्पित घटनाओं की ही अधिकतर योजना रहती थी।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, वीरकाव्यों के पूर्व की रचना के कुछ फुटकर दोहे मिलते हैं जिनकी भाषा अपभ्रंश के नियमों से सर्वथा बद्ध नहीं है। इस भाषा को यद्यपि हम प्रचलित देशभाषा का ठीक ठीक रूप नहीं मान सकते पर उसमें देशभाषा का अधिक आश्रय स्पष्ट दिखाई पड़ता है। हेमचंद्र ने अपभ्रंश के जो दोहे दिए हैं वे सबके सब नागर अपभ्रंश में नहीं हैं। भिन्न भिन्न स्थानों के रूप और प्रयोग उनमें मिलते हैं। यह इतिहासप्रसिद्ध बात है कि बौद्धों और जैनों ने अपने धर्मोपदेश के लिये देशभाषाओं का अवलंबन किया। प्राकृत और अपभ्रंश के पठन पाठन का क्रम जैनों में बराबर चला आता है। सबसे प्राचीन रचनाओं के नमूने जैन ग्रंथों में ही मिलते हैं। विक्रम संवत् ९९० में देवसेन नामक एक जैन ग्रंथकार हुए हैं। उन्होंने श्रावकाचार नाम की एक

पुस्तक दोहों में बनाई है। इसकी भाषा अपभ्रंश के कटघरे से बाहर निकली हुई है और कहीं कहीं पीछे की प्रचलित काव्य-भाषा से बिल्कुल मिलती जुलती है, जैसे—

जो जिण सासण भाषियउ सो मइ कहियउ सारु।
जो पाले सइ भाउ करि सो तरि पावइ पारु॥

इसी प्रकार के फुटकर दोहे हेमचंद्र के व्याकरण तथा कुमारपाल-प्रतिबोध, प्राकृत पिंगलसूत्र आदि ग्रंथों में भी पाए जाते हैं जिनमें कई स्थानों (पूरब और पच्छिम) के प्रयोग मिलते हैं। ये दोहे किसी एक समय के बने नहीं हैं, मुंज और भोज (सं० १०३६) के समय से लेकर हम्मीरदेव (सं० १३५३) के समय तक के हैं। जन श्रुतियों पर यदि कुछ विश्वास किया जाय तो हिंदी-भाषा में ग्रंथ-रचना का पता विक्रम की आठवीं शताब्दी से लगता है। शिवसिंहसरोज में लिखा है कि भोजराज के पूर्वपुरुष राजा मान संवत् ७७० में राज्य करते थे। उनके दरबार के पुष्य बंदीजन नामक एक कवि ने दोहों में एक अलंकार ग्रंथ लिखा था। पर इस पुस्तक का कोई पता नहीं। जो उल्लेख योग्य ग्रंथ मिलते हैं वे वीरगाथा के रूप में ही हैं। अतः इनकी परंपरा और इनके स्वरूप का कुछ वर्णन आवश्यक है।

ये वीरगाथाएँ दो रूपों में मिलती हैं—प्रबंधकाव्य के साहित्यिक रूप में, और वीरगीतों (Ballads) के रूप में। साहित्यिक प्रबंध के रूप में जो सबसे प्राचीन ग्रंथ उपलब्ध है वह है पृथ्वीराज-रासो। वीरगीत के रूप में हमें सबसे पुरानी पुस्तक बीसलदेव-रासो मिलती है, जिसमें समयानुसार भाषा के परिवर्तन का आभास मिलता है। जो रचना कई सौ वर्षों से लोगों से बराबर गाई जाती रही हो उसकी भाषा अपने मूल रूप में नहीं रह सकती। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण 'आल्हा' है जिसके गानेवाले प्रायः समस्त उत्तरीय भारत में पाए जाते हैं।

यहाँ पर वीरकाल के उन ग्रंथों का उल्लेख किया जाता है जिनकी या तो प्रतियाँ मिलती हैं या कहीं उल्लेखमात्र पाया जाता है।

(१) खुमानरासो—संवत् ८१० और १००० के बीच में चित्तौर के रावल खुमान नाम के तीन राजा हुए हैं। कर्नल टाड ने इनको एक मानकर इनके युद्धों का विस्तार से वर्णन किया है। उनके वर्णन का सारांश यह है कि कालभोज (बाप्पा) के पीछे खुम्माण गद्दी पर बैठा, जिसका नाम मेवाड़ के इतिहास में प्रसिद्ध है और जिसके समय में बगदाद के खलीफा अलमामूँ ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की। खुम्माण की सहायता के लिये बहुत से राजा आए और चित्तौड़ की रक्षा हो गई। खुम्माण ने २४ युद्ध किए और वि० सं० ८६९ से ८९३ तक राज्य किया। यह समस्त वर्णन दलपत विजय नामक किसी कवि के रचित खुमानरासो के आधार पर लिखा गया जान पड़ता है, पर इस समय खुमानरासो की जो प्रति प्राप्त है वह अपूर्ण है और उसमें महाराणा प्रतापसिंह तक का वर्णन है। कालभोज (बाप्पा) से लेकर तीसरे खुमान तक की वंश-परंपरा इस प्रकार है—कालभोज (बाप्पा), खोम्माण, मत्तट, भर्तृपट्ट, सिंह, खोम्माण (दूसरा), महायक, खोम्माण (तीसरा)। कालभोज का समय वि० सं० ७९१ से ८१० है और तीसरे खुम्माण के उत्तराधिकारी भर्तृपट्ट (दूसरे) के समय के दो शिलालेख वि० सं० ९९९ और १००० के मिले हैं। अतएव इस १९० वर्ष का औसत लगाने पर तीनों खुम्माणों का समय अनुमानतः इस प्रकार, निश्चित होता जान पड़ता है।

खुम्माण (पहला) —वि० सं० ८१०—८३५

खुम्माण (दूसरा)—वि० सं० ८७०—९००

खुम्माण (तीसरा)—वि० सं० ९६५—९९०

अब्बासिया वंश का अलमामूँ वि० सं० ८७० से ८९० तक खलीफा रहा। इस समय के पूर्व खलीफों के सेनापतियों ने सिंध देश को विजय कर ली थी और उधर से राजपुताने पर मुसलमानों की चढ़ाइयाँ होने लगी थीं। अतएव यदि किसी खुम्माण से

अलमामूँ की सेना से लड़ाई हुई होगी तो वह दूसरा खुम्माण रहा होगा और उसी के नाम पर खुमानरासो की रचना हुई होगी। यह नहीं कहा जा सकता कि इस समय जो खुमानरासो मिलता है उसमें कितना अंश पुराना है। उसमें महाराणा प्रतापसिंह तक का वर्णन मिलने से यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जिस रूप में यह ग्रंथ अब प्राप्य है वह उसे वि० सं० की सत्रहवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ होगा। शिवसिंहसरोज के कथनानुसार एक अज्ञात-नामा भाट ने खुमानरासो नामक एक काव्य-ग्रंथ लिखा था जिसमें श्रीरामचंद्र से लेकर खुमान तक के युद्धों का वर्णन था। यह नहीं कहा जा सकता कि दलपत विजय असली खुमानरासो का रचयिता था अथवा उसके पिछले प्रक्षिप्त रूप का।

(२) बीसलदेवरासो— नरपति नाल्ह कवि विग्रहराज चतुर्थ उपनाम बीसलदेव का समकालीन था। कदाचित् यह राजकवि था। उसने 'बीसलदेवरासो' नामक एक छोटा सा (१०० पृष्ठ का) ग्रंथ लिखा है जो वीरगीत के रूप में है। ग्रंथ में निर्माण-काल यों दिया है—

> बारह सै बहोत्तरांहाँ मँझारि।
> जेठ बदी नवमी, बुधवारि॥
> 'नाल्ह' रसायण आरंभइ।
> सारदा तुठि ब्रह्म कुमारि॥

'बारह सै बहोत्तर' का स्पष्ट अर्थ १२१२ है। 'बहोत्तर' शब्द 'बर-होत्तर' 'द्वादशोत्तर' का रूपांतर है जिसका अर्थ 'द्वादशोत्तर बारह सै' अर्थात् १२१२ होगा। गणना करने पर विक्रम संवत् १२१२ में ज्येष्ठ बदी नवमी को बुधवार ही पड़ता है। कवि ने अपने रासो में सर्वत्र वर्तमान ही काल का प्रयोग किया है जिससे वह बीसलदेव का समकालीन जान पड़ता है। विग्रहराज चतुर्थ (बीसलदेव) का समय भी १२२० के आसपास है। इसके शिलालेख भी संवत् १२१० तथा १२२० के प्राप्त हैं। बीसलदेवरासो में चार खंड हैं।

यह काव्य लगभग २००० चरणों में समाप्त हुआ है। इसकी कथा का आधार यों है—

खंड १—मालवा के भोज परमार की पुत्री राजमती से (साँभर के) बीसलदेव का विवाह होना।

खंड २—बीसलदेव का उड़ीसा-विजयार्थ प्रस्थान तथा वहाँ पहुँचकर विजय-लाभ करना।

खंड ३—राजमती का विरह-वर्णन तथा बीसलदेव का उड़ीसा से लौटना।

खंड ४—भोज का अपनी पुत्री को अपने घर लिवा जाना तथा बीसलदेव का वहाँ जाकर राजमती को फिर चित्तौर लाना।

दिए हुए संवत् के विचार से कवि अपने चरितनायक का समकालीन जान पड़ता है। पर वर्णित घटनाएँ, विचार करने पर, बीसलदेव के बहुत पीछे की लिखी जान पड़ती हैं जब कि उनके संबंध में कल्पना की गुंजाइश हुई। यह घटनात्मक काव्य नहीं है—इसमें दो ही घटनाएँ हैं—बीसलदेव का विवाह और उनका उड़ीसा जाना। इनमें से पहली बात तो कल्पना-प्रसूत प्रतीत होती है। बीसलदेव से १०० वर्ष पहले ही धार के प्रसिद्ध परमार राजा भोज का देहांत हो चुका था। अतः उनकी कन्या के साथ बीसलदेव का विवाह किसी पीछे के कवि की कल्पना ही प्रतीत होती है। उस समय मालवा में भोज नाम का कोई राजा नहीं था। बीसलदेव की एक परमार वंश की रानी थी। यह बात परंपरा से अवश्य प्रसिद्ध चली आती थी क्योंकि इसका उल्लेख पृथ्वीराजरासो में भी है। इसी बात को लेकर पुस्तक में भोज का नाम रखा हुआ जान पड़ता है। अथवा यह हो सकता है कि धार के परमारों की राज्योपाधि ही भोज रही हो और उस आधार पर कवि ने उसका यह उपाधिसूचक नाम ही केवल दे दिया हो, असली नाम न दिया हो। पर संभव है इन्हीं में से किसी की कन्या के साथ बीसलदेव का विवाह हुआ हो। परमार-कन्या के संबंध में कई स्थानों पर

जो वाक्य आए हैं उन पर ध्यान देने से यह सिद्धांत पुष्ट होता है कि राजा भोज का नाम कहीं पीछे से न मिलाया गया हो। जैसे,—"जनमी गोरी तू जेसलमेर"; "गोरड़ी जेसलमेर की"। आबू के परमार भी राजपूताने में फैले हुए थे। अतः राजमती का उनमें से किसी सरदार की कन्या होना भी संभव है। पर भोज के अतिरिक्त और भी नाम इसी प्रकार जोड़े हुए मिलते हैं—जैसे, 'माघ अचारज, कवि कालिदास'।

जैसा पहले कह आए हैं, अजमेर के चौहान राजा बीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) बड़े वीर और प्रतापी थे और उन्होंने मुसलमानों के विरुद्ध कई चढ़ाइयाँ की थीं और कई प्रदेशों को मुसलमानों से खाली कराया था। दिल्ली और हाँसी के प्रदेश इन्हीं ने हाँसी के भीतर मिलाए थे। इनके वीरचरित का बहुत कुछ वर्णन इनके राजकवि सोमदेव-रचित "ललितविग्रहराज नाटक" (संस्कृत) में मिलता है जिसका कुछ अंश बड़ी बड़ी शिलाओं पर खुदा हुआ मिला है और राजपूताना म्यूजियम में सुरक्षित है। पर 'नाल्ह' के इस बीसलदेवरासो में, जैसा कि होना चाहिए था, न तो उक्त वीर राजा की ऐतिहासिक चढ़ाइयों का वर्णन है, न उसके शौर्य-पराक्रम का। शृंगार रस की दृष्टि से विवाह और रूठकर विदेश जाने का (प्रोषितपतिका के वर्णन के लिये) मनमाना वर्णन है। अतः इस छोटी सी पुस्तक को बीसलदेव ऐसे वीर का 'रासो' कहना खटकता है। पर जब हम देखते हैं कि यह कोई काव्यग्रंथ नहीं है केवल गाने के लिये रचा गया था तो बहुत कुछ समाधान हो जाता है।

भाषा की परीक्षा करके देखते हैं तो उसमें मारवाड़ी और राजस्थानी का पूरा मेल पाया जाता है। जैसे, सूकइ छै (=सूखता है), पाटण थी (=पाटन से), भोज तणा (=भोज का), खंड खंडरा (=खंड खंड का) इत्यादि। गुजराती का मेल भी कहीं कहीं है। भाषा की प्राचीनता पर विचार करने के पहले यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि गाने की चीज होने के कारण इसकी भाषा में

समयानुसार बहुत कुछ फेरफार होता आया है। पर लिखित रूप में रक्षित होने के कारण इसका पुराना ढाँचा बहुत कुछ बचा हुआ है। उदाहरण के लिये—मेलन = मिलाकर, जोड़कर। चितह = चित्त में। रणि = रण में। प्रापिजइ = प्राप्त करें। ईणी विधि = इस विधि। ईसउ = ऐसा। इसी प्रकार 'नयर' (नगर), 'पसाउ' (प्रसाद), 'पयोहर' (पयोधर) आदि प्राकृत शब्द भी हैं जिनका प्रयोग कविता में अपभ्रंश-काल से लेकर पीछे तक होता रहा।

आए हुए कुछ फारसी, अरबी, तुरकी शब्दों की ओर भी ध्यान जाता है। जैसे, महल, इनाम, नेजा, ताजनो (ताजियाना), चाबुक आदि। जैसा कहा जा चुका है, पुस्तक की भाषा में फेर फार अवश्य हुआ है अतः ये शब्द पीछे से मिले भी हो सकते हैं और कवि द्वारा व्यवहृत भी। कवि के समय से पहले ही पंजाब में मुसलमानों का प्रवेश हो गया था और मुसलमान इधर उधर जीविका के लिये फैलने लगे थे। अतः ऐसे साधारण शब्दों का प्रचार कोई आश्चर्य की बात नहीं। बीसलदेव के सरदारों में ताजुद्दीन मियाँ भी मौजूद हैं—

महल पलाण्यो ताजदीन।
खुरसाणी चढ़ि चाल्यो गोंड़॥

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार यह पुस्तक न तो वस्तु के विचार से और न भाषा के विचार से अपने असली और मूल रूप में कही जा सकती है। रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने इसे हम्मीर के समय की रचना कहा है (राजपूताने का इतिहास, भूमिका पृष्ठ १९)। नरपति नाल्ह की पोथी का विकृत रूप यह अवश्य है जिसके आधार पर हम भाषा और साहित्य संबंधी कई तथ्यों पर पहुँचते हैं। पहली बात ध्यान देने की यह है कि राज-पूताने के एक भाट का विशुद्ध राजस्थानी में न लिखकर ब्रज या हिंदी में लिखने का प्रयत्न करना। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि प्रादे-शिक बोलियों के साथ साथ ब्रज या मध्य देश की भाषा का आश्रय

लेकर एक सामान्य साहित्यिक भाषा भी स्वीकृत हो चुकी थी जो चारणों के बीच पिंगल भाषा के नाम से पुकारी जाती थी। शुद्ध राजस्थानी भाषा का अपभ्रंश के योग से जो साहित्यिक रूप था वह डिंगल कहलाता था। हिंदी-साहित्य के इतिहास में हम केवल पिंगल भाषा में लिखे ग्रंथों का ही विचार कर सकते हैं। दूसरी बात जो कि साहित्य से संबंध रखती है वीर और शृंगार का तारतम्य है। इस ग्रंथ में शृंगार की ही प्रधानता है, वीर रस का किंचित् आभास मात्र है। संयोग और वियोग के गीत ही कवि ने गाए हैं।

(३) चंद बरदाई (संवत् ११२५—१२४९)—यही हिंदी का प्रथम महाकवि माना जाता है और इसका पृथ्वीराजरासो हिंदी का प्रथम महाकाव्य है। चंद दिल्ली के अंतिम हिंदू सम्राट् महाराज पृथ्वीराज के सामंत और राजकवि थे। इससे इनके नाम में भावुक हिंदुओं के लिये एक विशेष प्रकार का आकर्षण है। ये भट्ट जाति के जगात नामक गोत्र के थे। इनके पूर्वजों की भूमि पंजाब थी जहाँ लाहौर में इनका जन्म हुआ था। ऐसा कहा जाता है कि इनका और महाराज पृथ्वीराज का जन्म एक ही दिन हुआ था और दोनों ने एक ही दिन यह संसार भी छोड़ा था। ये महाराज पृथ्वीराज के राजकवि ही नहीं, उनके सखा और सामंत भी थे, तथा षड्भाषा, व्याकरण, काव्य, साहित्य, छंदःशास्त्र, ज्योतिष, पुराण, नाटक अनेक विद्याओं में पारंगत थे। इन्हें जालंधरी देवी का इष्ट था जिनकी कृपा से ये अदृष्ट-काव्य भी कर सकते थे। इनका जीवन पृथ्वीराज के जीवन के साथ ऐसा मिला जुला था कि अलग नहीं किया जा सकता। युद्ध में, आखेट में, सभा में, यात्रा में ये सदा महाराज के साथ रहते थे और जहाँ जो बातें होती थीं सब में सम्मिलित रहते थे।

पृथ्वीराजरासो ढाई हजार पृष्ठों का बहुत बड़ा ग्रंथ है जिसमें ६९ समय (सर्ग या अध्याय) हैं। प्राचीन समय में प्रचलित

प्राय: सब छंदों का व्यवहार हुआ है—मुख्य छंद हैं, कवित्त (छप्पय), दूहा, तोमर, त्रोटक, गाहा और आर्या। जैसे कादंबरी के संबंध में प्रसिद्ध है कि उसका पिछला भाग बाण के पुत्र ने पूरा किया है वैसे ही रासो के पिछले भाग का भी चंद के पुत्र जल्ह द्वारा पूर्ण किया जाना कहा जाता है। रासो के अनुसार जब शहाबुद्दीन गोरी पृथ्वीराज को कैद करके गजनी ले गया तब कुछ दिनों पीछे चंद भी वहीं गए। जाते समय कवि ने अपने पुत्र जल्ह के हाथ में रासो की पुस्तक देकर उसे पूर्ण करने का संकेत किया। जल्ह के हाथ में रासो के सौंपे जाने और उसके पूरे किए जाने का उल्लेख रासो में है—

पुस्तक जल्हन हत्थ दै चलि गज्जन नृप काज।

* * * *

रघुनाथचरित हनुमंतकृत भूप भोज उद्धरिय जिमि।
पृथिराज सुजस कवि चंद कृत चंद नंद उद्धरिय तिमि॥

पृथ्वीराजरासो में आबू के यज्ञकुंड से चार क्षत्रिय कुलों की उत्पत्ति तथा चौहानों के अजमेर में राज्यस्थापन से लेकर पृथ्वीराज के पकड़े जाने तक का सविस्तर वर्णन है। इस ग्रंथ के अनुसार पृथ्वीराज अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर के पुत्र और अर्णोराज के पौत्र थे। सोमेश्वर का विवाह दिल्ली के तुँवर (तोमर) राजा अनंगपाल की कन्या से हुआ था। अनंगपाल की दो कन्याएँ थीं—सुंदरी और कमला। सुंदरी का विवाह कन्नौज के राजा विजयपाल के साथ हुआ और इस संयोग से जयचंद राठौर की उत्पत्ति हुई। दूसरी कन्या कमला का विवाह अजमेर के चौहान सोमेश्वर के साथ हुआ जिनके पुत्र पृथ्वीराज हुए। अनंगपाल ने अपने नाती पृथ्वीराज को गोद लिया जिससे अजमेर और दिल्ली का राज्य एक हो गया। जयचंद को यह बात अच्छी न लगी। उसने एक राजसूय यज्ञ करके सब राजाओं को यज्ञ के भिन्न भिन्न कार्य करने के लिये निमंत्रित किया और इस यज्ञ के साथ ही अपनी कन्या संयोगिता का स्वयंवर रचा। राजसूय यज्ञ

में सब राजा आए पर पृथ्वीराज नहीं आए। इस पर जयचंद ने चिढ़कर पृथ्वीराज की एक स्वर्णमूर्ति द्वारपाल के रूप में द्वार पर रखवा दी। संयोगिता का अनुराग पहले से ही पृथ्वीराज पर था, अतः जब वह जयमाल लेकर रंगभूमि में आई तब उसने पृथ्वीराज की मूर्ति को ही माला पहना दी। इस पर जयचंद ने उसे घर से निकालकर गंगा किनारे के एक महल में भेज दिया। इधर पृथ्वीराज के सामंतों ने आकर यज्ञ-विध्वंस किया। फिर पृथ्वीराज ने चुपचाप आकर संयोगिता से गांधर्व-विवाह किया और अंत में वे उसे हर ले गए। रास्ते में जयचंद की सेना से बहुत युद्ध हुआ पर संयोगिता को लेकर पृथ्वीराज कुशलपूर्वक दिल्ली पहुँच गए और वहाँ भोगविलास में ही उनका सारा समय बीतने लगा, राज्य की रक्षा का ध्यान न रह गया। बल का बहुत कुछ ह्रास तो जयचंद तथा और राजाओं के साथ लड़ते लड़ते हो चुका था और बड़े बड़े सामंत मारे जा चुके थे। अच्छा अवसर देख शहाबुद्दीन चढ़ आया पर हार गया और पकड़ा गया। पृथ्वीराज ने उसे छोड़ दिया। वह बार बार चढ़ाई करता रहा और अंत में पृथ्वीराज पकड़कर गजनी भेज दिए गए। कुछ काल पीछे कवि चंद भी गजनी पहुँचे। एक दिन चंद के इशारे पर पृथ्वीराज ने शब्दवेधी बाण द्वारा शहाबुद्दीन को मारा और फिर दोनों एक दूसरे को मारकर मर गए। शहाबुद्दीन और पृथ्वीराज के वैर का कारण यह लिखा गया है कि शहाबुद्दीन अपने यहाँ की एक सुंदरी पर आसक्त था जो एक दूसरे पठान सरदार हुसेनशाह को चाहती थी। जब ये दोनों शहाबुद्दीन से तंग हुए तब हारकर पृथ्वीराज के पास भाग आए। शहाबुद्दीन ने पृथ्वीराज के यहाँ कहला भेजा कि उन दोनों को अपने यहाँ से निकाल दो। पृथ्वीराज ने उत्तर दिया कि शरणागत की रक्षा करना क्षत्रियों का धर्म है, अतः उन दोनों की हम बराबर रक्षा करेंगे। इसी वैर से शहाबुद्दीन ने दिल्ली पर चढ़ाइयाँ कीं। यह तो पृथ्वीराज का मुख्य चरित्र हुआ। इसके अतिरिक्त बीच बीच

में बहुत से राजाओं के साथ पृथ्वीराज के युद्ध और अनेक राज-कन्याओं के साथ विवाह की कथाएँ रासो में भरी पड़ी हैं।

ऊपर लिखे वृत्तांत और रासो में दिए हुए संवतों का ऐतिहासिक तथ्यों के साथ मेल न खाने के कारण अनेक विद्वानों ने पृथ्वीराजरासो के पृथ्वीराज के समकालीन किसी कवि की रचना होने में संदेह किया है और उसे १६वीं शताब्दी में लिखा हुआ एक जाली ग्रंथ ठहराया है। रासो के भीतर चंगेज तैमूर आदि कुछ पीछे के नाम आने से यह संदेह और भी पुष्ट किया गया है। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा रासो में वर्णित घटनाओं तथा संवतों को बिलकुल भाटों की कल्पना मानते हैं। पृथ्वीराज की राजसभा के काश्मीरी कवि जयानक ने संस्कृत में 'पृथ्वीराज विजय' नामक एक काव्य लिखा है जिसमें शहाबुद्दीन की पहली चढ़ाई तक का वर्णन है। उसमें दिए हुए संवत् तथा घटनाएँ ऐतिहासिक खोज के अनुसार ठीक ठहरती हैं। उसमें पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूरदेवी लिखा है जिसका समर्थन हाँसी के शिलालेख से भी होता है। उक्त ग्रंथ अत्यंत प्रामाणिक और समकालीन रचना है। उसके अनुसार सोमेश्वर का दिल्ली के तोमर राजा अनंगपाल की पुत्री से विवाह होना और पृथ्वीराज का अपने नाना की गोद जाना, राणा समरसिंह का पृथ्वीराज का समकालीन होना और उनके पक्ष में लड़ना आदि बातें असंगत सिद्ध होती हैं। इसी प्रकार आबू के यज्ञ से चौहान आदि चार अग्निकुलों की उत्पत्ति की कथा भी शिलालेखों की जाँच करने पर कल्पित ठहरती है, क्योंकि इनमें से सोलंकी आदि कई कुलों के प्राचीन राजाओं के शिलालेख मिले हैं जिनमें वे चंद्रवंशी आदि कहे गए हैं, अग्निकुल का कहीं कोई उल्लेख नहीं है।

चंद ने पृथ्वीराज का जन्मकाल संवत ११११५ में, दिल्ली गोद जाना ११२२ में, कन्नौज जाना ११५१ में और शहाबुद्दीन के साथ युद्ध ११५८ में लिखा है। पर शिलालेखों और दानपत्रों में जो

संवत् मिलते हैं उनके अनुसार रासो में दिए हुए संवत् ठीक नहीं हैं। अब तक ऐसे दानपत्र वा शिलालेख जिनमें पृथ्वीराज, जयचंद और परमर्दिदेव (महोबे के राजा परमाल) के नाम आए हैं इस प्रकार मिले हैं—

पृथ्वीराज के—४ जिनके संवत् १२२४ और १२४४ के बीच में हैं। जयचंद के—१२ जिनके संवत् १२२४ और १२४३ के बीच में हैं। परमर्दिदेव के—६ जिनके संवत् १२२३ और १२५८ के बीच में हैं। इनमें से एक संवत् १२३९ का है जिसमें पृथ्वीराज और परमर्दिदेव (राजा परमाल) के युद्ध का वर्णन है।

इन संवतों से पृथ्वीराज का जो समय निश्चित होता है उसकी सम्यक् पुष्टि फारसी तवारीखों से हो जाती है। फारसी इतिहासों के अनुसार शहाबुद्दीन के साथ पृथ्वीराज का प्रथम युद्ध ५८७ हिजरी (वि० सं० १२४८—ई० सन् ११९१) में हुआ। अत: इन संवतों के ठीक होने में किसी प्रकार का संदेह नहीं।

पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने रासो के पक्ष-समर्थन में इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि रासो के सब संवतों में यथार्थ संवतों से ९०-९१ वर्ष का अंतर एक नियम से पड़ता है। उन्होंने यह विचार उपस्थित किया कि यह अंतर भूल नहीं है, बल्कि किसी कारण से रखा गया है। इसी धारणा को लिए हुए उन्होंने रासो के इस दोहे को पकड़ा।

एकादस से पंचदह विक्रम साक अनंद।
तिहि रिपुजय पुरहरन को भए पृथिराज नरिंद ॥

और "विक्रम साक अनंद" का अर्थ किया—अ = शून्य और नंद = ९ अर्थात् ९० रहित विक्रम संवत्। अब क्यों ये ९० वर्ष घटाए गए इसका वे कोई उपयुक्त कारण नहीं बता सके। नंद-वंशी शूद्र थे इसलिए उनका राजत्वकाल राजपूत भाटों ने निकाल दिया। इस प्रकार की विलक्षण कल्पना कर वे रह गए। पर इन कल्पनाओं से किसी प्रकार समाधान नहीं होता। आज तक

और कहीं प्रचलित संवत् में से कुछ काल निकालकर संवत् लिखने की प्रथा नहीं पाई गई। फिर यह विचारणीय अवश्य है कि जिस किसी ने प्रचलित विक्रम संवत् में से ९०-९१ वर्ष निकालकर पृथ्वीराज-रासो में संवत् दिए हैं उसने क्या ऐसा जान बूझकर किया है अथवा धोखे या भ्रम में पड़कर। ऊपर जो दोहा उद्धृत किया गया है उसमें 'अनंद' के स्थान पर कुछ लोग 'अनिंद' पाठ का होना अधिक उपयुक्त मानते हैं। अर्थात् इससे यह भाव स्पष्ट हो जाता है कि यह विक्रम का अनिंद्य साका है। इसी रासो में एक दोहा यह भी मिलता है—

एकादस सै पंचदह विक्रम जिम ध्रमसुत्त।
त्रतिय साक प्रथिराज कौ लिष्यौ विप्र गुन गुप्त॥

इससे भी नौ के गुप्त करने की बातं कही गई है, पर कितने में से नौ कम करने से यह तीसरा शक बनता है यह नहीं कहा है और न यही कहीं कहा है कि इस तीसरे शक के चलाने का क्या कारण है।

पर बात संवत् ही तक नहीं है। इतिहास-विरुद्ध कल्पित घटनाएँ जो भरी पड़ी हैं उनके लिए क्या कहा जा सकता है? माना कि रासो इतिहास नहीं है, काव्यग्रंथ है, पर काव्यग्रंथों में सत्य घटनाओं में बिना किसी प्रयोजन के उलट-फेर नहीं किया जाता। जयानक का पृथ्वीराजविजय भी तो काव्यग्रंथ ही है—फिर उसमें क्यों घटनाएँ और नाम ठीक ठीक हैं? इस संबंध में इसके अतिरिक्त और कुछ कहने की जगह नहीं कि ये सब गड़बड़ अंश प्रक्षिप्त हैं और पृथ्वीराजरासो के नाम से प्रसिद्ध जो ग्रंथ आजकल मिलता है उसमें बहुत ही अल्प अंश चंदकृत हो सकता है।

भाषा की कसौटी पर यदि ग्रंथ को कसते हैं तो और भी निराश होना पड़ता है क्योंकि वह बिल्कुल बेठिकाने है—उसमें व्याकरण आदि की कोई व्यवस्था नहीं है। दोहों की और कुछ कुछ कवित्तों (छप्पयों) की भाषा तो ठिकाने की है, पर त्रोटक आदि छोटे छंदों में तो कहीं कहीं अनुस्वारांत शब्दों की ऐसी मनमानी भरमार है जैसे किसी ने संस्कृत-प्राकृत की नकल की हो। कहीं

कहीं तो भाषा आधुनिक साँचे में ढली सी दिखाई पड़ती है, क्रियाएँ नए रूपों में मिलती हैं। पर साथ ही कहीं कहीं भाषा अपने असली प्राचीन साहित्यिक रूप में भी पाई जाती है जिसमें प्राकृत और अप-भ्रंश शब्दों के साथ साथ शब्दों के रूप और विभक्तियों के चिह्न पुराने ढंग के हैं। इस दशा में भाटों के इस वाग्जाल के बीच कहाँ पर कितना अंश असली है इसका निर्णय असंभव होने के कारण यह ग्रंथ न तो भाषा के इतिहास के और न साहित्य के इतिहास के जिज्ञासुओं के काम का रह गया है, पर इसमें कोई संदेह नहीं है कि पृथ्वीराज के समय में चंद नाम का राजकवि था और उसने सुंदर छंदों में ग्रंथ लिखे थे। पृथ्वीराज विजय के पाँचवें सर्ग में विग्रह-राज के पुत्र चंद्रराज का वर्णन करता हुआ जयानक लिखता है—

तनयश्चन्द्रराजस्य चंद्रराज इवाभवत्।
संग्रहं यस्सुवृत्तानां सुवृत्तानामिव व्यधात्॥ १५॥

अर्थात् उसका पुत्र ग्रंथकार चंद्रराज के समान सुवृत्तों (अच्छे छंदों और आचरणशील पुरुषों) का संग्रह करनेवाला हुआ। इस श्लोक की टीका करते हुए सोलराज का पौत्र तथा तोनराज का पुत्र जोनराज, जो कश्मीर में जैनउल आबिदीन चौथे के समय (सं० १४७४-१५२४) में हुआ था, यह लिखता है—

चंद्रराजाख्यश्चन्द्रो ग्रंथकारस्य इवास्य पुत्रः चन्द्रराजाख्यो भवत् शोभमानां वृत्तानां वसन्ततिलकादीनामिव सुवृत्तानां सदाचाराणां पुरुषाणां यस्संग्रहमकरोत्। इससे स्पष्ट है कि चंद्रराज ग्रंथकार ने सुललित छंदों में ग्रंथ रचे थे। संभवतः यह हमारा चंदबरदाई ही था जो जयानक का समकालीन था। किसी दूसरे चंद्र से इसका तात्पर्य नहीं ज्ञात होता। यदि यह अनुमान ठीक है तो चंदबरदाई ने कई ग्रंथ लिखे होंगे। वे सब अब या तो काल-कवलित हो गए या कहीं छिपे पड़े होंगे।

महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री ने सन् १९०९ से १९१३ तक राजपूताने में प्राचीन ऐतिहासिक काव्यों की खोज में तीन

यात्राएँ की थीं। उनका विवरण बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी ने छापा है। उस विवरण में पृथ्वीराजरासो के विषय में बहुत कुछ लिखा है। उनका कहना है कि कोई कोई तो चंद के पूर्व पुरुषों को मगध से आया हुआ बताते हैं, पर पृथ्वीराजरासो में लिखा है कि चंद का जन्म लाहौर में हुआ था। कहते हैं कि चंद पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के समय में राजपूताने में आया और पहले सोमेश्वर के दरबार और पीछे से पृथ्वीराज का मंत्री, सखा और राजकवि हुआ। पृथ्वीराज ने नागौर बसाया था और वहीं बहुत सी भूमि चंद को दी थी। शास्त्रीजी का कहना है कि नागौर में अब तक चंद के वंशज रहते हैं। इसी वंश के वर्तमान प्रतिनिधि नानूराम भाट से शास्त्रीजी की भेंट हुई, इससे उन्हें चंद का वंश-वृक्ष प्राप्त हुआ जो इस प्रकार है—

चैतचंद
बेनीचंद
गोकुलचंद
वसुचंद
लेखचंद
कर्णचंद
गुणगंगचंद
मोहनचंद
जगन्नाथ
रामेश्वर
गंगाधर
भगवानसिंह
कर्मसिंह
माथुरसिंह
वाग्गोविंदसिंह
मानसिंह
विजयसिंह
आनन्दरायजी
आसोजी
गुमानजी
कर्णदान
जैथमलजी
वीरचंदजी
घमंडीरामजी
बुधजी
वृद्धिचंदजी
नानराम
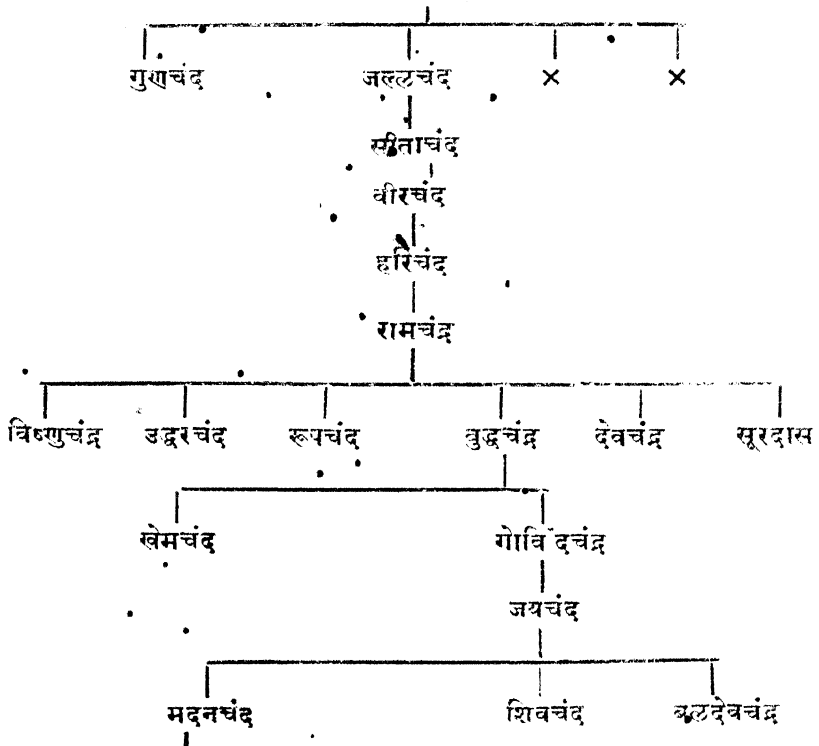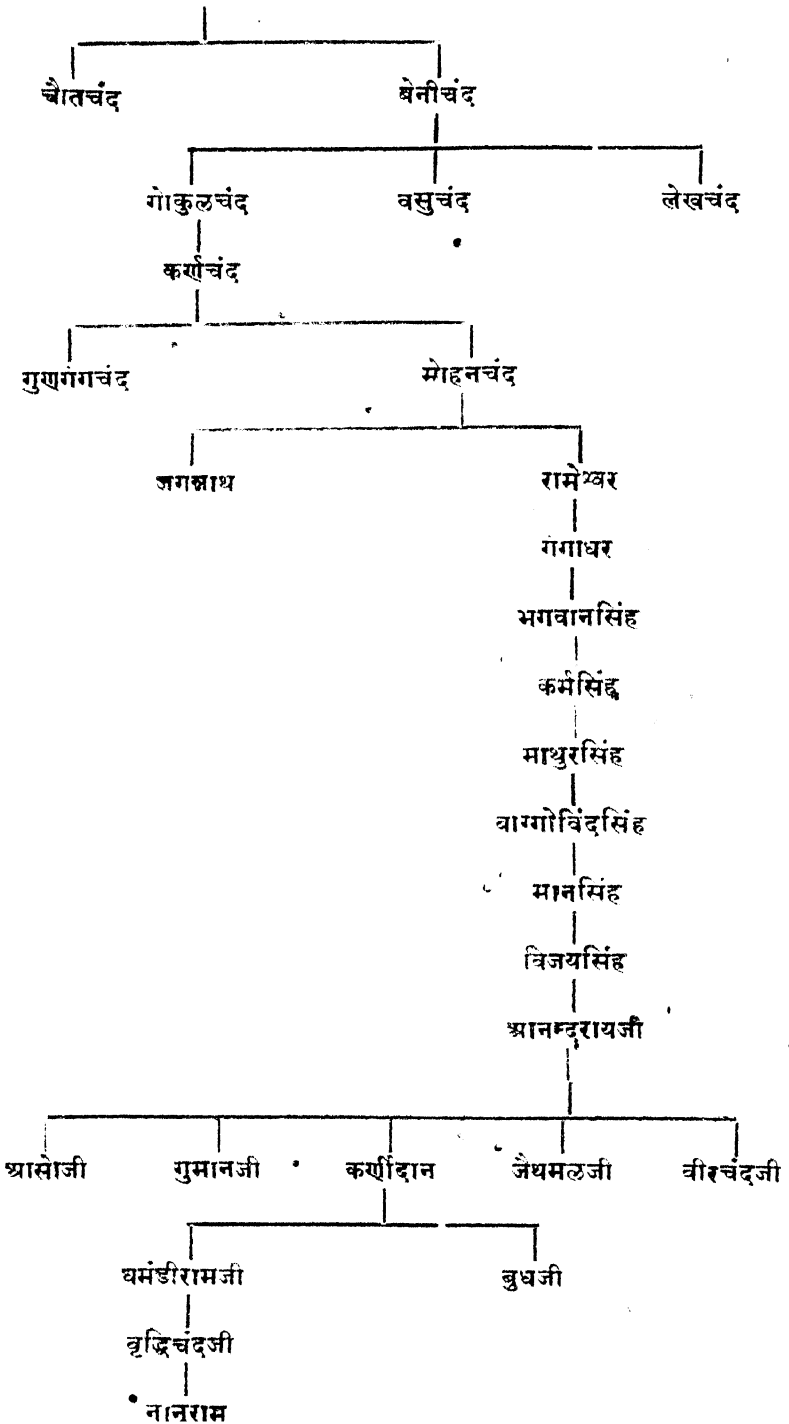
नानूराम का कहना है कि चंद के चार लड़के थे इनमें से एक मुसलमान हो गया। दूसरे का कुछ पता नहीं, तीसरे के वंशज अंभोर में जा बसे और चौथे जल्ह का वंश नागौर में चला। पृथ्वी-राजरासो में चंद के लड़कों का उल्लेख इस प्रकार है—

दहति पुत्र कविचंद के सुंदर रूप सुजान।
इक्क जल्ह गुन बावरो, गुन समंद ससिमान॥

पृथ्वीराजरासो में कवि चंद के दसों पुत्रों के नाम दिए हैं। 'सूरदास' की साहित्यलहरी में एक पद ऐसा आया है जिसमें उन्होंने अपनी वंशावली दी है। वह पद यह है—

प्रथम ही प्रथु यज्ञ तें भे प्रगट अद्भुत रूप।
ब्रह्मराव विचारि ब्रह्मा राखु नाम अनूप॥
पान पय देवी दियो सिव आदि सुर सुख पाय।
कह्यो दुर्गा पुत्र तेरो भयो अति अधिकाय॥
पारि पायन सुरन के सुर सहित अस्तुति कीन।
तासु वंस प्रसंस में भौ चंद चारु नवीन॥
भूप पृथीराज दीन्हों तिन्हे ज्वाला देस।
तनय ताके चार कीनो प्रथम आप नरेस॥
दूसरे गुनचंद ता सुत सीलचंद सरूप।
वीरचंद प्रताप पूरन भयो अद्भुत रूप॥
रन्तभार हमीर भूपति संगत खेलत जाय।
तासु वंस अनूप भो हरिचंद अति विख्याय॥
आगरे रहि गोपचल में रहौ ता सुत वीर।
पुत्र जनमे सात ताके महाभट गंभीर॥
कृष्णचंद्र उदारचंद्र जु रूपचंद सुभाइ।
बुद्धिचंद प्रकाश चौथे चंद भे सुखदाइ॥
देवचंद प्रबोध संसृतचंद ताको नाम।
भयो सप्तो नाम सूरजचंद मंद निकाम॥

इन दोनों वंशावलियों के मिलाने पर मुख्य भेद यह प्रकट होता है कि नानूराम ने जिनको जल्लालचंद की वंश-परम्परा में बताया है सूरदासजी उन्हें गुणचंद की परम्परा में कहते हैं। बाकी नाम प्राय: मिलते हैं।

नानूराम का कहना है कि चंद ने तीन या चार हजार श्लोक-संख्या में अपना काव्य लिखा था। उसके पीछे उनके लड़के ने अंतिम दस समयों को लिखकर उस ग्रंथ को पूरा किया। पीछे से और लोग उसमें अपनी रुचि अथवा आवश्यकता के अनुसार जोड़ तोड़ करते रहे। अंत में अकबर के समय में इसने एक प्रकार से परिवर्तित रूप धारण किया। ऐसी किंवदंती है कि अकबर ने इस प्रसिद्ध ग्रंथ को सुना था। उसके इस प्रकार उत्साह-प्रदर्शन पर, कहते हैं कि, उस समय रासो नामक अनेक ग्रंथों की रचना की गई। जो कुछ हो, नानूराम का कहना है कि असली पृथ्वीराज-रासो की प्रतिलिपि मेरे पास है। उसने महोबा समय की नकल महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री को दी थी। इस समय को उन्होंने अपनी रिपोर्ट में ज्यों का त्यों छाप दिया है। हम इसकी प्रतिलिपि नीचे देते हैं जिसमें यह विदित हो जाय कि जिसको असली रासो कहते हैं वह कैसा है—

दुहरा (दोहा)

मोहब राज चंदेल कर। वोहो बलवंत राजान ॥
पंचस दिप के प्रचंड। महावीर बलवान ॥ १ ॥

छंद पधधरी

मोहबे राज [illegible]देल किन। घामली भाग बिसराम लीन ॥
आरंभ घावना किया संज। निरमला निरञन भाग भॅंज ॥२॥
तहाँ देषरूप दरषत अनूप। देषे बिसित सुगंद चूप ॥
नौ नौ प्रकास फुलवार रूप। आरंब पूबनादेष भूप ॥ ३ ॥

मकान रच्यां च्यार घायला पूर । अत्यन्त महा विकराल सूर ॥
अतीत राय अधभुत चहुँवांन । लिंगरि चंड पंडिर नान ॥ ४ ॥
तिन पास च्यार पिज मत्त होय । तवि बाग बनाई धके जोय ॥
तहां भाग मंझ परवेश कीन । सुलतांन मंझ सुगंद लीन ॥ ५ ॥
रहियत्त रूषवारा बागवान । देषे सांवत बरजे तमाम ।
उतरो नहीं इत बाग मांहि । चंदेल राय कौ हुकम नांहि ॥ ६ ॥
हम बागवान बर्जत तोय । इन बाग मंझ उतरे न कोय ॥
इकहुँ सावंत बोलत बचन । मोमती बरज इक रंह बरन ॥ ७ ॥
मोदी लिथांन प्रथीराज भूप । सिंभरि सिंघ ना मोह दूत ॥
मोह सिह घाव चालत्त राह । उज्जार भाग कौ करा नाह ॥ ८ ॥
उतरे जहां बादर्ल अवास । पुक्कार तोयना राय पास ॥
चालत नही दिन च्यार हेक । तुम राय जाय बल करभि सेष ॥ ९ ॥
तब बागवान उच्चरत बैन । उन दई बान कावल केन ॥
परसुनी गालु चहुवानं कंन । पग तोल सिस मेल्यो भवंन ॥ १० ॥
तब चलि मालनि करि पुकार । चंदेल राय राजा मँझार ॥
चंदेल राय तायं कियाद् । मोय संमय मारकिना विषाद ॥ ११ ॥
चंदेल राय उच्चरत श्रेम । मोहराज मँह कहोक कह केम ॥
ऐसा जुकूँ बलवंत सुर । फुरमाय राय बोलब हजूर ॥ १२ ॥
कहियत्त मालनि महरवांन । चहुँवांन वंस मैं दिलीथांन ॥
मादल महल में बसे जाय । पिजमत्तदार समुसियत धाय ॥ १३ ॥
कर हुँकम राय पठाय दूत । पच्चिसूर के के हरिय कूंत ॥
चाले सूदूत भागन अद्रोव । जांनंत एक सांवंत भेव ॥ १४ ॥
पठे सुजाय बागन मंझार । पिजमत्त धाव सांवंत सार ॥
ललकार करन पच्चिसतांम । सुन उठे च्यार सांवत नाम ॥ १५ ॥
धावना पूर अधभुत अपार । छोड़े विसार पिजमत्तदार ॥
कर कोप कन बोले चहुवांन । धिरकार तोय छत्रि प्रवांन ॥ १६ ॥
धादला हबरामिन कन्न । धिक्कार तोय भाता संमन ॥
मुज पास आव देहत्त वीर । जिवत्त जाय तुम जवा भीर ॥ १७ ॥

धिक्कार तोय राजन समेत । तोय राय तेय सिर रेत रेत ॥
अब आव पासमोय करहु हत्थ । तुम संग किते छत्रि सुअत्थ ॥१८॥
षगतोल बोल चांवड राय । पंडिर राय छत्रि सवाय ॥
लिङ्गरि अंग बोहोत्तरिय धाव । अतित राय संग्राम भाव ॥ १९ ॥
सुवच्यार घात्र को पे सवाय । समसेर आँन कर पंफलाय ॥
पच्चिस मार पच्चास दिठ । पच्चास मार इक भाजरिठ ॥ २० ॥
इक सौ मार दोय सौ जुआय । दोय सौ जो मार दस सस्र आव ॥
राय संग लोक ग्यारे हजार । पीछले लोक को कौन पार ॥ २१ ॥
संग्राम मंडेपुर मंझार । सांवत फौज पर षाग झार ॥ २२ ॥

चौपई

एक पहुर में सांवत सारे । लोक हजार पांच तहँ मारे ॥
ये सांवत पृथिराज पियारे । केते ईदल सँकर बुहारे ॥ २३ ॥
मारे लोक हजार अठारा । उभय हूर इकवीस सिंगारा ॥
दोउ घरिय पच्छिमसूँ पूं गे । धूम ध्यान के चुपट पगे ॥२४॥
तापिछ लोकच्यार दस मारे । पिछले पहुर पचास सिंगारें ॥
तब दल थंभ चंदेल जुहारे । सांवत युगे महल मंझारे ॥२५॥
महलन मध्ये घाव सिवाये । फते २ करू सांमत आये ॥

कवत (छप्पय)

लूटन नगर मोहबो आँन चहुँवांन दी रायत ।
मोह चित्त आनन्द जित चहुँवान न पावत ॥
पुलरे चहुवाँन जान करब अरुपडव ।
सिरजीत अ प्रबल मारि जिसे नव पंडव ॥
विन साँवत मनुसूर समद से नर पट हंके ।
मझदेश मारवि नांव सँमर सूँ सूके ॥
चक्रवंत चहुँवाँन तास घर छत्रि इधक नर ।
सिष्ट सितसा पुरस भव में राजन् इमस भर ॥
मोहौव मझार संग्राम सुध इधक इधक जस जस उचर ।
साँवत्र इस प्रथिराजरा भरद्दाय चंद किरतकर ॥ २६ ॥

दोहरा (दोहा)

पुनिह बात भ्रातन द्रिगन उपकरत अम्भेर।
मांनूं क्रोध में कोप कर कर में कर समसेर ॥

छंदजात भुजंगी

सिर कोपियो राय चंदेल भ्रांत। लंघुभ्रत किमिर चाले सुरांत॥
अस बंस छतीस संग्राम सुरं। महाभूप साथे मुगटं हजूरं॥ २८॥
तहं संग सूर असुरं अपारं। महाभारथि श्रेम नासूर भारं॥
तिहँ जात कुल नाम सांवत होई। मह प्रकट नरमिरभ ताल जोई॥
तहं जुद्ध संग्राम सांवत प्रवान। येहि पौह मलिरना कौन ज्यांन॥२९॥
तिंह मारषग्गं करूं टूक टुक्कं। नहिं औरकं मीर ना नाह ढक्कं॥३०॥
अनि क्रोध कं कोप फौजां चीलं। जिमि इंद्र घटान सावन कलानं॥
अगलान पानि पिछलान कांय। तिह मंन संग्राम भारत्थ जोय॥ ३१॥
तह चलिय मालहे माल डंडे। तहाँ मार बलवांन किय पंड पंडे॥
असि भिद्ध फौज चलाई तहारं। तपे जो मना जोर मोहाल भारं॥३२॥
तिंह मोहोब बान कब्बान कस्ते। षगब्बार तो वार सोभा रसस्ते॥
हस्ती घूमते चले फौजान मध्धं। तुरि पीठ पांषर कसे तेग बध्धं॥३३॥
यहि विधना फौज सावंत घेरे। तहं लोक महलन को ओर दौरे॥
तिह राय नोनंम भारत्थ होंई। महाभीर बलवान मरिया न सोई॥३४॥
महलां मंभ्क सांवत निचत्त सोही। मानों डरे नासक्त नासं महोही॥
तव उच्चरे भने भारत्थ राय। लघुभ्रात कुंजीत कहां दिस जायं॥३५॥
तुंजे मार षंगा धरां टूक डारे। मेरे भ्रांत निपंच दस सीस सिरे॥
असावान जवान भारत्थ उचारे। तुम लोक हजार पचास मारे॥३६॥
असा कौन बलवान मोय थान आवे। तुजे भावना भ्रांत भवना सिवावे॥
तुज सांमने मुज्ज सों पाव मंडं। तुज मार षगां करु पंड पंडं॥३७॥
ऐसो कौन बलवांन तुम कौन सूरं। तुम किसे ना पास छत्री हजूरं॥
वक बोल सांवंत वयने उचारं। मुझ राय चहुवांन नासूर भारं॥३८॥
मैहथा नहि दांन दिल्ली हजूरी। प्रथी राजगि पास षिजमत पूरि॥
तहा षरारे मह्या बैना बोले। मैहे ता सरूपं षग्ग तोले॥ ३९॥

तब होय सावँत क्रोधं अपारं। करे तोलवे चंद्र बेहे त्रिवारं॥
पग मेटिये घाव अनवार तेनं। तहाँ जुद्ध संग्राम नाकोड मंडनं॥४०॥
दल साम हहालिया सूरभिरं। मनु आप संग्राम सावंत थिरं॥
तिह मार सावँत अनन्न तोले। हहक्कार हक्कर भक्कार बोले॥४१॥
दले ऊलटे अेम सावंत आरं। तहां मार संग्राम सावँत जोरं॥
तबे चालियं वांन प्रवाँन बेनं। जिनू सामै है च्यार सावँत मेनं॥४२॥
दले टुक्क टुक्कं तिहां षाग भाटं। तहां चंड पंडिर चाले निहाटं॥
वहे च्यार तरवार एकै सीरिसि। इमे राय चहुवाँन अतीत सौसि॥४३॥
महा जुध्ध होपं संग्राम सूरं। तहां भुपिये आन आजेक सूरं॥
तहां सामिये कौन नामिर ढक्कं। महा भारथि तासकै कंठ सुक्कं॥४४॥
तनेगां आला बहु जुद्ध जियं। वहे फूल धारा मंनु बीजदीपं॥
तां समिय सूर अन्नेक हारे। यना च्यार खर्ब बहु लोक मारे॥४५॥
वहे रक्त नाला न दिजे मनिरं। भये जोगनि सट्ट त्रपत्र त्रमिरं॥
परे सुर गयंद सानेक वारि। सबे च्यार समसी सन्न्यास मारि॥४६॥
देवे सुरना हाथ भारत्थराई। तये राय नौ लोक भागे न जाई॥
जिनु मार षग्गां सभे दल्ल ढाई। महा भारथ षूब तरवार वाही॥४७॥
इमे पा छलि भौन भारत्थ जादे। तहाँ पांस संग्राम सावंत ठाढे।
जिनु मार षग्गां सबे दल्ल ढायौ। अनजस सामंत चंदेल गायौ।

पृथ्वीराजरासो का यह संदर्भ कहां तक असली है इसके विषय में कुछ कहना बड़ा कठिन है। यह नहीं बताया गया है कि यह असली रासो कागज, भोजपत्र अथवा किस चीज पर लिखा है, उसमें कोई लिपि-काल दिया है या नहीं और उसके अक्षर कैसे हैं। फिर महोबा समय की भाषा-शैली तथा शब्द-प्रयोगों को देखकर बहुत संदेह होता है। फिर यह भी बात विचारणीय है कि काशी-नागरीप्रचारिणी सभा ने पृथ्वीराजरासो का जो संस्करण निकाला है उसमें महोबा समय को संदिग्ध बताया गया है—उसके चंद के लिखे हुए या उसके आधार पर पुनः संकलित होने में संदेह प्रकट किया गया है। बंगाल की एशियाटिक सुसाइटो के पुस्त-

कालय में दो खंडों में पृथ्वीराजरासो की एक प्रति है। उसकी पुष्पिका में उसका रचयिता चंद बताया गया है। पर इस प्रति में और काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित प्रति में आकाश पाताल का अंतर है। एक खंड में महोबा युद्ध का वर्णन है और दूसरे खंड में संयोगिता-स्वयंवर की कथा है। पहले खंड को काशी-नागरीप्रचारिणी सभा ने परमालरासो के नाम से प्रकाशित किया है। दूसरे खंड का नाम पंगरासो रक्खा गया है, पर वह अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ। सारांश यह है कि अभी तक असली रासो का ठीक ठीक पता नहीं लगा है। जो ग्रंथ पृथ्वीराजरासो के नाम से प्रसिद्ध माना जाता है, उसमें प्रक्षिप्त अंश बहुत है और उसमें से असली अंश को अलग करना बहुत कठिन है। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि उसमें प्राचीन छंद वर्तमान हैं और उन्हें असली रासो का अंश मानना ठीक होगा। सबसे प्राचीन प्रति जो इस ग्रंथ की लिखी मिली है उसका लिपि-काल संवत् १६४२ है।

४—भट्ट केदार; मधुकर कवि (संवत् १२२४–१२४३) जिस प्रकार चंदबरदाई ने महाराज पृथ्वीराज को कीर्त्तिमान् किया है उसी प्रकार भट्ट केदार ने कन्नौज के सम्राट् जयचंद का गुन गाया है। रासो में चंद और भट्ट केदार के संवाद का एक स्थान पर उल्लेख भी है। भट्ट केदार ने 'जयचंदप्रकाश' नाम का एक महाकाव्य लिखा जिसमें महाराज जयचंद के प्रताप और पराक्रम का विस्तृत वर्णन था। इसी प्रकार का 'जयमयंकजसचंद्रिका' नामक एक बड़ा ग्रंथ मधुकर कवि ने भी लिखा था। पर दुर्भाग्य से ये दोनों ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं हैं। केवल इनका उल्लेख सिंघायच दयालदास कृत 'राठौड़ाँरी ख्यात' में मिलता है जो बीकानेर के राजपुस्तक-भांडार में सुरक्षित है। इस ख्यात में लिखा है कि दयालदास ने आदि से लेकर कन्नौज तक का वृत्तांत इन्हीं दोनों ग्रंथों के आधार पर लिखा है।

इतिहासज्ञ इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के आरंभ में उत्तर भारत के दो प्रधान साम्राज्य थे। एक तो गहरवारों (राठौरों) का विशाल साम्राज्य जिसकी राजधानी कन्नौज थी और जिसके अंतर्गत प्रायः सारा मध्य देश काशी से कन्नौज तक था और दूसरा चौहानों का जिसकी राजधानी दिल्ली थी और जिसके अंतर्गत दिल्ली से अजमेर तक का पश्चिमी प्रांत था। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों में गहरवारों का साम्राज्य अधिक विस्तृत, धन-धान्य सम्पन्न और देश के प्रधान भाग पर था। गहरवारों की दो राजधानियाँ थीं—कन्नौज और काशी। इसी से कन्नौज के गहरवार राजा काशिराज कहलाते थे। जिस प्रकार पृथ्वीराज का प्रभाव राजपूताने के राजाओं पर था उसी प्रकार जयचंद का प्रभाव बुंदेलखंड के राजाओं पर था। कालिंजर या महोबे के चंदेल राजा परमर्दिदेव (परमाल) जयचंद के मित्र या सामंत थे जिसके कारण पृथ्वीराज ने उन पर चढ़ाई की थी। चंदेल कन्नौज के पक्ष में दिल्ली के चौहान पृथ्वीराज से बराबर लड़ते रहे।

५—जगनिक (सं० १२३०)। ऐसा प्रसिद्ध है कि कालिंजर के राजा परमाल के यहाँ जगनिक नाम के एक भाट थे जिन्होंने महोबे के दो देशप्रसिद्ध वीरों—आल्हा और ऊदल (उदयसिंह)—के वीरचरित का विस्तृत वर्णन एक वीरगीतात्मक काव्य के रूप में लिखा था जो इतना सर्वप्रिय हुआ कि उसके वीरगीतों का प्रचार क्रमशः सारे उत्तरीय भारत में—विशेषतः उन सब प्रदेशों में जो कन्नौज साम्राज्य के अंतर्गत थे—हो गया। जगनिक के काव्य का आज कहीं पता नहीं है पर उसके आधार पर प्रचलित गीत हिंदी-भाषी प्रांतों के गाँव गाँव में सुनाई पड़ते हैं। ये गीत 'आल्हा' के नाम से प्रसिद्ध हैं और बरसात में गाए जाते हैं। गाँवों में जाकर देखिए तो मेघ-गर्जन के बीच में किसी अल्हैत के ढोल के गंभीर घोष के साथ यह वीर हुंकार सुनाई देगी—

बारह बरिस लै कूकर जीएं, औ तेरह लै जीएं सियार।
बरिस अठारह छत्री जीएं, आगे जीवन के धिक्कार॥

इस प्रकार पुस्तक के साहित्यिक रूप में न रहने पर भी जनता के कंठ में जगनिक के संगीत की वीरदर्पपूर्ण प्रतिध्वनि अनेक बल खाती हुई अब तक चली आ रही है। इस दीर्घ काल-यात्रा में उसका बहुत कुछ कलेवर बदल गया है। देश और काल के अनुसार भाषा में ही परिवर्त्तन नहीं हुआ है, वस्तु में भी बहुत अधिक परिवर्त्तन होता आया है। बहुत से नए अस्त्रों (जैसे, बंदूक, किरिच), देशों और जातियों (जैसे, फिरंगी) के नाम सम्मिलित हो गए हैं और बराबर होते जाते हैं। यदि यह ग्रंथ साहित्यिक प्रबंध-पद्धति पर लिखा गया होता तो कहीं न कहीं राजकीय पुस्तकालयों में इसकी कोई प्रति रक्षित मिलती। पर यह गाने के लिये ही रचा गया था इससे पंडितों और विद्वानों के हाथ इसकी रक्षा की ओर नहीं बढ़े, जनता ही के बीच इसकी गूँज बनी रही—पर यह गूँज मात्र है, मूल शब्द नहीं। आल्हा का प्रचार यों तो सारे उत्तर भारत में है पर बैसवाड़ा इसका केंद्र माना जाता है। वहाँ इसके गानेवाले बहुत अधिक मिलते हैं। बुंदेलखंड में—विशेषतः महोबे के आस पास—भी इसका चलन बहुत है।

इन गीतों के समुच्चय को सर्वसाधारण 'आल्हाखंड' कहते हैं जिससे अनुमान होता है कि आल्हाखंड संबंधी ये वीरगीत जगनिक के रचे उस बड़े काव्य के एक खंड के अंतर्गत थे जो चंदेलों की वीरता के वर्णन में लिखा गया होगा। आल्हा और ऊदल परमाल के सामंत थे और बनाफर शाखा के क्षत्रिय थे। इन गीतों का एक संग्रह 'आल्हाखंड' के नाम से छपा है। फर्रुखाबाद के तत्कालीन कलेक्टर मि० चार्ल्स इलियट ने पहले पहल इन गीतों का संग्रह करके ६०—७० वर्ष पूर्व छपवाया था।

६—शारंगधर (सं० १३५३ के लगभग)। महाराज पृथ्वीराज के मारे जाने पर शहाबुद्दीन ने पृथ्वीराज के पुत्र गोविंदराज को

अपनी अधीनता स्वीकार कराके अजमेर की गद्दी पर बिठाया। महाराज पृथ्वीराज के भाई हरिराज ने मुसलमानों की अधीनता स्वीकार करने के कारण गोविंदराज से अजमेर छीन लिया जिससे वे रणथंभोर चले आए और वहाँ राज्य स्थापित किया। इन्हीं गोविंदराज के वंशज सुप्रसिद्ध वीर हम्मीरदेव हुए जो मुसलमानों से बराबर लड़ते रहे और अंत में संवत् १३५८ ईसवी में अलाउद्दीन की दूसरी चढ़ाई में मारे गए। पहली चढ़ाई अलाउद्दीन ने संवत् १३५७ में की थी जिसमें उसे हार खाकर भागना पड़ा था। हम्मीर अपना वंश-परंपरागत साम्राज्य मुसलमानों से छीनने का बराबर प्रयत्न करते रहे जिससे उन्हें बहुत लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं और उनकी वीरता के फुटकर पद्य देश में चारों ओर उनके समय में ही फैल गए थे। प्राकृत पिंगलसूत्र में अपभ्रंश के ऐसे बहुत से पद्य छंदों के उदाहरण में उद्धृत मिलते हैं—

> को हे चलिअ हम्मीर बीर गअजुह संजुत्त।
> किअउ कट्ठ हा कंद मुच्छि मेच्छिअ के पुत्ते *॥
>
> हम्मीर बीर जब रण चलिआ तुरअ तुरअहि जुज्झिया।
> अप्प पर णहि बुज्झिया॥

ये फुटकर पद्य अवश्य किसी अपभ्रंश के बड़े काव्य के अंश जान पड़ते हैं जिसमें हम्मीर की वीरता का विस्तृत वृत्त रहा होगा।

नयचंद्र सूरि ने 'हम्मीर महाकाव्य' नाम का बृहद् ग्रंथ संस्कृत में लिखा है। इसी प्रकार शारंगधर के नाम से भी हम्मीररासो और हम्मीर काव्य के नाम से दो भाषा काव्य ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। पर आजकल जो हम्मीररासो नाम की पुस्तक मिलती है वह पीछे की रचना है, समकालीन नहीं। यदि शारंगधर हम्मीर के दरबारी कवि थे और उन्होंने संवत् १३५७ में हम्मीर काव्य या हम्मीररासो की रचना की थी तो ऊपर उद्धृत पद्य संभवतः उन्हीं ग्रंथों में से किसी एक के होंगे।

* मूर्च्छित होकर म्लेच्छों के पुत्रों ने।

७—नल्लसिंह भट्ट (सं० १३५५) इनका विजयपालरासो नाम का एक ग्रंथ मिला है जिसमें संवत् १०९३ ई० में वर्त्तमान करौली के विजयपाल नामक राजा के युद्धों का वर्णन है। इस ग्रंथ की भाषा प्राकृत-अपभ्रंश मिली हुई है।

मोटे हिसाब से वीरगाथा-काल महाराज हम्मीर के समय तक ही समझना चाहिए। उसके उपरांत मुसलमानों का साम्राज्य भारत में स्थिर हो गया और हिंदू राजाओं को न तो आपस में लड़ने का उतना उत्साह रहा, न मुसलमानों से। जनता की चित्त-वृत्ति बदलने लगी और विचारधारा दूसरी ओर चली। मुसलमानों के न जमने तक तो उन्हें हटाकर अपने धर्म की रक्षा का वीर-प्रयत्न होता रहा, पर मुसलमानों के जम जाने पर अपने धर्म के उस व्यापक और हृदयग्राह्य रूप के प्रचार की ओर ध्यान हुआ जो सारी जनता को आकर्षित रखे और धर्म से विचलित न होने दे।

इस प्रकार स्थिति के साथ ही साथ भावों तथा विचारों में भी परिवर्त्तन हो गया, पर इससे यह न समझना चाहिए कि हम्मीर के पीछे किसी वीर काव्य की रचना ही नहीं हुई। समय समय पर इस प्रकार के अनेक काव्य लिखे गए। हिन्दी-साहित्य के इतिहास की एक विशेषता यह भी रही है कि एक विशिष्ट काल में काव्य-सरिता जिस रूप में वेग से प्रवाहित हुई वह यद्यपि आगे चलकर मंद गति से बहने लगी, पर ८०० वर्षों के हिंदी-साहित्य के इतिहास में हम उसे कभी भी सर्वथा सूखी हुई नहीं पाते।

महाक्षत्रप रुद्रदामन् (द्वितीय) का मुद्रा

२

(१)

मुद्रा का वास्तविक आकार में चित्र ।

मुद्रा के तीनगुणे बढ़ाए हुए आकार का चित्र

(३) महाक्षत्रप रुद्रदामन् (द्वितीय)

[लेखक—पंडित श्यामलाल भैरवलाल मेढ, एम० ए०, एल-एल० बी०, काशी]

पुरातत्त्ववेत्ताओं के परिश्रम से यद्यपि भारत के प्राचीन इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ा है, तथापि उसका बहुत सा भाग अभी तिमिराच्छादित है। मौर्यवंशीय चंद्रगुप्त और सिकंदर का समकालीनत्व निश्चल सिद्धांत रूप से स्वीकृत हुआ है, परंतु इस स्वीकृति से हिंदुस्तान के मध्यकालीन इतिहास की उलझन सुलझने के बदले और भी घनी हो गई है। इतना ही नहीं, मूल आर्य लोग कौन थे, उनका मूल निवासस्थान कहाँ था और कितने वर्ष पहले उन लोगों की संस्कृति का कैसा विकास हुआ इन महत्व की बातों पर भी विद्वत्-समूह अभी एकमत नहीं हो सका है। फ्रेंच मानवतत्त्ववेत्ता डेनिकर ने तो अपनी "मनुष्य जाति" [The Races of Men] नाम की पुस्तक में जातियों के वर्गीकरण में आर्यों को स्थान देना भी उचित नहीं समझा है। उसी प्रकार जब जकोबी जैसे विद्वान् ने वेदारंभ के काल को ईसा के चार हजार वर्ष पहले का स्वीकार किया है, और उसी को लोकमान्य तिलक ने पाँच हजार वर्ष पहले का सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, तब दूसरी ओर जर्मन पंडित वेबर उसे एक हजार पाँच सौ वर्ष से पहले का स्वीकार करने को तैयार नहीं है। जहाँ मूल ही में इतनी उलझन है वहाँ शाखा प्रशाखाओं की क्या दशा ?

परंतु विद्वानों का यह परिश्रम मार्गदर्शक है। उनके बताए हुए मार्ग से यदि सत्य की शोध होती रहेगी तो तिमिराच्छादित काल भी धीरे धीरे प्रकाश में आने लगेगा।

पिछले क्षत्रप राजाओं का समय भी अभी अंधकार से घिरा है, और उस काल के राजाओं के विषय में अभी सिद्धांत रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। सद्भाग्य से कुछ दिन हुए एक सिक्का मिला है, और उसके सहारे इस उलझन को सुलझाने का प्रयत्न

किया जाता है। यदि वह विद्वानों को मान्य हुआ, तो पिछले क्षत्रपों के विषय में बहुत कुछ नया ज्ञान प्राप्त होगा।

यह चाँदी का सिक्का बड़ोदा राज्य के बीजापुर तालुके में मिला था। बीजापुर अहमदाबाद के उत्तर-पूर्व में है। सिक्के पर के

सिक्का

राजा का मुख, सिर का आभूषण और लंबे बाल, स्तूप-चिह्न, उसके नीचे की वक्र लकीर और अर्धचंद्र ये सब यह प्रमाणित करते हैं कि वह क्षत्रपयुग का है। यद्यपि राजा की मूर्ति का कुछ भाग कट गया है, और अक्षर भी घिस गए हैं, तथापि जो कुछ बच गया है उससे सिक्के के काल का निर्णय करने में कठिनाई नहीं होती। लेख ब्राह्मी लिपि में लिखा गया है। जो अक्षर सिक्के पर दिखाई देते हैं वे इस प्रकार हैं—

[क्ष] [त्र] प स रु द्र स [ह] पु त्र स रा ज्ञो [म] [हा] [क्ष] [त्र]

सात अक्षरों को छोड़कर अन्य साफ हैं और ठीक ठीक पढ़े जा सकते हैं। पहले के दो, बीच का एक, और अंत के चार ये अक्षर मूल अक्षरों के अवशेष पर से निर्धारित किए गए हैं। अक्षरों के नीचे के भाग ने मूल अक्षरों के निर्धारण करने में बड़ी सहायता दी है। [म] तथा [हा] को पहिचानने में देर लगती है। ध्यान दिए बिना यदि देखा जाय तो यही जान पड़ेगा कि ये अक्षर आगे-वाले [क्ष] के नीचे के घुमाव से मिले हुए हैं; ये पृथक् पृथक् अक्षर नहीं किंतु [क्ष] के ही भाग हैं। परंतु ध्यान लगाकर देखने पर यह स्पष्ट मालूम होता है कि ये तीनों अक्षर अलग अलग हैं; [म] का नीचे का भाग तथा [हा] और [क्ष] के घुमाव मिले हुए नहीं हैं। अतः ये अक्षर [म] [हा] [क्ष] [त्र] ही हैं। बीचवाले [ह] को पहिचानने में बड़ी कठिनाई होती है। जल्दी से देखने में वह "न" सा मालूम होता है, परंतु यंत्र से देखने पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस अक्षर के नीचे का घुमाव दक्षिण ओर है—जैसा कि उस समय के "ह" में बराबर पाया गया है, बाईं ओर नहीं है—जैसा कि उस समय के "न" में पाया गया है। [देखो भारतीय प्राचीन

लिपिमाला—ओझा चित्रपट १०] क्षत्रप राजाओं के शिलालेखों में मिलनेवाले "ह" को देखने से यह साफ साफ मालुम होता है कि दक्षिण ओर का सहज घुमाव उस समय के "ह" की आवश्यक विशेषता थी, और बाईं ओर का घुमाव "न" की [दृष्टांत रूप रुद्रदामन के गिरनार लेख के "न" और 'ह" देखिए] अतः इस सिक्के का यह अक्षर "ह" ही है। इस प्रकार अक्षरों को पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि यह सिक्का क्षत्रप रुद्रसिंह के पुत्र का है, जो महाक्षत्रप की उपाधि धारण करता था।

अक्षरों को देखने से यह विदित होता है कि वे प्रथम क्षत्रपों के समय के नहीं हैं। प्रथम क्षत्रपों के अक्षरों में जो प्राचीनता है वह इन अक्षरों में नहीं देख पड़ती। पहले के क्षत्रप राजाओं के शिलालेखों में अथवा सिक्कों पर जो अक्षर देख पड़ते हैं, वे टेढ़े मेढ़े और प्रारंभिक हैं, चैत्य का आकार गोल है और सिक्कों की सजावट बहुत साफ सुथरी नहीं है। परंतु ज्यों ज्यों समय बीतता गया त्यों त्यों लेखन-शैली की रूढ़ियाँ बनती गईं और सिक्के बनाने की कला का विकास होता गया। इसी के अनुसार अंतिम क्षत्रपों के समय के सिक्कों में सफाई, अक्षरों की सरलता और निश्चित संकेतों का प्रयोग देख पड़ता है। इस सिक्के के अक्षर भी साफ, बराबर और अच्छी तरह उभड़े हुए हैं, चैत्य एक त्रिकोणमात्र है और अर्धचंद्र केवल एक बिंदु से ही सूचित किया गया है।

सिक्के के लेख से इतना तो स्पष्ट है कि वह "रुद्रसिंह के पुत्र" का है। क्षत्रपों के इतिहास में तीन "रुद्रसिंह के पुत्र" प्रख्यात हैं—

(१) रुद्रसेन (प्रथम)—रुद्रसिंह (प्रथम) का पुत्र—१९९—२२२ ई०।

(२) दामसेन—रुद्रसिंह (प्रथम) का पुत्र —२२३—२३६ ई०।

(३) यशोदामन (द्वितीय)—रुद्रसिंह (द्वितीय) का पुत्र—३१७—३३२ ई०।

यह सिक्का ऊपर लिखे हुए तीन राजाओं में से किस राजा का है इस बात को सिद्ध करने के पहले क्षत्रपों का संक्षिप्त इतिहास जानना अत्यावश्यक है। कारण कालनिर्णय करने में ऐतिहासिक घटनाएँ और उनका संबंध अत्यंत महत्व का भाग लेता है।

क्षत्रपों का संक्षिप्त इतिहास

"क्षत्रप" शब्द की व्युत्पत्ति प्राचीन फ़ारसी शब्द "क्षथ्रप" से हुई है। फारसी भाषा में "क्षथ्रप" का अर्थ "सूबेदार अथवा एक सूबे का संरक्षक" है। इस पदवी से भी एक ऊँचा स्थान होता था जिसे पानेवाला "महाक्षत्रप" कहलाता था। महाक्षत्रपों को अपने कार्य-क्षेत्र में काफी स्वतंत्रता रहती थी, और वे नाममात्र के लिये अपने सम्राट् के अधीन माने जाते थे। इतिहास से यह भी ज्ञात होता है कि क्षत्रप और महाक्षत्रप दोनों उपाधि धारण करनेवाले शासक साथ ही साथ राज्य करते थे। महाक्षत्रप सूबे की राजधानी में रहा करता था और क्षत्रपों द्वारा शासित छोटे छोटे मंडलों के राजतंत्र का निरीक्षण किया करता था।

भारतवर्ष के अनेक प्रांतों में "क्षत्रप" नामधारी राजाओं के नाम मिलने से यह ज्ञात होता है कि ईरान की ओर से आई हुई विदेशीय पार्थियन या सीथियन जातियों ने हिंदुस्तान में अपना राज्य चिरकाल तक स्थापित किया था। यह तो सभी को विदित है कि अशोक की मृत्यु के बाद सबसे पहले बैक्ट्रिया के यूनानी लोगों ने हिंदुस्तान पर आक्रमण किया, तत्पश्चात् शक आए और उनके पीछे पीछे पार्थियन जातियों ने भी प्रवेश किया। उपनिषद् आदि प्राचीन पुस्तकों में भी यवन, शक और पह्लवों का उल्लेख है। इन विदेशीय जातियों में से अनेक जातियों ने बड़े बड़े राज्य स्थापित किए, और दूरस्थ सूबों का शासन करने के लिये सूबेदार भेजे। ये ही सूबेदार "क्षत्रपों" के नाम से प्रख्यात हैं। ऐतिहासिक प्रमाणों से यह विदित होता है कि हिंदुस्तान के अनेक विभागों में क्षत्रप राजा राज्य करते थे। उनमें से अधिक प्रख्यात क्षत्रप कपिसा, तक्षशिला, मथुरा, नासिक और उज्जैन के थे।

अन्य क्षत्रपवंशों को छोड़कर यहाँ केवल पश्चिमी क्षत्रपों का इतिहास दिया जायगा। पश्चिम में दो क्षत्रपवंशों ने राज्य किया। एक तो पश्चिम हिंदुस्तान के "क्षहरातों" का वंश जिसकी राजनगरी नासिक थी और दूसरा चष्टन का वंश जिसकी प्रधान नगरी उज्जैनी (या उज्जैन) थी। रप्सन की कल्पना को यदि माना जाय तो यह कहा जा सकता है कि क्षहरातों का संबंध पार्थियनों से था और चष्टन वंश का शकों से। क्षत्रप राजा शक संवत् को मानते थे, इससे यह कल्पना हो सकती है कि वे उन सम्राटों के अधीन थे जिनके वंश में यह संवत् स्थापित हुआ अथवा जिनका वंश इस संवत् को स्वीकार करता था। फर्ग्युसन का कहना है कि वे शक संवत् को माननेवाले कुशन वंश के अधीन थे। सारनाथ में मिले हुए कनिष्क के समय के एक लेख में "महाक्षत्रप खरपल्लान" और "क्षत्रप वनश्वर" का उल्लेख है। [देखो Catalogue of Sarnath Museum by Pt. D. R. Sahni and Dr. Vogel, पृष्ठ ३६]। ये मथुरा के क्षत्रपवंश के जान पड़ते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि कनिष्क ने पार्थियन और शकों की शासन-पद्धति का भी अनुसरण कर दूर के सूबों में क्षत्रपों को भेजा, और ये पश्चिमी क्षत्रप भी कुशन सम्राटों के ही सूबेदार थे [देखो "Oxford History of India" by V. A. Smith, पृष्ठ १५२]।

क्षहरातों का वंश महान् आंध्र नृप गोतमी-पुत्र सातकरणी के द्वारा नष्ट हुआ। परंतु आंध्रों की यह विजय चिरस्थायिनी न रही। उज्जैन के क्षत्रप रुद्रदामन् ने शीघ्र ही आंध्रों को हराया, क्षहरातों से छीना हुआ राज्य फिर ले लिया, और इस प्रकार एक साम्राज्य की स्थापना की। रुद्रदामन् चष्टन का वंशज था। चष्टन के बाद उसका पुत्र जयदामन् गद्दी पर बैठा, परंतु आंध्रों की विजय-श्री के सामने उसकी कुछ भी न चली, और केवल क्षत्रप उपाधि धारण करने ही में उसने अपना श्रेय समझा। कदाचित् थोड़ी ही अवस्था में अपने पिता के सामने मर जाने के कारण वह महाक्षत्रप

के स्थान को न प्राप्त कर सका हो। उसके बाद उसका पुत्र रुद्रदामन् सिंहासन पर बैठा। रुद्रदामन् चतुर, महत्वाकांक्षी और वीर था। उसने आंध्रों को हराया और एक विस्तृत साम्राज्य स्थापित किया, जिसका उल्लेख उसके गिरनार के शिलालेख में विद्यमान है। उसने महाक्षत्रप की उपाधि धारण की और सत्कार्यों से अपने स्थान का महत्व बढ़ाया। उसके बाद उसका पुत्र दामघसद (प्रथम) गद्दी पर बैठा। उसके मरने पर उसके भाई रुद्रसिंह (प्रथम) और उसके पुत्र जीवदामन् में सिंहासन के लिये लड़ाई हुई, जिसमें रुद्रसिंह विजयी हुआ। यही कारण है कि अपनी वंशावली में से उसने अपने भाई तथा भतीजे का नाम निकाल दिया। कुछ दिनों तक उसने क्षत्रप की उपाधि धारण की, फिर महाक्षत्रप की। बीच में फिर क्षत्रप हुआ और अंत में पुनः महाक्षत्रप के नाम से पुकारा गया। उपाधि का यह फेरफार उसके भाग्य के फेरफार का सूचक है। उसके बाद जीवदामन् गद्दी पर बैठा। उसके पश्चात् रुद्रसिंह (प्रथम) का पुत्र रुद्रसेन महाक्षत्रप हुआ। रुद्रसेन के बाद उसका भाई संघदामन् राजा हुआ और उसके बाद तीसरा भाई दामसेन महाक्षत्रप हुआ। इस समय सहसा एक नवीन व्यक्ति का आगमन भारतीय इतिहास के रंगमंच पर हुआ, जिसने महाक्षत्रप की उपाधि धारण की। यह ईश्वरदत्त नामका एक आभीर राजा था। परंतु इसके अभ्युदय से चष्टन के मूलवंश को अधिक नुकसान नहीं पहुँचा, उसके वंशज यशोदामन्, विजयसेन, दामजदश्री (तृतीय), रुद्रसेन (द्वितीय) और भर्तृदामन् क्रमशः राज्य करते रहे। भर्तृदामन् और उसके पुत्र के समय से राज्य चष्टन के वंशजों के हाथ से निकल गया, और एक नये वंश ने, जिसका मूल पुरुष स्वामी जीवदामन् था, अपनी सत्ता स्थापित की। स्वामी जीवदामन् के बाद उसका पुत्र रुद्रसिंह (दुसरा) गद्दी पर आया; परंतु उनमें से किसी ने महाक्षत्रप की उपाधि धारण नहीं की। रुद्रसिंह और उसका पुत्र यशोदामन (द्वितीय) केवल क्षत्रप नाम से ही प्रख्यात हैं।

यशोदामन् की मृत्यु के कुछ वर्ष बाद स्वामी रुद्रदामन् ने फिर से महाक्षत्रप की उपाधि धारण की, और उसके बाद जो राजा सिंहासन पर आए वे महाक्षत्रप ही के नाम से पुकारे गए। स्वामी रुद्रसिंह (तृतीय) ही कदाचित् इस वंश का अंतिम महाक्षत्रप था। इसके राज्य-काल में गुप्तसम्राट चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने पश्चिम हिंदुस्तान जीतकर उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया।

ऊपर लिखे हुए क्षत्रपों के संक्षिप्त इतिहास से यह विदित होता है कि कई रुद्रसिंह नाम के क्षत्रप राजाओं के पुत्र सिंहासन पर बैठे।

सिक्के का काल-निर्णय

उनमें तीन अधिक प्रख्यात हैं (१) रुद्रसेन (प्रथम), (२) दामसेन, (३) यशोदामन् (द्वितीय)। अब केवल इतना निश्चय करना रह गया है कि इस सिक्के का स्वामी कौन था।

(१) रुद्रसेन (प्रथम) के जो सिक्के मिले हैं [Rapson's Catalogue, Plate XII.] उन्हें ध्यान से देखने पर यह साफ मालूम होता है कि हमारे इस सिक्के में और उनमें बड़ा अंतर है। यद्यपि लिपि एक ही (ब्राह्मी) है, तथापि रुद्रसेन के सिक्कों की अक्षर-रचना का प्रकार प्राचीन है। चैत्य और अर्धचंद्र के आकार भी अधिक गोल देख पड़ते हैं। इतना ही नहीं, इस सिक्के पर के राजा का मुख भी रुद्रसेन से नहीं मिलता।

(२) दामसेन के सिक्के भी इस सिक्के से भिन्न प्रकार के हैं। राजा का मुख, अक्षरों की रचना, सांकेतिक चिह्नों का स्वरूप ये सब हमारे सिक्के से पहले के समय की सूचना देते हैं।

(३) यशोदामन् (द्वितीय) के सिक्कों में और इस सिक्के में बहुत साम्य है। अक्षर मिलते जुलते हैं, सिक्के की बनावट एकसी है, और दोनों राजाओं के मुख में भी समानता है। इतना साम्य देखने से यह सिद्धांत स्थिर हो सकता है कि यह सिक्का रुद्रसिंह (द्वितीय) के पुत्र यशोदामन् (द्वितीय) का है। परंतु यशोदामन् ने महाक्षत्रप पदवी को कभी प्राप्त नहीं किया था; और

यह सिक्का तो रुद्रसिंह के उस पुत्र का है जिसने महाक्षत्रप की उपाधि धारण की थी। अतः यह सिक्का यशोदामन् (द्वितीय) का हो नहीं सकता।

अब यह प्रश्न उठता है कि वह राजा कौन था जिसके सिक्के में और यशोदामन (द्वितीय) के सिक्कों में इतना साम्य है। इस समानता से इतनी कल्पना तो हो सकती है कि यह सिक्का यशोदामन् (द्वितीय) के समय से न तो बहुत पहले का है न बहुत पीछे का ही। यों देखने में तो दोनों के सिक्के एक ही काल के जान पड़ते हैं। अंतर केवल इतना ही है कि यशोदामन् (द्वितीय) ने महाक्षत्रप पद को कभी प्राप्त नहीं किया, और इसी प्रकार उसने अपने सिक्कों में अपने को क्षत्रप ही कहा है; और हमारे इस सिक्के का स्वामी महाक्षत्रप की उपाधि धारण करता था।

इतिहास से यह जान पड़ता है कि यशोदामन् (द्वितीय) के बाद स्वामी रुद्रदामन (द्वितीय) गद्दी पर आया। भर्तृदामन् के बाद यह पहला राजा था जिसने महाक्षत्रप की उपाधि धारण की। रप्सन का कहना है कि रुद्रदामन (द्वितीय) का शासनकाल ३२७ ई० और ३५८ ई० के बीच में रहा। दुर्भाग्य से रुद्रदामन (द्वितीय) का न तो कोई सिक्का मिला है और न उसके किसी लेख ही का पता चलता है, जिससे इस सिक्के का मिलान हो सके। परंतु रुद्रदामन् (द्वितीय) का यशोदामन् (द्वितीय) के बाद ही गद्दी पर बैठना हमारे सिक्के के कालनिर्णय करने में सहायता करता है।

हमारा सिक्का यशोदामन् (द्वितीय) के सिक्कों से बहुत मिलता जुलता है। वह महाक्षत्रप राजा का चलाया हुआ है। यशोदामन् (द्वितीय) के ठीक पहले या बाद रुद्रदामन् (द्वितीय) ही प्रथम महाक्षत्रप राजा हुआ। अतः यदि यह कहा जाय कि रुद्रदामन् (द्वितीय) ही इस सिक्के का स्वामी था तो यह असंभावित नहीं

है। और यदि यह कथन मानने योग्य हो तो रुद्रदामन् (द्वितीय) के पितृत्व के विषय का अंधकार दूर हो जायगा और जगत् जान लेगा कि वह रुद्रसिंह (द्वितीय) का पुत्र था। यही कारण है कि उसके और यशोदामन् (द्वितीय) के मुख में इतनी समानता है।

चष्टन के आखिरी वंशजों की निर्बलता के कारण क्षत्रपराज्य की सत्ता घटने लगी। आपस की कलह प्रारंभ हुई और चारों ओर अव्यवस्था फैल गई। इस अवसर से लाभ उठाकर स्वामी जीवदामन् ने अपनी ताकत बढ़ाई और धीरे धीरे क्षत्रप-सिंहासन पर अपना अधिकार जमा लिया। परंतु कुछ समय तक दूसरा पक्ष भी काफी बलवान् रहा और उसी को दबाने में जीवदामन् और उसके पुत्र रुद्रसिंह (द्वितीय) बराबर लगे रहे। यशोदामन् (द्वितीय) के काल में भी शत्रुपक्ष बलवान् रहा। अपनी सत्ता पूर्ण रूप से स्थापित न होने के कारण वे महाक्षत्रप की उपाधि धारण न कर सके, और केवल क्षत्रप कहलाने ही में उन्होंने संतोष माना। परंतु जब रुद्रसिंह (द्वितीय) का पुत्र रुद्रदामन् (द्वितीय) गद्दी पर बैठा तब वातावरण शांत था, शत्रु दब गए थे, और नए वंश की सत्ता सर्वत्र स्थापित हो गई थी। अपने स्थान को दुर्दमनीय पाकर रुद्रदामन् (द्वितीय) की महत्वाकांक्षा जाग उठी। उसने आस पास के प्रदेश जीत लिए और महाक्षत्रप की उपाधि धारण की।

स्वामी रुद्रदामन् (द्वितीय)

सिक्के पर की मूर्ति को देखने से उसके स्वामी के रूप और स्वभाव का कुछ कुछ अनुमान हो सकता है। नाक, आँख और भाल सुडौल थे। नाक बहुत छोटी नहीं थी; आँखों में तेज भरा हुआ था; और भाल कुछ आगे को निकला हुआ था। मूँछें भी बड़ी थीं। अपनी जाति की प्रथा के अनुसार बाल भी लंबे रखे थे। कान में आभूषण पहिनने के छिद्र भी काफी बड़े थे। मुखाकृति से वह सहज स्थूल होगा ऐसा जान पड़ता है। उसकी जाति के विशेष गुण भी उसमें विद्यमान थे—वह विनोदी, धीर और चतुर था।

कितनों का यह कहना है कि भर्तृदामन् के बाद क्षत्रप राज्य पर विदेशियों ने आक्रमण कर उसे जर्जर बना दिया। इस विदेशीय आक्रमण का वे ऐतिहासिक प्रमाण नहीं देते। नए वंश के दो राजाओं ने महाक्षत्रप की उपाधि धारण नहीं की इस पर रप्सन आदि विद्वान् विदेशीय आक्रमण की कल्पना करते हैं। मेरा निवेदन तो यह है कि यथार्थतः उन्हीं क्षत्रपों के दो वंशों में विग्रह हुआ। एक ने दूसरे को निर्बल पाकर अपनी सत्ता बढ़ाई और राजसिंहासन छीन लिया। यह संभव है, इस काम में कुछ देर लगी हो, दूर के सूबों में विद्रोह फैला हो और अपने स्वार्थ के लिये नए वंश ने खून बहाया हो। परंतु इस अव्यवस्था और राजसत्ता की क्षीणता से केवल विदेशीय आक्रमण की कल्पना करना उचित नहीं, क्योंकि इस कल्पना को मान्य बनाने के लिये ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलते। जो कुछ ऐतिहासिक साधन मिले हैं उनसे तो यही ज्ञात होता है कि ऊपर कही हुई अराजकता आपस की गृह-कलह का परिणाम थी। रुद्रसिंह (द्वितीय) और यशोदामन् (द्वितीय) का महाक्षत्रप उपाधि न धारण करना उनका विदेशीय स्वामी का दासत्व स्वीकार करना स्थापित नहीं करता। चष्टन का वंश पुराना था; उसके विरुद्ध अपना प्रभुत्व जमाना सहज नहीं था। बहुत समय तक तो नए वंश का आधिपत्य कितनों ने स्वीकार ही न किया होगा। जब तक सारी प्रजा एक आवाज से नए वंश का प्रभुत्व न स्वीकार करे तब तक महाक्षत्रप की उपाधि धारण करना केवल अपनी हँसी कराना था। यही कारण था कि नए वंश के प्रथम राजाओं ने महाक्षत्रप की उपाधि नहीं धारण की। जब सर्वत्र शांति स्थापित हुई और एकछत्र राज्य रुद्रदामन् (द्वितीय) के हाथ में आया तब उसने अपने को महाक्षत्रप घोषित किया।

---

(४) बिहारी-सतसई-संबंधी साहित्य

[लेखक—बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर, बी० ए०, काशी]

सतसई के क्रम

बिहारी की सतसई की जो मूल अथवा सटीक प्रतियाँ मिलती हैं, उनमें दोहों का पूर्वापर क्रम एक सा नहीं मिलता। किसी में एक दोहा किसी संख्या पर दिखलाई देता है तो अन्य में अन्य संख्या पर। इसका मूल कारण यही है कि बिहारी ने न तो अपने दोहे किसी साहित्यिक क्रम से बनाए ही और न, उनकी यथेष्ट संख्या पूर्ण हो जाने पर, उनको किसी विशेष क्रम से स्वयं लगाया ही। जब जब उनके हृदय में जो जो काव्योपयुक्त भाव, कुछ देख-सुन कर, उत्पन्न हुए, तब तब उन्होंने, उन भावों को, अपनी सुघर भाषा तथा प्रकृष्ट प्रतिभा के अनुसार, काव्य का स्वरूप देकर, भिन्न भिन्न दोहे बना डाले। ज्ञात होता है कि प्राकृत की गाथा-सप्तशती एवं संस्कृत की आर्या-सप्तशती तथा अमरुक-शतक इत्यादि, कोष काव्यों का अध्ययन तथा परिशीलन उन्होंने विधिपूर्वक किया था, अतः वे ग्रंथ उनके ध्यान पर भली भाँति चढ़े हुए थे, और यही कारण उनकी काव्य-भाषा के परम शुद्ध तथा एकरस होने का भी है। उन्हीं ग्रंथों के ढंग पर उन्होंने भाषा में मुक्तक दोहों का एक ग्रंथ, मिर्ज़ा राजा जयशाही के अनुरोध से, रचने का विचार किया और, जिस प्रकार उक्त ग्रंथों में कोई विशेष क्रम छंदों के पूर्वापर में नहीं है, उसी प्रकार उन्होंने भी अपनी सतसई में नहीं रखा।

एक यह भी बात यहाँ ध्यान देने योग्य है कि यदि बिहारी किसी विशेष क्रम से अपने दोहों की रचना करना चाहते तो, जिस उच्च कोटि तथा सौष्ठव-संपन्न दोहों के बनाने में वे कृतार्थ हुए, कदाचित् वैसे दोहे न बना सकते, क्योंकि उनको, क्रम के बंधन में पड़कर, किसी विशेष दोहे के पश्चात् किसी विशेष ही भाव के

दोहे के बनाने की आवश्यकता पड़ती। ऐसी दशा में, विशेष संभावना यही थी कि, जैसे सुंदर तथा सूक्ष्म भाव उनके दोहों में भरे हैं वैसे न आ सकते, और न वैसी सुघर तथा सुष्ठु भाषा में उनकी व्यक्ति ही हो सकती, क्योंकि कवि की प्रतिभा एक ऐसी स्वतंत्र वस्तु है कि वह उसके इच्छानुसार कार्य करने पर बाधित नहीं की जा सकती। अभ्यास तथा शिक्षा के बल से, कवि कुछ न कुछ बना लेने में तो अवश्य समर्थ हो सकता है, पर जिन भावों का उसके हृदय में समयानुकूल स्वयं उद्गार होता है वे जैसे श्रेष्ठ तथा अलौकिक होते हैं, वैसे खींच-तानकर नहीं आ सकते, और न उनके प्रकाशित करने के निमित्त वैसे उत्तम शब्द तथा वाक्य-विन्यास ही बन पड़ते हैं, क्योंकि खींचातानी के भावों के निमित्त शब्दों तथा वाक्य-विन्यासों का प्रयोग भी खींच-तान ही कर करना पड़ता है, अतः भावों तथा शब्दों में बहुधा वैषम्य आ जाता है। इसी कारण, प्रायः देखा जाता है कि बहुधा प्रबंध-काव्यों के अनेक स्थानों पर शिथिलता तथा अरोचकता आ जाती है; पर मुक्तक कविताओं के छंद, किसी क्रमादि का प्रतिबंध न होने के कारण, कवि की पूर्ण प्रतिभा तथा उसके अभ्यास एवं निपुणता से उत्पन्न हुए गुणों से संपन्न होते हैं।

हाँ, यह निस्संदेह संभव था कि बिहारी, अपने दोहों की यथेष्ट संख्या पूरी करने के पश्चात्, उनका कोई साहित्यिक अथवा वैषयिक क्रम लगा देते। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया और अपनी आदर्श सतसइयों की भाँति, अपनी सतसई को भी एक मुक्तक दोहों का क्रमरहित संग्रह ही रहने दिया। इसी से, उनके पश्चात्, उनकी कविता के गुण-ग्राहकों तथा टीकाकारों ने, यह समझकर कि एक एक प्रकार के दोहों को एकत्र कर देने से उनकी शोभा कुछ विशेष बढ़ जायगी तथा उनके अर्थ समझने में भी कुछ सहायता प्राप्त होगी, अपनी अपनी रुचि के अनुसार उनके दोहों के क्रम लगा लिए; जैसा कि उनके प्रथम क्रमकर्त्ता कोविद कवि

ने अपने संवत् १७४२ के बाँधे हुए क्रम की सतसई के अंत में लिखा है—

किए सात सै दोहरा सुकबि बिहारीदास।
बिनुहि अनुक्रम ए भए महिमंडल सुप्रकास॥
सतरह सै चालीस, दुइ बरषे फागुन मास।
एकादसि तिथि सेत पख बुरहनपुर सुख-बास॥
तहँ कोबिद सुभ ए लिखे भिन्न भिन्न अधिकार।
देखत ही कछु समुझियै जिन तैं अरथ-बिचार॥

और सतसई के दूसरे क्रमकर्त्ता, पुरुषोत्तमदास जी ने, अपने क्रम के अंत में यह दोहा लिखा है—

जद्यपि हैं सोभा सहज मुक्तनि तऊ सु देखि।
गुहैं ठौर की ठौर तैं लर मैं होति बिसेषि॥

इसी कारण बिहारी की सतसई के दोहों के पूर्वापर क्रम कई भिन्न भिन्न प्रकार के दिखाई देते हैं। यदि बिहारी ने अपनी सतसई में कोई विशेष क्रम संगठित कर दिया होता तो उसको परिवर्तित करने का कदाचित् कोई समझदार साहस न करता। उन्होंने अपने दोहों का वही क्रम रहने दिया, जिस क्रम से वे बने थे, जैसा कि ऊपर उद्धृत किए हुए कोविद कवि के प्रथम दोहे से प्रतीत होता है। इसी क्रम को बिहारी का निज क्रम कहना चाहिए। अब यह बात विचारने की है कि उक्त क्रम कौन सा है। हमारी समझ में, जो क्रम बिहारी-रत्नाकर में, नीचे लिखी पाँच पुस्तकों के आधार पर, स्वीकृत किया गया है, उसी को बिहारी का निज क्रम मानना समुचित है—

(१) जयपुर के निजी पुस्तकालय में विद्यमान सतसई की सबसे प्राचीन प्रति। इस पुस्तक के विषय में कहा तथा माना जाता है कि इसे, मिर्ज़ा राजा जयशाही के पुत्र कुमार रामसिंह जी के पढ़ने के निमित्त, बिहारी ने स्वयं लिख अथवा लिखवा दिया था। इसमें केवल ४९३ दोहे हैं, पर, बीच में कुछ अंकों की गड़बड़ के कारण,

अंतिम दोहे पर अंक ५०० का दिया है। इसके विषय में यह भी अनुमान किया जा सकता है कि जिस समय यह लिखी गई, उस समय तक केवल उतने ही दोहे बन पाए थे। उसपर जो कुमार रामसिंह जी के अक्षर जहाँ तहाँ हैं, वे नौ-दस वर्ष के लड़के के चोते हुए से प्रतीत होते हैं। रामसिंह का जन्म संवत् १६६४ में हुआ था, अतः इस पुस्तक का लिखा जाना संवत् १७०३—४ में अनुमानित करना समीचीन है। हमारे अनुमान से बिहारी सतसई की रचना का आरंभ होना संवत् १६६२ में तथा उसका समाप्त होना १७०४—५ में ठहरता है। अतः संवत् १७०३—४ में सतसई के पाँच सौ दोहों तक के बनने का अनुमान असंगत नहीं है।

(२) जयपुर के निजी पुस्तकालय में विद्यमान संवत् १८०० की लिखी हुई प्रति। यह पुस्तक बिहारी के किसी शिष्य की संवत् १७३६ की लिखी प्रति की प्रतिलिपि है, जैसा कि इसके अंत के लेख से विदित होता है।

(३) किशनगढ़ वाले मानसिंह कवि की टीका के सहित संवत् १७७२ की लिखी हुई प्रति, जो हमारे पास है। इसके अक्षर मारवाड़ी लेखकों के से हैं और इसके अंत के लेख से ज्ञात होता है कि यह अजमेर में लिखी गई थी, इसके आदि के कुछ पत्रे नहीं हैं, जिससे २५० दोहों की टीका खंडित है। इसकी एक अन्य प्रति भी हमको, प्रसिद्ध इतिहासज्ञ स्वर्गवासी श्रीमुंशी देवीप्रसाद जी मुंसिफ़ के द्वारा, जोधपुर से प्राप्त हुई है। वह पूरी है।

(४) पंडित शंभुनाथ के हाथ की लिखी संवत् १७८६ की प्रति, जो हमारे पास है। यह प्रति हमको अपने स्वर्गवासी मित्र श्रीपंडित गोविंदनारायण जी से प्राप्त हुई थी। इसके अक्षर भी मारवाड़ी ढंग के हैं।

(५) किसी लक्ष्मीरत्न नामक लेखक की लिखी संवत् १७९६ की पुस्तक। यह पुस्तक अलवर की किसी राजकुमारी रत्नकुँवरि जी के पठनार्थ लिखी गई थी। इसमें जहाँ तहाँ दोहों के भाव के

चित्र भी बने हैं। अक्षर इसके भी मारवाड़ी छटा के हैं; पर स्पष्ट और सुंदर हैं। यह पुस्तक हमको स्वर्गवासी पूज्य पंडित लक्ष्मीनारायण जी, उपनाम कमलापति जी, कवि से, प्राप्त हुई थी, और हमारे पास विद्यमान है।

इन पाँचों पुस्तकों में से, तीसरी तथा पाँचवीं पुस्तकों में दोहों का पूर्वापर क्रम एक ही है। केवल दो दोहों के स्थानों में सामान्य अंतर है, अर्थात्, तीसरी पुस्तक के १८९ तथा ४८६ अंकों के दोहे पाँचवीं पुस्तक की १८५ तथा ४८९ संख्याओं पर आए हैं और, इस अंतर के कारण, बीच के दोहों के स्थानों में एक एक संख्या का अंतर पड़ गया है। इन दोनों पुस्तकों में दोहों की गिनती भी एक ही है, अर्थात् दोनों ही में ७१३ दोहे हैं; और इनके पाठों में भी बहुत साम्य है।

पहली संख्या की पुस्तक में यद्यपि केवल ४९३ दोहे हैं, पर जो हैं उनका क्रम तीसरी तथा पाँचवीं पुस्तकों के क्रम से बहुत मिलता है। कहीं कहीं दोहों में कुछ आगा-पीछा अवश्य हो गया है, पर ४९३ वाँ दोहा तीनों पुस्तकों में वही है। इससे यह व्यंजित होता है कि इस पुस्तक में बिहारी के चुने दोहों का संग्रह नहीं किया गया था, प्रत्युत यह सतसई की एक सिरे से प्रतिलिपि है। इसी से यह भी अनुमान होता है कि कदाचित् उस समय तक इतने ही दोहे बने थे।

२ संख्यक पुस्तक में भी दोहों का क्रम वास्तव में वही है जो पहली, तीसरी तथा पाँचवीं पुस्तकों में। केवल भगवत् संबंधी कुछ दोहे, जो प्रथम, तृतीय, चतुर्थ तथा पंचम पुस्तकों में बीच बीच में आए हैं, उसमें अंत में एकत्र रख दिए गए हैं, और ११७, ३०१, ६०४ तथा ७१३ अंकों के दोहे उसमें नहीं हैं, और ६८९ दोहों के पश्चात् ७३ दोहे उसमें अधिक लिखे हैं, जो बिहारी-रत्नाकर के दूसरे उपस्करण के आदि में संगृहीत हैं। ये वास्तव में बिहारी के दोहे नहीं हैं।

४ अंक की पुस्तक में भी पूर्वापर क्रम वही है। केवल ५, ७ दोहे इधर के उधर हो गए हैं, जिसका कारण लेखक का प्रमाद मात्र

समझना चाहिए। इस प्रमाद का कारण प्रायः यह होता है कि जब किसी लेखक से कोई दोहा लिखते समय छूट गया, और उसके पश्चात् के दो एक दोहे लिखने पर उसका ध्यान उस छूट पर गया, तो उसने छूटे हुए दोहे को उन दोहों के पश्चात् लिख दिया, और यदि उसका ध्यान सर्वथा उस छूट पर नहीं ही गया, तो उस दोहे का लिखना ही रह गया। ४६४, ४८८, और ५६३ से ५६९ तक तथा ७१३ अंकों के दोहे उसमें नहीं हैं, और ये दो दोहे अधिक हैं—

> मान छुटैगौ मानिनी पिय-मुख देखि उदोतु।
> जैसैं लागैं घाम कें पाला पांनी होत॥ ७॥
> प्यौ बिछुरत तनु थकि रह्यौ लागि चल्यौ चितु गैल।
> जैसैं चोर चुगाइ लै चलि नहिं सकै चुरैल॥ ४६॥

न्यूनता का कारण तो लेखक का छोड़ जाना तथा भूल से पत्रा उलट देना प्रतीत होता है और अधिकता का कारण यह हो सकता है कि कदाचित् किसी ने इनको बिहारी के दोहे समझकर अपनी पुस्तक के पार्श्व-भाग पर लिख लिया हो, और इस प्रतिलिपि के लेखक ने लिखते समय उनको भी बीच में लिख दिया हो। इन दो दोहों में से "मान छुटैगौ" इत्यादि दोहा अमरचंद्रिका में भी मिलता है।

इन पाँचों प्राचीन पुस्तकों के अतिरिक्त, दो और सटीक पुस्तकें भी हमको, अपनी टीका समाप्त करने के पश्चात्, मिलीं, जिनका विशेष वर्णन अन्य टीकाओं के साथ किया जायगा। उनमें से एक पुस्तक ब्रजभाषा-टीका-सहित है जिसका कृष्णलाल की टीका होना संभावित है। उस पुस्तक में भी दोहों का क्रम वस्तुतः वही है जो ऊपर लिखी हुई पाँच पुस्तकों में। केवल ६७८ संख्यक दोहा उसमें नहीं है, और यह दोहा अधिक है—

> सिसुता-अमल-तगीर सुनि भए और मिलि मैन।
> हौं होत हैं कौन के ए कसबाती नैन॥ ९६॥

यह अधिक दोहा सतसई की और किसी प्रति में नहीं मिलता। इस पुस्तक में भी पाँच, सात दोहों के स्थानों में तीसरी तथा पाँचवीं पुस्तकों के क्रम से कुछ भेद पड़ता है।

दूसरी पुस्तक श्री जोशी आनंदीलाल जी की फ़ारसी-टीका-सहित है। ये महाशय अलवर राजसभा के फारसी-कवि थे। इनकी पुस्तक में केवल ६४० दोहे हैं जिनका पूर्वापर क्रम, पाँच-सात दोहों का आगम-पीछा छोड़कर, वही है जो ३ तथा ५ अंक की पुस्तकों में। इसमें बिहारी-रत्नाकर के ६४० तक के दोहों में से ११६, तथा ४६२ से ४६७ तक के अंकों के दोहे नहीं हैं और अंत के ६६ दोहे छूटे हुए हैं। उक्त पंडित जी को जो प्रति सतसई की मिली थी कदाचित् उसमें ये ही ६४० दोहे थे। उसमें ११६ वाँ दोहा तो लेखक की भूल से छूटा हुआ ज्ञात होता है, और ४६२ से ४६७ तक के ६ दोहों के विषय में अनुमान होता है कि लेखक से लिखते समय पत्रा उलटने में प्रमाद हो गया। अंत के ६६ दोहों की टीका के न होने का कारण या तो टीकाकार की प्रति का अंत में खंडित होना या स्वयं उसका उकता जाना प्रतीत होता है।

हमारी पाँचवीं अंक की पुस्तक अलवर की किसी राजकुमारी के निमित्त संवत् १७६७ में लिखी गई थी। उसके क्रम से इस फ़ारसी टीकावाली पुस्तक का क्रम मिलता है जिससे प्रमाणित होता है कि अलवर में कोई प्राचीन प्रति सतसई की विद्यमान था जिससे ये दोनों प्रतियाँ उतारी गई। इस प्रति से भी बिहारी का निज क्रम वही प्रमाणित होता है जो हमने स्वीकृत किया है।

इन सातों पुस्तकों पर विचार करने से यही निर्धारित होता है कि ये किसी ऐसी प्रति की प्रति-लिपियाँ अथवा पारंपरिक प्रति प्रतिलिपियाँ हैं, जिसमें बिहारी के दोहे अपने रचना-क्रम के अनुसार संग्रहीत थे। इनके क्रमों में जो कहीं कहीं कुछ अंतर दृष्टि-गोचर होता है उसका कारण केवल लेखकों का प्रमाद अथवा छाँटने की चेष्टा मात्र है। इन पुस्तकों में से भी ३ तथा ५ अंकों की पुस्तकों में

केवल दोही दोहों के स्थानों में अंतर होने के कारण, वे ही बिहारी के निज क्रम की मुख्य प्रतियाँ मानने के योग्य हैं, और उन दोनों में भी ३ अंक की पुस्तक सटीक होने के कारण विशेष मान्य है। इसी कारण बिहारी-रत्नाकर के क्रमस्थापन में वही आधार मानी गई है।

इस क्रम में किसी साहित्यिक अथवा वैषयिक क्रम के लेश मात्र का भी दर्शन नहीं होता। कहीं मुग्धा का एक दोहा है तो उसी के पश्चात् कोई दोहा प्रौढ़ा का; कहीं शृंगार रस के दोहे के पास ही कोई नीति का दोहा दिखाई देता है; और बीच बीच में भगवत्-संबंधी, शांत-रस-पूरित तथा नृपस्तुति-विषयक दोहे मिश्रित हैं। किसी अन्य व्यक्ति को इस प्रकार के क्रम के स्थापित करने का कोई कारण नहीं हो सकता था, अतः यह अनुमान करना कि बिहारी का निज क्रम यही है, सर्वथा संगत तथा उचित है।

यह बात भी ध्यान देने के योग्य है कि, ३ अंक की पुस्तक, संवत् १७७२ में, अजमेर में लिखी गई थी, और उसमें मानसिंह विजयगच्छ-वाले की टीका भी है; और ५ अंक की पुस्तक, संवत् १७६६ में, अचलगढ़ (अलवर) में, रतनकुँवरि नामक किसी राजकन्या के पढ़ने के लिए। इतने देश तथा काल के अंतर होने पर भी, इन दोनों प्रतियों के क्रमों में साम्य होना इस बात को पूर्णतया प्रमाणित करता है कि, ये दोनों ही किन्हीं ऐसी प्रतियों से लिखी गई हैं जिनका आदि मूल एक ही प्रति थी। यह बात इससे भी प्रमाणित होती है कि, इन दोनों प्रतियों के पाठों में भी बहुत साम्य है। इसके अतिरिक्त मानसिंह ने जो अपनी टीका के अंत में लिखा है कि बिहारी ने ७१३ दोहे बनाए, वेही ७१३ दोहे इन दोनों पुस्तकों में मिलते भी हैं। मानसिंह की टीका का बनना हमने संवत् १७३० तथा १७३५ के बीच में अनुमानित किया है, जिसका कारण यथास्थान लिखा जायगा। अतः यह संभव है कि बिहारी उक्त टीका के लिखते समय जीवित रहे हों। यह एक किंवदंती भी है कि मानसिंह बिहारी से परिचित थे। अतः मानसिंह का क्रम

तथा उनका यह लेख कि बिहारी ने ७१३ दोहे बनाए, माननीय ज्ञात होता है, विशेषत: ऐसी दशा में जब कि उनके क्रम तथा संख्या का ठीक होना ५ संख्यक पुस्तक से भी प्रमाणित होता है, और १ संख्या की पुस्तक भी उसके क्रम के ठीक होने की साक्षी दे रही है।

एक यह बात भी इस अनुमान को पुष्ट करती है कि कोविद-कवि ने जो संवत् १७४२ में क्रम लगाया उसमें जो ७०६ दोहे रखे हैं वे इन्हीं ७१३ दोहों में से हैं यद्यपि क्रम उन्होंने अपने मत के अनुसार बाँधा है।

यद्यपि बिहारी ने सतसई में अधिकांश दोहों का पूर्वापर क्रम तो वही रहने दिया, जिस क्रम से उनकी रचना हुई थी, तथापि प्राचीन पुस्तकों के देखने से प्रतीत होता है कि, उनके हृदय में इतना क्रम स्थापित करने की अभिलाषा अवश्य थी कि प्रति दस दस अथवा बीस बीस दोहों के पश्चात् एक एक भगवत्-संबंधी, अथवा नीति-विषयक, दोहे आ जायँ। ज्ञात होता है कि, बनाते समय भी उन्होंने इस बात पर ध्यान रखा था, पर रचना-काल में, भावों के उद्गार के कारण, जहाँ कहीं वे इस बात को न कर सके, वहाँ वहाँ उसकी पूर्ति उन्होंने ग्रंथ समाप्त होने पर कर दी, अर्थात् जहाँ जहाँ दस दस अथवा बीस बीस पर भगवत् संबंधी अथवा नीति-विषयक दोहे नहीं पड़े, वहाँ वहाँ नए दोहे बनाकर, अथवा अन्य स्थानों से उठाकर, रखने का प्रयत्न किया। बिहारी का यह अभिप्राय २ अंक की अर्थात् शिष्यवाली पुस्तक में भगवत्संबंधी कुछ दोहों के एकत्र कर देने से भी लक्षित होता है। इस कार्य में, ज्ञात होता है कि, उन्होंने अधिकांश ऐसे दोहों को तो अपनी चौपतिया के पार्श्वभाग पर, जिन स्थानों पर ऐसे दोहे स्थापित होने चाहिए थे उनके संमुख, लिख दिया और किसी किसी दोहे के सामने केवल वह संख्या लिख दी, जिस पर उनको वह दोहा रखना अभीष्ट था। चौपतिया की प्रतिलिपि उतारनेवाले ने जो दोहे पार्श्वभाग पर लिखे थे उनको, बिहारी का यह अभिप्राय न समझकर कि ऐसे दोहों का

दस दस या बीस बीस पर रखना अभीष्ट है, कहीं कहीं उचित स्थानों से दो एक संख्या आगे पीछे लिख दिया, और जिन दोहों के सामने केवल अभीष्ट संख्या मात्र लिखी थी, कि यह दोहा अमुक स्थान पर जाना चाहिए, उनको प्रमाद से जहाँ का तहाँ रहने दिया, अर्थात् उनको बिहारी के अभीष्ट स्थान पर नहीं रखा। इन चूकों में से पहली चूक का कारण तो यह अनुमानित हो सकता है कि पार्श्वभाग में लिखे हुए दोहे एक ही दोहे के सामने नहीं समा सकते वरन् तीन चार दोहों के सामने पड़ जाते हैं, अत: ऐसे किसी लेखक का, जिसको इस बात का भान न रहा हो कि पार्श्व भाग पर ये दोहे किस स्थान पर रखने के अभिप्राय से लिख दिए गए हैं, उनका उचित अंकों के दो चार अंक आगे पीछे समावेश कर देना पूर्णतया संभव और स्वाभाविक ही है। ऐसी चूकों के उदाहरण ११, ४१, ६१, ७१, ९१ इत्यादि अंकों के दोहों में दृष्टिगोचर होते हैं जो कि ३ तथा ५ संख्यक पुस्तकों में १०, ४२, ६२, ६९, ८७ इत्यादि अंकों पर लिखे मिलते हैं। दूसरी चूक का कारण, लेखक का पार्श्व टिप्पणी पर ध्यान न देना, अथवा यदि कोई दोहा पीछे से आगे आया है तो उस पीछेवाले दोहे के सामने की टिप्पणी का उचित स्थान के आस पास के दोहों के लिखते समय न देखना प्रतीत होता है। ऐसी चूकों के उदाहरण १२१, १३१, १८१, २[illegible]१, ४०१ इत्यादि अंकों के दोहों में दिखाई देते हैं, जो कि ३ तथा ५ अंकों की पुस्तकों में ५२, ११७, १६२, २१६, ३६९ इत्यादि अंकों पर हैं।

क्रमों के विषय में सामान्य बातें निवेदन करके, अब हम सतसई के भिन्न भिन्न क्रमों का वर्णन नीचे आरंभ करते हैं।

(१)

सतसई का प्रथम क्रम तो बिहारी का निज क्रम ही है, जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है। इस क्रम पर अद्यावधि हमारे देखने में तीन प्राचीन टीकाएँ आई हैं। उनमें से एक टीका के कर्त्ता का नाम तो निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है; पर संभवत: वह कृष्णलाल की

टीका है, जिसको लल्लूलालजी ने अपनी लालचंद्रिका की भूमिका में गिनाया है। दूसरी टीका मानसिंह विजयगच्छवाले की है और तीसरी टीका फ़ारसी भाषा में पंडित आनंदीलाल जोषी अलवर-वाले की इन टीकाओं का विशेष वर्णन यथास्थान किया जायगा। चौथी टीका इस क्रम पर अब बिहारीरत्नाकर नाम की हुई है, जो प्रकाशित होकर पाठकों के सामने उपस्थित हो चुकी है।

बिहारीरत्नाकर में हमने ३ अंक की पुस्तक के अनुसार बिहारी का निज क्रम ही रखा है। पर बिहारी का यह अभिप्राय लक्षित करके कि दस दस अथवा बीस बीस पर एक एक भगवत्-संबंधी अथवा नीति-विषयक दोहा रखा जाय, जहाँ जहाँ ऐसे स्थानों से अभीष्ट दोहे कुछ विचलित मिले, वहाँ वहाँ उनके स्थान अपनी बुद्धि के अनुसार ठीक कर दिए हैं। इस स्थान-संशोधन में यह संभावना अवश्य है कि जिस स्थान पर हमने कहीं दूर का कोई दोहा स्थापित किया है वहाँ के निमित्त बिहारी ने कोई अन्य दोहा सोचा रहा हो। इसी विचार से पुस्तकांत में जो दोहों के अकारादि क्रम की सूची लगाई गई है, उसमें एक कोष्ठ तीसरी पुस्तक, अर्थात् मानसिंह की टीका वाली प्रति, का भी रख दिया गया है, जिसमें पाठकों को यह बात विदित हो सके कि हमने किस किस दोहे के स्थान परिवर्तित करने का साहस किया है।

उक्त संस्करण में, रचना-काल के अनुसार दोहों के क्रम के रखने से एक यह भी लाभ संभावित है कि इससे रचनाकाल के भिन्न भिन्न समय पर कवि की मनोवृत्ति तथा उसकी प्रतिभा-शक्ति की प्रबलता तथा निर्बलता व्यंजित हो सकती है, और यदि किसी ऐतिहासिक विषय का वर्णन किसी दोहे में आ गया है तो उसके निश्चित समय से दोहे के निर्माण-काल का भी कुछ पता चल जाता है; और फिर दोहे के निर्माण-काल के अनुमान से उक्त ऐतिहासिक घटना के समय का कुछ मोटा मोटा पता लग सकता है। जैसे "रहति न रन" इत्यादि दोहा बिहारी के क्रम में ८० अंक पर पड़ता

है, तो इस पर निम्नलिखित अनुमान निर्भर किए जा सकते हैं। बिहारी ने अपनी सतसई-रचना का प्रारंभ संवत् १६९२ में किया था और समाप्ति संवत् १७०४—५ में। यदि हमारा यह अनुमान ठीक हो तो, सतसई की रचना का काल १२—१३ वर्ष ठहरता है। इस गणना से प्रति वर्ष में ५०, ६० दोहों की रचना मानी जा सकती है। अतः ८० अंक के दोहे का संवत् १६९४ में बनना कहा जा सकता है, और उक्त दोहे में वर्णित घटना भी संवत् १६९४ की मानी जा सकती है। इस बात का कह देना यहाँ आवश्यक है कि, यद्यपि कवियों की कविता सदैव एक परिमित संख्या में प्रति वर्ष की गणना से नहीं बनती—कभी उनकी प्रतिभा थोड़े ही काल में अधिक कविता बना देती है और कभी कुछ काल तक सुषुप्ति अवस्था में पड़ी रहती है—तथापि सामान्यतः ऊपर कहा हुआ अनुमान कुछ विशेष अनुचित भी नहीं है।

सतसई के दोहों के सौष्ठव तथा उनकी सर्वकाव्य-गुण-संपन्नता से आकर्षित होकर समय, समय पर, भिन्न भिन्न भाषा-काव्य-प्रेमी विद्वानों तथा राजाओं महाराजाओं ने उसका बड़े आदर तथा चाव से पठन-पाठन किया, और अनेक महाशयों ने, उसके दोहों में कोई साहित्यिक अथवा वैषयिक क्रम न पाकर, अपनी अपनी मति तथा बुद्धि के अनुसार, उसके दोहों के मूल पूर्वापर-क्रम में परिवर्तन करके, अपने अपने विशेष क्रम स्थापित किए। उनमें से जितने हमारे दृष्टि-गोचर हुए हैं उनका संक्षिप्त विवरण नीचे लिखा जाता है।

(२)

कोविद कवि का क्रम

बिहारी के निज क्रम में परिवर्तन करके, सबसे पहले चंद्रमणि मिश्र, उपनाम कोविद कवि ने, संवत् १७४२ में अपनी रुचि के अनुसार, सतसई का एक नया क्रम बाँधा। यह क्रम यद्यपि साहित्य-दृष्टि से कुछ विशेष गौरव का नहीं है, तथापि इसको सतसई के प्रथम बाँधे हुए क्रम होने का गौरव प्राप्त है। इससे भी बिहारी के

निज क्रम के वही होने का, जो हमने बिहारीरत्नाकर में ग्रहण किया है, पोषण होता है, क्योंकि इसमें, यद्यपि दोहों का पूर्वापर क्रम विषयानुरोध से परिवर्तित कर दिया गया है तथापि, जो ७०९ दोहे रखे गए हैं वे सब बिहारी के निज क्रम की प्रतियों में पाए जाते हैं, और जो बिहारीरत्नाकर में ग्रहण किए गए हैं। बिहारीरत्नाकर के स्वीकृत दोहों में से ५०, १२५, १४१, १८७, ३८९, ४५५, ५५१, ६७९ तथा ७१३ अंकों के नौ दोहे इसमें नहीं पाए जाते। इन नौ दोहों में से पाँच तो लेखक की असावधानी से हमारी प्रति में छूट गए हैं जो कि बीच में अंकों की शृंखला के बिगड़ जाने से प्रमाणित होता है, और शेष चार दोहे इस क्रम में वस्तुतः नहीं लिए गए हैं। इसके अतिरिक्त इसके प्रति शीर्षक में जो दोहे आए हैं वे प्रायः इस क्रम से आए हैं कि जो दोहे बिहारी के निज क्रम में पहले पड़ते हैं वे पहले, और जो पीछे पड़ते हैं वे पीछे। यह बात पुरुषोत्तमदास जी के अथवा अन्य किसी क्रम में नहीं पाई जाती। अतः इससे इसका पुरुषोत्तमीय क्रम के पहले का क्रम होना निर्धारित किया जा सकता है। इस क्रम की अनुक्रमणिका यहाँ दी जा सकती है। पर ऐसे ही सब क्रमों की अनुक्रमणिका देने से लेख के आकार के तो बहुत बढ़ जाने की आशंका है और पाठकों का कोई विशेष लाभ संभावित नहीं। अतः ऐसा नहीं किया जाता।

इस क्रम के अंत में क्रमकर्त्ता के ये दोहे पाए जाते हैं—

किए सातं सै दोहरा सुकवि बिहारीदास।
बिनुहिं अनुक्रम ए भए महि-मंडल सु-प्रकास॥
सतरह सै चालीस दुइ बरषे फागुन मास।
एकादसि तिथि सेत पख बुरहनपुर सुखबास॥
तहँ कोबिद सुभ ए लिखे भिन्न भिन्न अधिकार।
देखत ही कछु समुझियै जिन तैं अर्थ-बिचार॥
सुनि कबि के ए सुभ बचन अवगुन तजि गुन लेइ।
जग मैं सो नीकौ पुरष पुन्य-सीख जो देइ॥

इनसे विदित होता है कि यह क्रम कोविद कवि ने संवत् १७४२ में लगाया था, और वे 'बुरहनपुर' के रहनेवाले थे। मिश्र-बंधुविनोद में कोविद कवि के विषय में लिखा है कि इनका नाम चन्द्रमणि मिश्र था और ये महाराजा पृथ्वीसिंह दतिया नरेश तथा उदोतसिंह के यहाँ थे। इनका रचनाकाल संवत् १७३७ बतलाया है और इनके बनाए दो ग्रंथ लिखे हैं—(१) भाषा हितोपदेश, तथा (२) राजभूषण। इनको सुकवि भी कहा है।

इस क्रम की केवल एक प्रति हमको पंडित दुलारेलाल जी भार्गव के द्वारा जयपुर-निवासी पंडित हनुमान शर्मा जी से प्राप्त हुई है, जिसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं। यह संवत् १८५० की लिखी हुई है। इस क्रम पर कोई टीका अद्यावधि हमको नहीं मिली है।

(३)

पुरुषोत्तमदास जी का क्रम

तीसरा क्रम पुरुषोत्तमदास जी का बाँधा हुआ है। इस क्रम की, मूल तथा सटीक, प्रतियाँ कई एक हमारे पास हैं। इनमें से हरिप्रकाश टीका के अतिरिक्त और किसी में भी यह नहीं लिखा है कि यह क्रम पुरुषोत्तमदास का लगाया हुआ है। केवल हरिप्रकाश टीका के आदि में यह लिखा है कि "पुरुषोत्तम दास जी को बांध्यौ क्रम है ताके अनुसार टीका।" हमारी मूल की प्रतियों में से सबसे प्राचीन प्रति अनुमान से १५० वर्ष की लिखी हुई ज्ञात होती है। यह हमको श्रीवृंदावन-निवासी पंडित केशवदेव जी से प्राप्त हुई थी। इसी प्रति के अनुसार हम इस क्रम का विवरण करते हैं। इसमें ७०० दोहे हैं, जिनमें से ये तीन दोहे बिहारीरत्नाकर में नहीं आए हैं—

ताहि देखि मन तीरथनि बिकटनि जाइ बलाइ।
जा मृगनैनी के सदा बेनी परसति पाइ॥
पावस कठिन जु पीर अबला क्यौं करि सहि सकै।
तेऊ धरत न धीर रक्तबीज-सम ऊपजे॥

सपत बड़े फूलत सकुचि सब-सुख केलि-निवास।
अपत सु कैर फलै बहुत मन मैं मानि हुलास॥

और बिहारीरत्नाकर के ८०, १३९, १८२, ४१८, ५०३, ६१४, ६१९, ६७८, ६९२, ७०५, ७०७, ७०९, ७१०, ७११, ७१२, तथा ७१३ अंकों के दोहे इसमें नहीं हैं। इस गणना से ७१३ दोहों का लेखा पूरा लग जाता है। अंत में क्रम-कर्त्ता के १२ दोहे दिए हैं। उनमें से अंत के दो दोहे ये हैं—

रस-सुख-दायक भक्तिमय जामैं नवरस-स्वाद।
करी बिहारी सतसई राधाकृष्ण-प्रसाद॥
जद्यपि है सोभा सहज मुक्तनि तऊ सु देखि।
गुहैं ठौर की ठौर तैं लर मैं होति बिसेषि॥

इनमें से दूसरे दोहे से बिहारी के दोहों का पहले बिना किसी साहित्यिक क्रम के होना तथा पुरुषोत्तमदास जी का उनको अपने मतानुसार एक क्रम में स्थापित करना व्यंजित होता है। इस क्रम की और प्रतियाँ जो हमारे पास हैं उनमें दो चार दोहों का न्यूनाधिक्य तथा स्थान-परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। पर यह ७०० संख्या पुरुषोत्तमदास जी के क्रम ही की ज्ञात होती है, क्योंकि हरिचरनदास जी ने भी अपनी टीका के अंत में लिखा है कि "श्री बिहारी जी की करी प्राचीन पोथी है तामें ७०० दोहा हैं। और दोहा बीच बीच में और लोगनि नै राखे हैं, तासौं बढ्यौ है"।

ज्ञात होता है कि हरिचरनदास जी को जो पुरुषोत्तमदास जी के क्रम की पुस्तक मिली थी, उसमें ७०० ही दोहे थे। पर अन्य पुस्तकों में उनके देखने में इससे अधिक दोहे आए, जिसके कारण उन्होंने जहाँ तहाँ कुछ परिवर्तन तथा न्यूनाधिक्य करके अपनी टीका में ७१२ दोहे ग्रहण किए, और अंत में पुरुषोत्तमदास जी का "जद्यपि है सोभा इत्यादि" दोहा लिख कर और कृष्ण कवि का "व्रजभाषा बरनी इत्यादि" दोहा कुछ परिवर्तित रूप में रख कर ग्रंथ की समाप्ति की। हरिप्रकाश टीका का विशेष विवरण अन्य टीकाओं के साथ यथास्थान किया जायगा।

पुरुषोत्तमदास जी महाराज छत्रसाल बुँदेला की सभा के कवि थे। शिवसिंहसरोज में इनका यह कवित्त भी छत्रसाल की प्रशंसा का दिया है—

कवि पुरुषोतम तमासै लगि रह्यौ भानु,
बीर छत्रसाल अदभुत जुद्ध ठाटे हैं।
बाहर नरेस के सवाद (?) रजपूत लरैं,
मारैं तरवारैं गज बादर से फाटे हैं।
सिंधु लोहू कुंडनि गगन झुंडा-झुंडनि सौं,
रिपु रुंडा-मुंडनि सौं खंड सबै पाटे हैं।
चरबी-चखैयनि की परबी समरबोच,
गरबी मगरबी सो करबी से काटे हैं॥

देवकीनंदन-टीका में बिहारी का छत्रसाल के यहाँ जाना तथा उनकी कविता का वहाँ आदर होना लिखा है। यदि यह बात सच है तो यह अनुमान करना चाहिए कि सतसई की कोई प्रति वहाँ रख ली गई थी, उसमें पुरुषोत्तमदास जी ने कोई क्रम न देखकर, अपनी मति के अनुसार यह क्रम बाँध डाला। यह क्रम साहित्यिक दृष्टि से विशेष गौरव का नहीं है। इसको भी कोविद कवि के क्रम के प्रकार का एक सामान्य क्रम समझना चाहिए।

इस क्रम की रचना का संवत् कहीं लिखा नहीं मिलता, पर, पुरुषोत्तमदास जी के महाराज छत्रसाल बुंदेला की सभा के कवि होने के कारण, हमने अनुमान से इस क्रम की रचना संवत् १७४० तथा १७५० के बीच में मानी है, क्योंकि लाल कवि के छत्रप्रकाश के अनुसार छत्रसाल ने संवत् १७२८ में, जब कि वह २२ वर्ष के थे, अपना विजय-संग्राम आरंभ किया था। उनको प्रसिद्ध होने तथा इस प्रकार की शांति प्राप्त करने में, कि उनकी सभा के कवियों को सतसई के क्रम लगाने की सूझे, पंद्रह बीस वर्ष अवश्य ही लगे होंगे। पर यह भी संभव है कि यह क्रम कोविद कवि के क्रम के पहले ही लगाया गया हो। क्योंकि

यदि बिहारी का बुंदेलखंड जाना सत्य है तो वह वहाँ संवत् १६३० के आस पास गए होंगे। इस अनुमान का यह कारण है कि उस समय उनकी अवस्था ७५—८० वर्ष की रही होगी। पर ऊपर लिखे हुए कारण तथा कोविद कवि के क्रम में पुरुषोत्तमदास जी के क्रम की अपेक्षा बिहारी की निज क्रम की प्रतियों से अधिक मिलान पाकर, हमने पुरुषोत्तमदास जी के क्रम का समय कोविद कवि के समय के पश्चात् अनुमानित किया है।

इस क्रम पर ६ टीकाएँ हमारे देखने में आई हैं—(१) अमर-चंद्रिका, (२) हरिप्रकाश, (३) जुलफकार खाँ की कुंडलिया, (४) बिहारी-बोधिनी, (५) गुलदस्तए बिहारी तथा (६) श्री रामवृक्ष शर्म्मा की टीका और यदि रस-चंद्रिका का क्रम हमारी प्रति का ठीक माना जाय तो वह भी। इन टीकाओं का विवरण अन्य टीकाओं के साथ यथास्थान किया जायगा।

(४)

अनवर-चंद्रिका का क्रम

सतसई का चौथा क्रम, संवत् १७७१ में, अनवर-चंद्रिका टीका के कर्त्ताओं, शुभकरण तथा कमलनयन कवियों, ने बाँधा। यह क्रम रसनिरूपण-क्रम के अनुसार है, और इसको सतसई के सम्यक् साहित्यिक क्रम होने की प्रतिष्ठा प्राप्त है। अनवर-चंद्रिका को वास्तव में एक रस-निरूपण का ग्रंथ कहना चाहिए, जिसके उदाहरणों में बिहारी के दोहे रखे गए हैं। जहाँ जहाँ ग्रंथकर्त्ताओं को बिहारी के दोहों में, अपनी समझ के अनुसार, उपयुक्त उदाहरण नहीं मिले, अथवा ऐसे दोहे, जो उन स्थानों पर रखे जा सकते हैं, पर और विषयों के उदाहरणों में आ चुके थे, वहाँ वहाँ उन्होंने अन्य कवियों के अथवा अपने दोहे इत्यादि रख दिए हैं।

अनवर-चंद्रिका की भिन्न भिन्न प्रतियों में कई एक दोहों का न्यूनाधिक्य तथा कई एक दोहों के स्थानों में परिवर्तन दिखाई देता है। अतः हमने कई एक प्रतियों के आधार पर एक प्रति दोहों की

संख्या तथा क्रम ठीक करके बनाई है। उसी के अनुसार अनवर-चंद्रिका के क्रम तथा संख्या के विषय में लिखा जाता है।

अनवर-चंद्रिका १६ प्रकाशों में विभक्त है, जिनका ब्योरा यह है—

(१) प्रथम प्रकाश, प्रभुवंश-वर्णन, १३ छंद।

(२) द्वितीय प्रकाश, साधारण-नायिका-वर्णन, ३५ छंद।

(३) तृतीय प्रकाश, सिख-नख वर्णन, ८७ छंद।

(४) चतुर्थ प्रकाश, मुग्धादि-त्रिविधनायिका-वर्णन, २१ छंद।

(५) पंचम प्रकाश, अष्टनायिका-वर्णन, ११७ छंद।

(६) षष्ठ प्रकाश, गर्विता-वर्णन, ४ छंद।

(७) सप्तम प्रकाश, मानिनी-वर्णन, ४४ छंद।

(८) अष्टम प्रकाश, सुरति-सुरतान्त-वर्णन, २६ छंद।

(९) नवम प्रकाश, परकीया-वर्णन, १३८ छंद।

(१०) दशम प्रकाश, दशदशा-वर्णन, ११ छंद।

(११) एकादश प्रकाश, सात्विकभाव-वर्णन, ९ छंद।

(१२) द्वादश प्रकाश, मद्यपान-वर्णन, ६ छंद।

(१३) त्रयोदश प्रकाश, हाव-वर्णन, ११ छंद।

(१४) चतुर्दश प्रकाश, नवरसादि-वर्णन, ८० छंद।

(१५) पंचदश प्रकाश, षट्ऋतु-वर्णन, ४३ छंद।

(१६) षोडश प्रकाश; अन्योक्ति-वर्णन, ७२ छंद।

इन सोलह प्रकाशों में से प्रथम प्रकाश के १३ छंद तो स्वयं टीकाकारों के हैं। उनमें ग्रंथ की अवतरणिका कही गई है। शेष पंद्रह प्रकाशों में मुख्य ग्रंथ-भाग रचा गया है। इनमें ७०४ छंद संकलित किए गए हैं। इन ७०४ छंदों में २२ छंद तो ऐसे हैं जो बिहारी-रत्नाकर में नहीं आए हैं, और ३१ दोहे बिहारी-रत्नाकर के इनमें नहीं हैं। वे दोहे इन अंकों के हैं—३९, ४७, ५७, ९२, १०८, १२६, १३९, १७०, १९३, २३४, २८९, ३५६, ३८५, ४१६, ४५३, ५०३, ५३३, ५६८, ५९९, ६११, ६१४, ६४२, ६७८, ६९२, ७०४, ७०५, ७०७, ७०९, ७१०, ७१२ तथा ७१३। इस

प्रकार बिहारी-रत्नाकर के ७१३ दोहों का लेखा लग जाता है। २२ छंद जो अनवर-चंद्रिका में बिहारी-रत्नाकर से अधिक ठहरते हैं उनमें ये तीन छंद स्वयं ग्रंथकर्ता शुभकरण जी के हैं—

लखि दुर्जन अनवर प्रबल कीन्यौ कोप कराल।
चढ़ीं भृकुटि फरके अधर भए नैन जुग लाल ॥ ५२९ ॥
अनवर खाँ के खेत अरि-सिरदारनि सिर बए।
फिरि उपजे इहिँ हेत अरि-तिय-दृग जल थल भरत ॥५३४॥
देखत अनवर खाँ बदन दुवन दवै हहराइ।
बढ़ गौ कंप रोवाँ उठे बदन गयौ पियराइ ॥ ५३६ ॥

और यह एक बरवै खानखाना का है—

बरि गइ हाथ उपरिया रहि गइ आगि।
घर की बाट बिसरि गइ गहनै लागि ॥ ४८३ ॥

शेष १८ दोहे बिहारी-रत्नाकर के द्वितीय उपस्करण के ८, ७६ से ८२ तक तथा १३३ से १४२ तक के अंकों पर दिए हैं। उनमें से ८ तथा १३३ से १४२ तक के अंकों के ११ दोहे तो मतिराम के हैं और ७ दोहे संदिग्ध हैं; इन सात दोहों में से कई एक के स्वयं ग्रंथकार के होने की संभावना है।

आज तक जितने क्रम बिहारी सतसई के हमारे देखने में आए हैं उनमें, आज़मशाही क्रम को छोड़कर, अनवरचंद्रिका का क्रम, साहित्यिक दृष्टि से, सभों से उत्तम तथा सशृंखल है, प्रत्युत किसी किसी बात में तो वह आज़मशाही क्रम से भी अच्छा है। इस क्रम पर चार टीकाएँ, हमारे देखने में आई हैं—(१) स्वयं अनवरचंद्रिका, (२) साहित्यचंद्रिका, (३) प्रतापचंद्रिका और (४) रणछोड़ जी दीवान की टीका। इन टीकाओं तथा इनके टीकाकारों का वर्णन अन्य टीकाओं के साथ आगे किया जायगा।

(५)

आज़मशाही क्रम

पाँचवाँ क्रम आज़मशाही कहलाता है। यह जौनपुर के रहने-वाले हरजू नामक कवि ने आज़मगढ़ के तत्सामयिक अधिकारी,

आज़म खाँ के अनुरोध से संवत् १७८१ में लगाया था। यह क्रम विभावानुभावादि साहित्यिक शृंखला के अनुसार है, और अद्यावधि जितने क्रम हमारे देखने में आए हैं, उन सभों में श्रेष्ठ है। इस क्रम की कई एक हस्तलिखित तथा छपी हुई, मूल एवं सटीक पुस्तकें हमारे पास हैं। लालचंद्रिका टीका इसी क्रम पर बनाई गई है। इस क्रम की सबसे प्राचीन पुस्तक जो हमारे पास है वह संवत् १७९१, अर्थात् क्रम बाँधे जाने के दस ही वर्ष पीछे की लिखी हुई है। वह हमको काशी-निवासी पंडित चुन्नीलाल जी औदीच्य की कृपा से प्राप्त हुई है। उसी को प्रामाणिक मानकर, उक्त क्रम का विवरण नीचे लिखा जाता है।

इस क्रम के अंतिम दोहे पर ७१८ अंक है। इन ७१८ दोहों में एक दोहा अर्थात् "यौं दल काढ़े इत्यादि" तो दो बार आया है। उसके घटा देने पर जो ७१७ दोहे बच जाते हैं उनमें से ९ दोहे ऐसे हैं जो बिहारी-रत्नाकर में नहीं आए हैं, और बिहारी रत्नाकर के १७०, २६२, ३२४, ४१५, तथा ५९५ संख्याओं के दोहे इसमें नहीं आए हैं। पर लालचंद्रिका में ये पाँचों दोहे पाए जाते हैं, और इस क्रम की और किसी किसी प्रति में भी इनमें से कोई कोई मिलते हैं। इस प्रति के नौ अधिक दोहों में से ८ तो दूसरे उपस्करण के ७९ ८२ तथा ८५ से ९० तक के अंकों पर समाविष्ट हैं, और एक दोहा, जो उक्त उपस्करण में छूट गया है, यह है—

"को कहि सकै बड़ेनु सौं बड़े बंस की खानि।
भलौ भलौ सब कोउ कहै घुवाँ अगर कौ जानि ॥६२५॥

इस प्रति के अंत में ये तीन दोहे हैं—

जद्यपि है सोभा घनी मुक्ताहल मैं देखि।
गुहैं ठौर की ठौर तैं लर मैं होति बिसेषि॥
सतरह सै एकासिया अगहन पाँचैं सेत।
लिखि पोथी पूरन करी आज़म खाँ के हेत॥
धर्यौ कछुक क्रम जानि कै नायिकादि-अनुसारि।
सहर जौनपुर मैं बसत हरजू सुकवि विचारि॥

इन तीनों दोहों में से पहला दोहा तो हरजू ने पुरुषोत्तमदास जी के क्रम की किसी प्रति से उद्धृत कर लिया है, और अवशिष्ट दो दोहे उनके अपने लिखे हैं।

एक यह बात यहाँ पर ध्यान देने योग्य है कि, "संवत् ग्रहससि जलधि इत्यादि" दोहा न तो इस प्रति में है और न इसके भी पूर्व की प्रति में ही है, जो प्रति भी उक्त पंडित चुन्नीलाल ही जी के पास है, और जो कि क्रमकर्त्ता के क्रम लगाते समय की पांडुलिपि (मसौदा) प्रतीत होती है।

आज़मशाही क्रम के विषय में प्रायः लोगों की धारणा है कि यह बादशाह औरंगज़ेब के बेटे, आज़मशाह ने, बहुत से कवियों को एकत्र करके, बँधवाया था। पर यह बात सर्वथा निर्मूल तथा अप्रामाणिक है। इस धारणा के प्रचार के मुख्य तथा आदि कारण लालचंद्रिका के कर्त्ता लल्लूलाल जी हैं। उन्होंने अपनी टीका की भूमिका के 'ग्रंथ-वर्णन' शीर्षक के अंतर्गत यह लिखा है—"क्योंकि आज़मशाह ने बहुत कवियों को बुलवाया, बिहारी सतसई को शृंगार के और ग्रंथों के क्रम से क्रम मिलाय लिखवाया इसी से आज़मशाही सतसई नाम हुआ।" लल्लूलाल जी ने, आज़मशाह के विषय में, उसका औरंगज़ेब का बेटा, अथवा दिल्ली का बादशाह होना स्पष्ट रूप से तो नहीं लिखा है, तथापि शाह शब्द के प्रयोग और लिखने के ढंग से व्यंजित यही होता है। कदाचित् उनके इसी वाक्य से धोखा खा कर, सर जी० ए० ग्रियरसन साहब ने भी इसको आज़मशाह बादशाह ही का बँधवाया हुआ क्रम मान लिया, और लालचंद्रिका के निज संस्करण की भूमिका में यही बात लिख दी। ग्रियरसन साहब की देखादेखी, स्वर्गवासी साहित्याचार्य सुकवि पंडित अम्बिकादत्त व्यास जी ने भी, अपने बिहारी-बिहार की भूमिका में, यही मत स्वीकृत कर लिया।

वास्तव में आज़मशाही क्रम जौनपुर-निवासी हरजू कवि ने आज़मगढ़ के प्रांताधिपति आज़मखाँ के निमित्त, जो कि अपने भाई

के डर से भाग कर बहुत दिनों तक जौनपुर में रहा था, बाँधा था। आज़मगढ़ के गज़ेटियर से ज्ञात होता है कि मुहब्बत खाँ नामक कोई व्यक्ति संवत् १७५७ के आस पास आज़मगढ़ का प्रान्तपति था। उसके पश्चात् उसका बेटा, इरादत खाँ, उपनाम अकबर शाह उसका स्थानापन्न हुआ। इरादत खाँ के तीन भाई और थे जिनके नाम सूफ़ी बहादुर, जहांगीर तथा हुसेन थे। सूफ़ी बहादुर तथा हुसेन के कोई संतान नहीं हुई। पर जहांगीर के दो बेटे थे—आज़म और जहांयार, और इरादत खाँ के एक दासीपुत्र जहाँशाह था। इरादत खाँ के मरने के पश्चात् जहाँशाह को दासीपुत्र समझकर, आज़म खाँ अपना प्रभुत्व जमाने लगा। पहले तो इन दोनों का झगड़ा बटवारा होकर निबट गया, पर फिर जहांशाह ने आज़म खाँ को भगा दिया और वह जौनपुर में जा रहा। यह घटना संवत् १७८१ के १०-५ वर्ष पूर्व की अनुमानित होती है, क्योंकि हरजू कवि ने अपना क्रम संवत् १७८१ में बांधा। आज़म खाँ के मरने का संवत् उक्त गज़ेटियर में १८२८ लिखा है।

मिश्रबंधु-विनोद में लिखा है कि हरजू कवि आज़मगढ़ के ब्राह्मण थे। उन्होंने संवत् १७६२ में भाषा-अमरकोष बनाया। उनके आश्रयदाता आज़मगढ़ाधीश आज़म खाँ थे।

शिवसिंहसरोज में, हरजू की उपस्थिति संवत् १७०५ में लिखी है, और इनके कवित्तों का कालिदास के हज़ारे में होना बतलाया है। इस संवत् के उल्लेख में कुछ अशुद्धि प्रतीत होती है। इनका बनाया हुआ यह कवित्त भी शिवसिंह ने उद्धृत किया है—

माया के निसान जे निसान अपकीरति के,
जानत जहान कहूँ कहूँ उसरन सों।
कुंज सी कुए ही अंग ऐबी गुमराही गुनी,
देखि अनखाइ परो पाप ककुरन सों॥
हरजू सु कवि कहै बचन अमोलन के,
जाति कुरबान न बसाति असुरनि सों।

माँगत इनाम करतार पै पुकारि कहौं,
परै जनि काम ऐसे सूम ससुरन सौं ॥*

इस क्रम का 'आज़मशाही' नाम भी धोखे का एक कारण है। वास्तव में इसका नाम 'आज़मखानी' होना समुचित है, और इस क्रम के बाँधने वाले हरजू ने स्वयं लिखा भी है कि यह क्रम 'आज़म खाँ' के लिए बाँधा गया। उन्होंने इसका नाम आज़मशाही कहीं नहीं कहा है। यह नाम इसको कदाचित् लल्लूलाल जी ही ने प्रदान किया हो तो आश्चर्य नहीं, अथवा उनके पूर्व भी, संभव है कि, यह क्रम इसी नाम से विख्यात रहा हो, क्योंकि आज़म खाँ के कई एक पूर्वज शाह भी कहलाते थे, अतः संभव है कि वह आज़मशाह भी कहलाता हो।

इस क्रम पर पाँच टीकाएँ हमारे पास हैं—(१) लल्लूलालजी की लालचंद्रिका, (२) पंडित ज्वालाप्रसाद मिश्र जी की भावार्थप्रकाशिका, (३) पंडित अंबिकादत्त व्यास जी की बिहारीबिहार टीका, (४) पंडित पद्मसिंहजी का संजीवन भाष्य, जो कि अभी पूरा नहीं हुआ है, तथा (५) पंडित परमानंद भट्ट जी की शृंगार-सप्तशती। इनका विवरण अन्य टीकाओं के साथ किया जायगा।

(६)

कृष्णदत्त का क्रम.

छठा क्रम कृष्णदत्त कवि ने संवत् १७८२ में लगाकर उसपर कवित्तबंध टीका की। यह टीका नवलकिशोर प्रेस में कई बार छप चुकी है, पर ऐसी अशुद्ध तथा छोड़-छाड़ कर छपी है कि जिसका कुछ ठिकाना नहीं। हमने कई एक हस्तलिखित प्रतियों से अपनी प्रति यथासंभव शोध कर तथा क्रम ठीक कर के, बिहारीरत्नाकर के दोहों की सूची में उसी के अंक दिए हैं। पाठकों को यद्यपि ये अंक ज्यों के त्यों तो छपी हुई पुस्तक में न मिलेंगे तथापि इन अंकों के दस पाँच अंक आगे पीछे अभीष्ट दोहा मिल जायगा। कृष्ण

* इस कबित्त के पाठ में बहुत अशुद्धि है।

कवि का क्रम उनकी छपी हुई पुस्तक में द्रष्टव्य है। शुद्ध की हुई प्रति के अनुसार उसका वर्णन यहाँ किया जाता है।

इस क्रम में ६९९ दोहे ग्रहण किए गए हैं, जिनमें से एक दोहा ऐसा है जो बिहारीरत्नाकर में नहीं आया है। वह दोहा बिहारी-रत्नाकर के दूसरे उपस्करण की ८२ संख्या पर दिया गया है, और पंद्रह दोहे इसमें बिहारीरत्नाकर के नहीं आए हैं, जिनका ब्योरा बिहारीरत्नाकर की सूची से ज्ञात हो सकता है।

यह क्रम कोविद कवि तथा पुरुषोत्तमदास जी के क्रमों की भाँति वैषयिक ही है, और साहित्यिक दृष्टि से कुछ विशेष उपयोगी तथा गौरवान्वित नहीं है। इस क्रम पर तीन टीकाएँ हमारे पास हैं—(१) स्वयं कृष्णदत्त कवि की टीका, (२) प्रभुदयाल पांडेजी की टीका और (३) कवि सवितानारायण की गुजराती टीका। इनका विवरण अन्य टीकाओं के साथ किया जायगा।

(७)

रसचंद्रिकाकार ईस्वी खाँ का क्रम

रसचंद्रिका के विषय में पंडित अंबिकादत्त व्यास ने बिहारी-बिहार की भूमिका में लिखा है कि इसका क्रम सब से विलक्षण है, अर्थात् इसमें दोहे अकारादि क्रम से हैं। पर हमारे पास जो रसचंद्रिका की प्रति है उसमें दोहे पुरुषोत्तमदास जी के क्रम के अनुसार हैं। अतः हम इसके क्रम के विषय में कुछ विशेष नहीं कह सकते। यदि वास्तव में टीकाकार ने अकारादि क्रम से दोहे रखे हैं तो इस क्रम को सातवाँ क्रम मानना चाहिए, क्योंकि यह टीका संवत् १८०९ में बनी थी। इस क्रम, टीका तथा टीकाकार का विशेष वर्णन अन्य टीकाओं के साथ किया जायगा।

(८)

पंडित अंबिकादत्त-व्यास-वर्णित गद्य संस्कृत टीका का क्रम

स्वर्गवासी साहित्याचार्य पंडित अंबिकादत्त व्यास ने बिहारीबिहार की भूमिका में एक गद्य-संस्कृत टीका का वर्णन किया है। उसकी जो प्रति

उनको प्राप्त हुई थी उसमें उसके रचना-काल तथा रचयिता का नाम इत्यादि कुछ नहीं लिखा था। अतः उसके समय के विषय में निश्चय-पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। पर व्यास जी को जो उसकी प्रति मिली थी वह संवत् १८४४ की लिखी हुई थी। अतः हम उस क्रम के बाँधे जाने का काल संवत् १८४४ के दस बीस वर्ष पूर्व मानकर उसको रसचंद्रिका के पश्चात्, अर्थात् आठवाँ, स्थान देते हैं।

यद्यपि व्यास जी ने इसके दोहों के अंक जो अपनी सूची में दिए हैं, उनके अन्वेषण से इसका क्रम ज्ञात हो सकता है तथापि हम उक्त पुस्तक को बिना देखे उसके क्रम के विषय में कुछ विशेष कहना समुचित नहीं समझते। व्यास जी ने जो इसके २५ अधिक दोहे बिहारीबिहार के अंत में लिखे हैं उनमें से दो तो बिहारीरत्नाकर में विद्यमान हैं और शेष २३ हमने बिहारीरत्नाकर के द्वितीय उपस्करण के ३७, ८५ तथा ९१ से १११ तक के अंकों पर सन्निविष्ट कर दिए हैं।

इस क्रम पर केवल एक यही टीका हमको ज्ञात हुई है जिसका कुछ विवरण अन्य टीकाओं के साथ किया जायगा।

(९)

आर्यगुंफ के कर्त्ता पंडित हरिप्रसाद का क्रम

नवाँ क्रम आर्यगुंफ में देखने में आता है। यह क्रम काशी-राज महाराज चेतसिंह के सभा-पंडित हरिप्रसाद ने संवत् १८३७ में लगा कर उसके एक एक दोहे का संस्कृत-अनुवाद एक एक आर्या छंद में किया था। यह पुस्तक स्वयं हमने नहीं देखी है। पर पंडित अंबिकादत्त व्यास जी ने जो इसके दोहों के अंक अपने बिहारी-बिहार की सूची में दिए हैं, तथा जो इसके ८ अधिक दोहे बिहारी-बिहार के अंत में लिखे हैं, उनसे ज्ञात होता है कि ऊपर कहे हुए क्रमों से इसका क्रम कुछ पृथक् ही है, और इसमें सब मिलकर ६५८ दोहे रखे गए हैं। जो ८ दोहे अधिक हैं उनको तो हमने बिहारी-रत्नाकर के दूसरे उपस्करण के ८९ एवं ११२ से ११८ तक के अंकों पर सन्निविष्ट कर दिया है, पर उक्त पुस्तक को बिना

स्वयं देखें हम उसके क्रम के विषय में कुछ विशेष लिखना उचित नहीं समझते।

इस क्रम पर केवल एक इसी आर्यगुंफ टीका का विवरण हमको मिला है, जिसका वर्णन अन्य टीकाओं के साथ होगा।

(१०)

देवकीनंदन की सतसैया वर्णार्थ-टीका का क्रम

दसवाँ क्रम देवकीनंदन की टीका में मिलता है। यह क्रम काशी के बाबू देवकीनंदनसिंह जी के कवि ठाकुर का बाँधा हुआ है। उन्होंने संवत् १८६१ में यह क्रम लगाकर इस पर एक टीका भी की थी। ठाकुर कवि का वृत्तांत इस टीका के विवरण में द्रष्टव्य है।

इसका क्रम पुरुषोत्तमदास जी के क्रम से बहुत कुछ मिलता जुलता है। पर तो भी है पृथक् ही। इस क्रम को भी वैषयिक क्रम समझना चाहिए जिसको विशेष गौरव का क्रम नहीं कह सकते। इसमें सब ७०८ दोहे रखे गए हैं, जिनमें चार दोहे दोहराकर आए हैं। शेष ७०४ दोहों में ८ दोहे ऐसे हैं जो बिहारीरत्नाकर में नहीं हैं, और बिहारीरत्नाकर के, १९, १३९, १७०, २६२ ३०५, ३२४, ३३१, ३४५, ३६७, ४१५, ४३२, ४८१, ५१९, ५३१, ५७०, ५९५ तथा ६१४ अंकों के १७ दोहे इसमें नहीं हैं। बिहारीरत्नाकर से जो ८ दोहे इसमें अधिक रखे गए हैं, वे बिहारी-रत्नाकर के दूसरे उपस्करण के ८२, ८५, ८६, ८७, ८८, ९० ११९ तथा १२० अंकों पर दे दिए गए हैं।

इस क्रम पर दो टीकाएँ हमारे पास हैं—(१) यही देवकीनंदन की सतसैया-वर्णार्थ-टीका, तथा (२) संस्कृत गद्य टीका; जिनका वर्णन अन्य टीकाओं के साथ आगे किया जायगा।

(११)

प्रेम पुरोहित का क्रम

ग्यारहवाँ क्रम प्रेम पुरोहित जी का बाँधा हुआ है। इसकी एक प्रति हमारे विद्याभूषण जी जयपुर से लाए थे। इसमें क्रम

लगाने का समय नहीं दिया है, पर क्रम लगाने वाले का नाम प्रेम पुरोहित लिखा है, और आदि में जो ७ दोहे भूमिका-स्वरूप लिखे हैं उनसे इसके क्रम तथा क्रमकर्त्ता का कुछ वृत्तांत विदित होता है। पर उन दोहों में जो दोहों की गिनतियाँ लिखी हैं वे पुस्तक की गिनतियों से नहीं मिलतीं। इनमें से दूसरे तथा तीसरे दोहे ये हैं—

विप्र बिहारी नाम हुव सोती ख्याति प्रबीन।
तिन कबि साढ़े सात सै दोहा उत्तिम कीन॥ १॥
बीते काल अपार तैं भए व्यतिक्रम देखि।
करे अनुक्रम फेरि ते प्रोहित प्रेम बिसेषि॥ २॥

इनसे प्रकट होता है कि बिहारी के बहुत दिनों पश्चात् प्रेम पुरोहित नामक किसि कवि ने यह क्रम बाँधा था।

सातवें दोहे का उत्तरार्ध यह है—

करे अनुक्रम राम जू जातैं समुझैं छिप्र॥ ७॥

इससे ज्ञात होता है कि 'राम जू' नामक किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति के समझने के निमित्त यह क्रम लगाया गया था। इसमें जो 'राम जू' शब्द पड़ा है, उसको, कदाचित्, 'करे' क्रिया का कर्त्ता मानकर इस क्रम के कर्त्ता का नाम 'राम जू' तथा इस क्रम को टीका समझकर, मिश्रबंधुविनोद में १९८४ अंक पर राम जू को बिहारी सतसई का एक टीकाकार लिखा है, और उनका कविता-काल, संवत् १९०१ माना है। पर ऊपर लिखे हुए दोहों से प्रतीत होता है कि, यह एक क्रम विशेष मात्र है, और इस क्रम लगाने वाले का नाम प्रेम पुरोहित था। यह भी विदित होता है कि यह क्रम किसी 'राम जू' नामक प्रतिष्ठित पुरुष के समझने के निमित्त लगाया गया था। ये राम जू हमारे अनुमान से जयपुर के वे महाराज रामसिंह हो सकते हैं जो संवत् १८९१ में सिंहासनारूढ़ हुए थे, और बड़े विद्यानुरागी तथा कविता के गुणग्राहक थे, क्योंकि यह राम जू मिर्जा राजा जयशाही के पुत्र रामसिंह नहीं हो सकते। उनके समय में बिहारी को हुए अधिक दिन नहीं बीते थे, और इस पुस्तक के आरंभ के

तीसरे दोहे से ज्ञात होता है कि इस क्रम के बाँधते समय बिहारी सतसई को बने बहुत दिन हो चुके थे।

इस क्रम में ७५३ दोहे रखे गए हैं। उनमें से ७ दोहे तो दोहरा कर आए हैं, और शेष ७४६ दोहों में से ७१ ऐसे हैं, जो बिहारीरत्नाकर में नहीं आए हैं। इनके निकाल देने पर ६७५ दोहे रह जाते हैं। बिहारीरत्नाकर के ३८ दोहे इसमें नहीं हैं, जिनके मिला देने से ७१३ की संख्या पूरी हो जाती है। ७१ दोहे जो इसमें बिहारीरत्नाकर से अधिक हैं, उनमें ३ तो ऐसे हैं जो अन्य किसी पुस्तक में देखने में नहीं आते। वे बिहारीरत्नाकर के द्वितीय उपस्करण में ११३, १२१ तथा १२२ अंकों पर दिए हुए हैं। शेष ६८ उन ७३ दोहों में से हैं जो हमारी २ संख्यक प्राचीन पुस्तक में बिहारीरत्नाकर से अधिक पाए जाते हैं, और जो बिहारीरत्नाकर के दूसरे उपस्करण के आदि में रखे गए हैं। उक्त उपस्करण के ४, १०, १३, ५० तथा ७० अंकों के दोहे इस पुस्तक में नहीं हैं। बिहारीरत्नाकर के ३८ दोहे जो इसमें नहीं हैं वे बिहारी-रत्नाकर के इन अंकों के हैं,—३५, ४८, ४६, ६४, ७६, ८६, १३६, १८१, १८६, १६७, २५८, २५६, २६७, २७०, २८१, ३११, ३२७, ३६७, ४०८, ४५६, ४८२, ५११, ५५५, ५८४, ५८५, ५८६, ५६३, ५६६, ६०५, ६१४, ६२७, ६३४, ६५०, ६५६, ६६५, ६६२, ७०२ तथा ७१३। अधिक दोहों पर ध्यान देने से यह प्रतीत होता है कि यह संग्रह उस प्रति से किया गया है जो बिहारी के किसी शिष्य ने संवत् १७३६ में लिखकर गुरुद्वारे में अर्पित की थी, और जिसकी प्रतिलिपि अद्यावधि जयपुर में विद्यमान है। उक्त पुस्तक के विषय में जयपुर में यह प्रसिद्ध है कि, संवत् १७३६ में उसको, बिहारी के किसी शिष्य ने लिखकर श्री सम्राट् जी नामक जयपुर के गुरु-द्वारे के तत्कालीन अधिकारी को भेट किया था। अनुमान होता है कि प्रेम पुरोहित नामक कोई महाशय भी पीछे उक्त गुरुद्वारे के अधिष्ठाता हुए। उन्होंने उक्त प्रति से यह क्रम विषयानुक्रम के

अनुसार महाराज रामसिंह के पढ़ने के निमित्त लगाया। इससे संवत् १७३६ वाली प्रति का अस्तित्व तथा उसका प्रामाणिक होना प्रतीत होता है। इस क्रम में यह विलक्षणता है कि मंगलाचरण का दोहा "मेरी भव-बाधा इत्यादि" न होकर "प्रगट भए द्विजराजकुल इत्यादि" है। इस क्रम का संवत् १८६१ के पश्चात् लगाया जाना अनुमानित करके यह स्थान इसको दिया गया है।

इस क्रम पर कोई टीका हमारे देखने में नहीं आई।

(१२)

रसकौमुदी के कर्त्ता बाबा जानकीप्रसाद का क्रम

बारहवाँ क्रम रसकौमुदी में देखने में आता है। यह ग्रंथ श्री अयोध्या जी के कनक भवन नामक स्थान के महंत, श्री प्यारेराम जी, के शिष्य, बाबा जानकीप्रसाद जी ने संवत् १६२७ में रचा था। इसमें ३१६ दोहों के अर्थ सवैयों तथा कवित्तों में विस्तृत किए गए हैं, और वे दोहे एक नवीन क्रम से रखे गए हैं। इन ३१६ दोहों में ११ दोहे ऐसे हैं जो बिहारीरत्नाकर में नहीं आए हैं। वे दोहे बिहारीरत्नाकर के द्वितीय उपस्करण में दिए हुए हैं। उनका ब्योरा बिहारीरत्नाकर के प्रथम उपस्करण से विदित हो सकता है। रसकौमुदी का विशेष वर्णन अन्य टीकाओं के साथ किया जायगा।

[ऊपर लिखे हुए क्रमों के अतिरिक्त दो और क्रमों की पुस्तकें हमारे पास हैं। पर इन पुस्तकों के आद्यंत में क्रम लगने का समय कुछ नहीं लिखा है, अतः हम इनका वर्णन अंत में करते हैं, यद्यपि ये क्रम संभवतः ऊपर लिखे हुए क्रमों में से कई एक के पूर्व के बाँधे प्रतीत होते हैं।]

(१३)

कुलपति मिश्र के घराने वाली प्रति का क्रम

उक्त दोनों क्रमों में से एक क्रम की पुस्तक तो हमारे विद्याभूषण पंडित रामनाथ जी को कुलपति मिश्र जी के वंशज श्री पंडित

प्यारेलाल जी से जयपुर में प्राप्त हुई थी। इसके अंत में पुस्तक लिखे जाने का संवत् भी नहीं लिखा है। पर इसके अंत में 'सत्रह सै चालीस दुइ' इत्यादि दोहा जो कोविद कवि के क्रमवाली पुस्तक के अंत में मिलता है, लिखा है। इससे प्रतीत होता है कि यह क्रम, कोविद कवि के क्रम वाली किसी प्रति से; उसी के क्रम में कुछ हेरफेर तथा न्यूनाधिक्य करके, लगाया गया है। यह अनुमान इस बात से भी पुष्ट होता है कि यह क्रम कोविद कवि के क्रम से प्रायः मिलता है। आश्चर्य नहीं कि इस क्रम के बाँधने के निमित्त कुलपति मिश्र ने स्वयं ही कोविद कवि के क्रमवाली किसी प्रति पर दोहों के आगे पीछे करने के निमित्त कुछ चिह्न कर दिए हों, और फिर लेखक ने प्रमाद से कोविद कवि का संवत् वाला दोहा भी अंत में लिख दिया हो।

इस प्रति में सब ७०१ दोहे हैं, जिनमें २ दोहे दोहराकर आए हैं। उनके निकाल देने पर इसमें ६९९ दोहे रह जाते हैं। बिहारी-रत्नाकर के ३९,४९,५०,२०४,२२१,२२९,३२७,३३२,३४५,४३०, ४५१,४६४,४६७ तथा ६७९ अंकों के १४ दोहे इसमें नहीं आए हैं। इस गणना से ७१३ दोहों का लेखा पूरा हो जाता है। जो १४ दोहे बिहारीरत्नाकर के इसमें नहीं आए हैं, वे कदाचित् लेखक के प्रमाद से छूट गए हैं, क्योंकि कोविद कवि के क्रमवाली प्रति में पूरे ७१३ दोहे विद्यमान हैं। इस क्रम की दूसरी प्रति हमको पंडित दुलारेलाल जी भार्गव के द्वारा श्रीयुत रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद जी ओझा से प्राप्त हुई है। इस प्रति के तथा कुलपति मिश्र जी के घरानेवाली प्रति के केवल दो चार दोहों में कुछ हेर फेर है। यह प्रति संवत् १८५७ की लिखी हुई है, और इसके अंत में कोविद कवि का संवत् वाला दोहा नहीं है। यदि इस क्रम के कुलपति मिश्र के द्वारा लगाए जाने का अनुमान ठीक हो तो इस क्रम का लगाया जाना संवत् १७५० के आस पास मानना चाहिए, और इस गणना पर कालक्रम के अनुसार इसको दूसरा अथवा तीसरा क्रम मानना उचित है। इस क्रम के पुराने होने का एक यह भी

प्रमाण है कि इसमें बिहारी के निजक्रम की प्रतियों के दोहों से अधिक दोहा कोई नहीं है।

कुलपति मिश्र आगरे के रहनेवाले प्रसिद्ध कवि श्री बिहारीदास जी के भानजे थे। संवत् १७२७ में उन्होंने रस-रहस्य नाम का एक सुंदर रीति-ग्रंथ जयपुराधीश रामसिंहजी की आज्ञा से रचा। उसमें उन्होंने अपना परिचय यों दिया है—

"बसत आगरे आगरे गुनियनु की जहँ रास।
बिप्र मथुरिया मिश्र हैं हरिचरननु के दास॥ २०८॥
अभय मिश्र, तिन बंस मैं परसुराम जिमि राम।
तिनकैं सुत कुलपति कियौ रस-रहस्य सुखधाम॥ २०९॥
जिते साज हैं कबित के मम्मट कहे बखानि।
ते सब भाषा मैं कहे रस-रहस्य मैं जानि॥ २१०॥
संवत् सत्रह सौ बरस बीते सत्ताईस।
कातिक बदि एकादसी बार बरनि बानीस॥ २११॥

फिर संवत् १७३३ में महाराज रामसिंह ही के कहने से उन्होंने संग्राम-सार नामक ग्रंथ बनाया। उक्त ग्रंथ में उन्होंने पंडितराज श्री जगन्नाथ त्रिशूली की वंदना की है जिससे विदित होता है कि वे उक्त पंडितराज के शिष्य एवं संस्कृत के भी पंडित थे।

"सब्द, जोग, नय, सेस-नाग, गौतम, कनाद मुनि।
सांख्य कपिल, औ व्यास ब्रह्म-पथ, कर्मनु जैमुनि॥
बेद अंगजुत पढ़े सील-तप रिषि बसिष्ट-सम।
अलंकार-रस-रूप, अष्ट-भाषा-कवित्त-क्रम॥
तैलंग बेलनाड़ीय द्विज जगन्नाथ तिरसूलि बर।
साहिज्जहानं दिल्लीस किय पंडितराज प्रसिद्ध धर॥ ४॥
उनके पद कौ ध्यान धरि इष्ट-देव-सम जानि।
उकति जुकति बहु भेद भरि ग्रंथहिं कहौं बखानि॥ ५॥"

अपनी संस्कृतज्ञता के विषय में उन्होंने स्वयं भी यों कहा है—

"हुते तहाँ पंडित बहुत भाषा कब्यौ अनेक।
दुहूँ ठौर परबीन नृप देख्यौ कुलपति एक॥ १२॥"

उसी ग्रंथ में उन्होंने अपने मातामह केशव का भी स्मरण किया है, और उनको कविवर कहा है—

"कबिबर मातामह सुमिरि केसौ केसौ-राइ।
कहौं कथा भारत्थ की भाषा-छंद बनाइ॥ २६॥"

इस दोहे को बिहारी के सुप्रसिद्ध दोहे—

"प्रगट भए द्विजराज-कुल, सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरे हरौ कलेस सब केसौ केसौ-राइ॥"

से मिलाने पर दोनों दोहों के केशव के एक ही होने की प्रतीति होती है, और कुलपति मिश्र के विषय में जो उनका बिहारी का भानजा होना कहा जाता है, उसकी पुष्टि॰ यह केशव कौन थे, यह प्रश्न बड़ा गूढ़ है और इसके उत्तर पर बहुत कुछ निर्भर है। इसके विषय में बिहारी की जीवनी में यद्यपि विचार किया गया है, तथापि इसका संतोषजनक निर्णय अभी तक नहीं हो सका।

संवत् १७४३ में कुलपति मिश्र ने 'जुगतितरंगिनी' नामक दोहों का एक ग्रंथ बनाया। उसमें ७०४ दोहे हैं। ज्ञात होता है कि यह ग्रंथ उन्होंने बिहारी सतसई के जोड़ पर रचा। इसके आदि में उन्होंने संस्कृत तथा भाषा के सुप्रसिद्ध कवियों की वंदना की है। इन कवियों में केशवराय तथा बिहारी के नाम भी आए हैं। बिहारी का नाम केशव के पश्चात् ही आया है—

"जौ भाषा जान्यौ चहत रसमय सरल सुभाइ।
कविता केसौराय की तौ साँचौ चितु लाइ॥ २९॥
भाँति भाँति रचना सरस देव-गिरा ज्यौं ब्यास।
तौ भाषा सब कबिनु मैं बिमल बिहारीदास॥ ३०॥"

कुलपति मिश्र के समय तक सुप्रसिद्ध कवि केशवदास के अतिरिक्त और कोई कवि केशव नामधारी ऐसा विख्यात नहीं हुआ था

जिसका नाम वे सूरदासादि के साथ गिनाते। अतः इस दोहे के केशवराय से तो अवश्य ही सुप्रसिद्ध कवि, ओरछेवाले केशवदास ही, जो कि अपने को प्रायः केशवराय भी लिखते थे, अभिप्रेत हैं। फिर यदि जिन केशव को कुलपति ने अपना नाना कहा है वे भी यही हों तो कुलपति मिश्र उन्हीं प्रसिद्ध केशवदास के दौहित्र ठहरते हैं और बिहारी उन्हीं के पुत्र। केशव तथा बिहारी के नामों का सान्निध्य भी इसी बात की झलक देता है। पर इस संबंध के मानने में बाधा इतनी ही पड़ती है, जैसा कि बिहारी की जीवनी में कहा गया है कि केशवदास ने अपने को सनाढ्य लिखा है और कुलपति मिश्र ने अपने को माथुर विप्र। इसके अतिरिक्त बिहारी के विषय में भी जहाँ तहाँ माथुर विप्र ही लिखा मिलता है। यह सुना गया है कि चौबों में सनाढ्य भी होते हैं। यदि सनाढ्य चौबों में बिहारी के गोत्र इत्यादि भी होते हों तो, बिहारी के सुप्रसिद्ध केशवदास के पुत्र तथा कुलपति मिश्र के उन्हीं के दौहित्र मानने में कोई बाधा नहीं पड़ती। जो हो, यह बात है अभी संशयात्मक ही, जैसा कि बिहारी की जीवनी में भी लिखा गया है।

संवत् १७४९ में कुलपति मिश्र ने रामसिंह जी के पौत्र, विष्णुसिंह जी, की आज्ञा से दुर्गाभक्ति-चंद्रिका नामक ग्रंथ बनाया। यह संस्कृत दुर्गापाठ का अनुवाद-स्वरूप है। इसमें भी उन्होंने अपने को माथुर लिखा है।

कुलपति जी ने जो बिहारी-सतसई का क्रम लगाया है उस पर कोई टीका हमारे देखने सुनने में नहीं आई है।

(१४)

केवलराम कवि का क्रम

इस क्रम की जो पुस्तक हमारे पास है उसमें भी क्रम बाँधने का कोई संवत् नहीं दिया है। अंत में पुस्तक लिखे जाने का संवत् १९१२ लिखा है। सतसई प्रारंभ होने के पूर्व जो नौ दोहे क्रम-

कर्त्ता ने भूमिका-स्वरूप रखे हैं, उनमें से अंत के दो दोहों से विदित होता है कि इस क्रम के कर्त्ता केवलराम थे। वे दोहे ये हैं—

वहै बचनिका-रचन-रँग रसिक रँगे जिहिँ सुष्ट।
जो रस कौं पोषित करै 'केवल' वह रस-पुष्ट॥ ८॥
'केवल' कहु कंते कहित यह दयाल के हेत (?)।
बिबिध बिहारी-दोहरा बिलसत सुरस-समेत॥ ९॥

नवें दोहे के पूर्वार्ध का पाठ कुछ ऐसा अशुद्ध हो गया है कि उससे जिसके निमित्त यह क्रम लगाया गया उसका पता नहीं लगता। पर इस क्रम का बहुत प्राचीन होना इस बात से प्रमाणित होता है कि इसमें ७११ दोहे तो वेही हैं जो बिहारी के निज क्रम की प्रतियों में मिलते हैं, और बिहारीरत्नाकर के केवल दो दोहे अर्थात् "चलत देत आभारु इत्यादि", तथा "हुकुमु पाइ जयसाहि इत्यादि", नहीं हैं, और केवल एक दोहा "सघन कुंज जमुहाति इत्यादि" बिहारीरत्नाकर से इसमें अधिक है। इस न्यूनाधिक्य की स्वल्पता से यह कहा जा सकता है कि इस क्रम के लगाते समय सतसई में विशेष न्यूनाधिक्य नहीं हो चुका था। इसके क्रम में भी यह विलक्षणता है कि पहला दोहा "मेरी भव-बाधा इत्यादि", न होकर "सामाँ सेन सयान इत्यादि", है।

इस क्रम पर कोई टीका हमारे देखने में नहीं आई है।

इन चौदह क्रमों के अतिरिक्त जिनका विवरण ऊपर हुआ है, (१) पठान सुल्तान की कुंडलिया, (२) राजा गोपालशरण सिंह की टीका, (३) कवि रघुनाथ बंदीजन की टीका (४) सर्दार कवि की टीका, (५) धनंजय टीका, (६) गिरिधर की टीका, (७) रामबख़्श की टीका, (८) छोटूराम की वैद्यक टीका, (९) गंगाधर की उपसतसैया, (१०) महाराज मानसिंह जोधपुरवाले की टीका तथा (११) बिहारी सुमेर, इन ११ अप्राप्त टीकाओं के क्रम अज्ञात हैं। संभव है कि इन टीकाओं में से कई एक में भिन्न ही भिन्न क्रम हों। इनके अतिरिक्त और टीकाओं तथा मूल के भिन्न क्रमों की और भी कतिपय पुस्तकों का अभी अज्ञात होना संभव है।

बिहारी सतसई की टीकाएँ

(१)

कृष्णलाल की टीका

बिहारीरत्नाकर लिखते समय हमारी धारणा थी कि मानसिंह विजयगढ़ वाले की टीका ही सतसई की प्रथम टीका है, क्योंकि उक्त टीका हमारे अनुमान से संवत् १७३० तथा १७३४ के बीच की बनी हुई है, और उसमें दोहों का पूर्वापरक्रम भी वही है जो बिहारी के निज क्रम की प्रतियों में है। पर बिहारीरत्नाकर के मुख्य भाग के छप जाने पर, भूमिका आरंभ करने के पहले ही, हमको एक ऐसी टीका, पंडित दुलारेलाल जी भार्गव के द्वारा, जयपुर-निवासी श्री पंडित हनुमान् शर्म्मा जी से प्राप्त हुई, जिसके देखने से हमारी वह धारणा जाती रही, और अब हम इस नव-प्राप्त टीका ही को सतसई की प्रथम टीका मानते हैं। इस टीका के निमित्त हम उक्त शर्म्मा जी के कृतज्ञ हैं। इस टीका में भी ५—७ दोहों के अतिरिक्त शेष दोहों का क्रम वही है जो बिहारी के निज क्रम की अन्य प्रतियों में है और जो क्रम कि बिहारीरत्नाकर में रखा गया है।

इसमें "हुकुम पाइ जयसाहि इत्यादि" दोहे के पश्चात् यह दोहा लिखा है---

संवत, ग्रह, ससि, जलधि, छिति, छठ तिथि, बासर चंद।
चैत मास, पख कृष्ण, मैं पूरन आनंदकंद॥

हम इस दोहे को टीकाकारकृत तथा टीका के रचने के संवत् का दोहा समझते हैं। सर जी० ए० ग्रियर्सन साहब, स्वर्गवासी पंडित अंबिकादत्त जी व्यास, मिश्रबंधु महाशयों, तथा इस समय के अन्य बिहारी पर लिखनेवालों ने इसको बिहारी सतसई ही की समाप्ति के संवत् का दोहा माना है। पर यह बात चिन्तनीय है। यह दोहा लालचंद्रिका को छोड़कर न तो किसी अन्य पुरानी आज़मशाही ही क्रम की पुस्तक में मिलता है और न अन्य किसी क्रम की पुस्तक ही में। हमारे देखने में आज तक जितनी मूल अथवा सटीक, हस्त-

लिखित अथवा छपी हुई सतसई की पुस्तकें आई हैं, उनमें से, लाल चंद्रिका तथा इस पुस्तक को छोड़कर, केवल पाँच पुस्तकों में इसका दर्शन प्राप्त होता है, अर्थात् साहित्याचार्य सुकवि पंडित अंबिकादत्त व्यास के बिहारीबिहार, विद्यावारिधि स्वर्गीय पंडित ज्वालाप्रसाद मिश्र की भावार्थप्रकाशिका टीका, श्रीयुत प्रभुदयाल पांडे जी की टीका, श्रीयुत कविवर सवितानारायण जी की भावार्थप्रकाशिका गुजराती टीका, तथा श्रीयुत लाला भगवानदीन जी की बिहारी-बोधिनी टीका में। इनमें से बिहारी बिहार तथा ज्वालाप्रसाद जी की भावार्थप्रकाशिका में तो सर्वथा लालचंद्रिका के क्रम का अनुसरण किया गया है, अतः उनमें इस दोहे का लालचंद्रिका से लिया जाना सिद्ध ही है। श्रीयुत प्रभुदयाल पांडे जी ने अपनी टीका का क्रम, कृष्णदत्त की टीका के अनुसार रखा है, और कृष्ण-दत्त की टीका में यह दोहा है नहीं। अतः यह अनुमान करना पूर्णतया संगत है कि पांडे जी ने यह दोहा लालचंद्रिका से उद्धृत कर लिया है। श्रीयुत लाला भगवानदीन जी ने बिहारी-बोधिनी में हरिप्रकाश का क्रम रखा है, पर यह दोहा हरिप्रकाश टीका में नहीं है। अतः बिहारी-बोधिनी के विषय में भी यही प्रमाणित होता है कि यह दोहा उसमें या तो लालचंद्रिका से उद्धृत किया गया है या पांडे जी की टीका से। कविवर सवितानारायण जी की भावार्थप्रकाशिका गुजराती टीका में भी कृष्णदत्त की टीका का क्रम है। उनकी भूमिका से ज्ञात होता है कि उन्होंने लालचंद्रिका, बिहारीबिहार, तथा पांडे जी की टीका के ग्रंथ देखे थे, अतः उनके विषय में भी यह अनुमान किया जाता है कि उन्होंने यह दोहा इन्हीं में से किसी से उद्धृत कर लिया है। बस फिर इस दोहे के सत-सई में प्रविष्ट होने तथा इसके बिहारी-रचित समझे जाने के उत्तर-दाता श्रीयुत लल्लूलाल जी महाराज ही ठहरते हैं। अब इस बात का अनुसंधान करना आवश्यक है कि लल्लूलाल जी ने यह दोहा कहाँ पाया और इसका सन्निवेश सतसई में कैसे कर दिया। लाल-

चंद्रिका की भूमिका में लल्लूलाल जी ने लिखा है कि हमने सात टीकाएँ देख विचार कर लालचंद्रिका टीका बनाई। उन टीकाओं के नाम उन्होंने ये लिखे हैं (१) अमरचंद्रिका, (२) अनवरचंद्रिका, (३) हरिप्रकाश टीका, (४) कृष्ण कवि की टीका कवित्तवाली, (५) कृष्णलाल की टीका, (६) पठान की टीका कुंडलियों वाली और (७) संस्कृत टीका। इन ७ टीकाओं में से अमरचंद्रिका, अनवरचंद्रिका, हरिप्रकाश टीका तथा कृष्णकवि की टीका, इन चारों टीकाओं में तो इस संवत् वाले दोहे का पता मिलता नहीं, अतः पठान की कुंडलियों वाली टीका तथा कृष्णलाल की टीका, इन दो ग्रंथों में से किसी में इस दोहे की प्राप्ति की संभावना रह जाती है। इनमें से भी पठान सुल्तान की कुंडलियों वाले ग्रंथ में इस दोहे के होने की उतनी संभावना नहीं प्रतीत होती जितनी कृष्णलाल वाली टीका में होती है। अतः हमारा अनुमान है कि यह दोहा लल्लूलाल जी ने कृष्णलाल ही की टीका में देखकर, और उसको बिहारी-कृत समझकर, लालचंद्रिका में प्रविष्ट कर दिया। यदि हमारा यह अनुमान संगत समझा जाय, तो यह बात बिचारने की है, कि यह दोहा कृष्णलाल जी की टीका में कैसे आ गया, जब कि बिहारी की निज क्रमवाली और किसी प्रति में प्राप्त नहीं होता। इसका कारण यद्यपि यह भी हो सकता है कि बिहारी के निज क्रम-वाली किसी विशेष प्रति में यह रहा हो, और वही प्रति कृष्णलाल जी के हाथ लगी हो, पर विशेष संगत यही अनुमान ज्ञात होता है कि यह दोहा किसी टीकाकार की टीका के रचने के संवत् का हो, चाहे वह टीकाकार स्वयं कृष्णलाल जी ही रहे हों, अथवा अन्य कोई, जिसकी टीका में यह दोहा पाकर कृष्णलाल जी ने अपनी टीका में रख लिया हो। बिहारी की सतसई के समाप्त होने का संवत् हमारे अनुमान से १७०४—५ ठहरता है, जिसका विशेष वर्णन बिहारी की जीवनी में द्रष्टव्य है। यदि हमारा यह अनुमान ठीक हो तो भी यह संवत् वाला दोहा या तो सतसई की किसी प्रति के लिखे

जाने के समय का हो सकता है अथवा किसी टीका के रचना-काल का। हमारी धारणा इसके विषय में यही होती है कि यह दोहा इसी टीका के रचना-काल का है, क्योंकि इस टीका की भाषा बड़े पुराने ढंग की है और जो प्रति हमको प्राप्त हुई है वह संवत् १८५० की जयपुरी ढंग के नागरी अक्षरों में लिखी हुई है।

शिवसिंहसरोज में एक प्राचीन कृष्ण कवि का नाम पाया जाता है, और उनका यह कवित्त भी दिया है—

कांपत अमर खलभल मचै ध्रुवलोक,
उड़गन-पति अति संकनि सकात हैं।
देस के दिनेस के गनेस सब कांपत हैं,
सेस के सहस फन फैलि-फैलि जात हैं॥
आसन डिगत पाकसासन सु कृष्ण कवि,
हालि उठैं दुग्ग बड़े गंध्रप के ख्यात हैं।
चढ़े तैं तुरंग नवरंग साह बादसाह,
जिमीं आसमान थर-थर थहरात हैं॥

इस कवित्त के तीसरे तुक का पाठ यद्यपि कुछ संदिग्ध है तथापि इसमें औरंगजेब की प्रशंसा का होना स्पष्ट है, जिससे कृष्ण कवि का औरंगजेब के समय में होना प्रमाणित होता है। इस कवित्त में औरंगजेब के घोड़े पर चढ़ने के आतंक का वर्णन है, जिससे उसकी अवस्था युवा ही प्रतीत होती है। औरंगजेब संवत् १७१५—१६ में बादशाह हुआ था, अतः कृष्ण कवि का कविता-काल संवत् १७१५ के पश्चात् मानना सर्वथा संगत है। इस अनुमान पर, जिस कृष्ण लाल की टीका का नाम लल्लूलाल जी ने लिखा है, वह यदि इन्हीं कृष्ण कवि की हो तो उसका रचना काल संवत् १७१९ होना पूर्णतया संभावित है। इन बातों से यह धारणा स्वाभाविक ही उत्पन्न होती है कि यह टीका, जिसकी प्रति हमारे पास है, वही टीका है जिसको लल्लूलाल जी ने कृष्णलाल की टीका लिखा है, और "संवत् ग्रह ससि इत्यादि" दोहा इसी टीका के रचना-काल का दोहा है, जिसको

लल्लूलाल जी ने बिहारी का दोहा समझकर अपनी टीका में सन्निविष्ट कर दिया है। हमारी प्रति के आद्यंत में टीकाकार का नाम इत्यादि कुछ नहीं लिखा है, पर संभव है कि लल्लूलाल जी के हाथ जो प्रति इसकी लगी हो उसके आदि अथवा अंत में "कृष्णलालकृत टीका", अथवा ऐसा ही कोई और शब्द रहा हो।

मिश्रबंधुविनोद में राधाकृष्ण चौबे नामक एक कवि १०७६ अंक पर पाए जाते हैं। इनका निवास चित्रकूट और ग्रंथ (१) बिहारी सतसइया पर पद्य टीका, तथा (२) कृष्णचंद्रिका, एवं कविता-काल संवत् १८५० के पूर्व लिखा है। कविता-काल के विषय में तो यह कहा जा सकता है कि जो प्रतियाँ मिश्रबंधु महाशयों को मिलीं उनमें उनके लिखे जाने के संवत् १८५० के आस पास के दिए थे, जिनसे उक्त महाशयों ने यह अनुमान स्वाभाविक ही कर लिया कि उक्त ग्रंथ संवत् १८५० के पूर्व के रचे हुए हैं। पर उन्होंने जो यह लिखा है कि उनकी टीका पद्यमय है उससे वह टीका इस टीका से भिन्न ही प्रतीत होती है। नाम जो उन्होंने राधाकृष्ण लिखा है, उसके विषय में तो यह कहा जा सकता है कि कृष्णलाल तथा राधाकृष्ण चौबे एक ही व्यक्ति थे; नाम के लिखने में या तो लल्लूलाल जी को भ्रम हो गया या मिश्रबंधु महाशयों को। यदि मिश्रबंधु महाशयों ने उस टीका को पद्य टीका न लिखा होता अथवा यदि 'पद्य' शब्द को गद्य का अशुद्ध पाठ समझा जाय, तो उस टीका को तथा लल्लूलाल जी-लिखित कृष्णलाल की टीका को एक ही समझने में कोई आपत्ति न होती। जो हो, हमारे पास जो टीका है और जिसमें "संवत् ग्रह ससि इत्यादि" दोहा लिखा है, उसके रचना-काल के संवत् १७१९ मानने में कोई असंगति नहीं प्रतीत होती, और न उसके लल्लूलाल जी की कही हुई कृष्णलाल कवि की टीका ही होने में कोई असंभावना है।

'संवत् ग्रह ससि इत्यादि,' दोहे के विषय में यदि हमारा अनुमान ठीक है तो उसका अर्थ यह होता है—संवत् १७१९ के चैत्र

मास के कृष्ण पक्ष की छठ को सोमवार के दिन [यह] आनंदकंद [टीका] पूर्ण [हुई]। इस तिथि तथा वार के मिलान के विषय में सर जी. ए. ग्रियर्सन साहब ने लिखा है कि यह तिथि सन् १६६२ ईसवी की २४ जनवरी को पड़ी थी, जिस तारीख को गुरुवार था। पर इस गणना में उक्त साहब महोदय को कुछ भ्रम हो गया था, क्योंकि वास्तव में संवत् १७१९ की चैत्र कृष्ण ६ सन् १६६३ ई० की १८ फरवरी को पड़ी थी, और उस दिन बुधवार था। दोनों ही अवस्थाओं में इस दोहे में लिखे हुए तिथि तथा वार का मिलान नहीं होता। पर जयपुर प्रांत में अमांत मास मानने की प्रथा भी पूर्व काल में थी और अब भी कुछ लोग किसी किसी प्रांत में उक्त प्रथा का अनुसरण करते हैं। वल्लभ संप्रदाय के वैष्णवों में विशेषत: यह प्रथा कहीं कहीं प्रचलित है। इस प्रथा के अनुसार चैत्र कृष्ण ६ इस प्रांत की वैशाख कृष्ण ६ होती है। गणना करने से संवत् १७१९ की वैशाख कृष्ण ६ सन् १६६२ ई० की तारीख ३१ मार्च चंद्रवार को पड़ती है। अत: टीकाकार को इस प्रथा का अनुयायी मानने पर उसके लिखे वार तथा तिथि का मिलान हो जाता है और टीका-कार को उक्त प्रथा का अनुयायी मानना किसी प्रकार असंगत भी नहीं है, प्रत्युत उसके जयपुर प्रांत का निवासी होने के कारण—जो कि उसकी भाषा से सिद्ध होता है—उसका इस शैली का अनुकरण करना पूर्णतया संगत तथा स्वाभाविक है।

ऊपर लिखी हुई बातों से हम इस टीका को संवत् १७१९ में कृष्णलाल के द्वारा रची हुई टीका मानते हैं, और सतसई के पूर्ण होने के १४—१५ ही वर्ष पीछे लिखे जाने, तथा इसके पूर्व की किसी टीका के न प्राप्त होने के कारण इसको सतसई की प्रथम टीका अनुमानित करते हैं।

इस टीका के अंत में यह दोहा लिखा है—

प्रथम देव बानी हुती फुनि नर बानी कीन।
लाल बिहारी कृत कथा पढ़ै सो होइ प्रबीन॥

इस दोहे का एक सामान्य अर्थ तो यह होता है, कि पहले देवबानी अर्थात् संस्कृत थी, पश्चात् लोगों ने नरबानी, अर्थात् ब्रज-भाषा, इत्यादि की (बना ली)। लाल कहता है कि [उस नरबानी में] बिहारी की कथा (कविता) जो पढ़े वह प्रबीन हो जाय। दूसरा अर्थ इस दोहे का यह भी निकलता है कि पहले [सतसई] देवबानी (संस्कृत) में थी, पश्चात् नरबानी (ब्रज-भाषा) में की गई। हे लाल [कवि, ऐसी इस] बिहारी-कृत कथा (सतसई) को जो पढ़े वह प्रबीन हो। इस अर्थ से यह बात निकलती है कि बिहारी की सतसई पहले संस्कृत में थी, और फिर ब्रजभाषा में उसका अनुवाद किया गया। पर इस बात का कोई और प्रमाण नहीं मिलता, अतः यह अर्थ अग्राह्य है। तीसरा अर्थ इस दोहे का यह भी हो सकता है कि पहले [यह टीका] देवबानी (संस्कृत) में थी, फिर नर-बानी (ब्रजभाषा) में [अनुवादित] की गई। लाल कवि कहता है कि जो इस बिहारी-कृत कथा (सत-सइया) को [इस टीका से] पढ़े वह प्रबीण हो। इस अर्थ की संगति इस टीका के पूर्व इस टीका से मिलती हुई किसी संस्कृत टीका के विद्यमान होने पर निर्भर है। हमारे पास जो प्राचीन संस्कृत टीका है, न तो उसका क्रम ही इस टीका के क्रम से मिलता है, और न उस टीका की कोई विशेष बात ही इस टीका में आई प्रतीत होती है।' अतः जब तक कोई ऐसी संस्कृत टीका देखने में न आवे जो निश्चित रूप से इस भाषा टीका की आधारभूत मानी जा सके, तब तक यह तीसरा अर्थ भी अग्राह्य ही मानना चाहिए।

इस दोहे में जो लाल शब्द पड़ा है वह बिहारी के नाम का अंश नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इस टीका के आद्यंत में बिहारीलाल शब्द न होकर बिहारीदास शब्द मिलता है। अतः यदि यह शब्द बिहारी के नाम के अंशरूप से आया होता, तो 'लाल बिहारी' के स्थान पर दास बिहारी का होना अधिक संभावित था। अतः लाल शब्द को टीकाकार का उपनाम मानना चाहिए। ज्ञात होता

है कि उनका नाम कृष्णलाल था, और वे कविता में कभी कृष्ण और कभी लाल छाप रखते थे।

इस संबंध में एक यह भी बात ध्यान में रखने की है कि जन-श्रुति में बिहारी के बेटे का नाम कृष्ण कवि होना, और उसका सतसई पर एक टीका भी लिखना प्रसिद्ध है। इसी लोकवाद के आधार पर कई एक लेखक कृष्णदत्त चौबे को, जिसने सतसई पर कवित्तमय टीका बनाई है, बिहारी का पुत्र मानते हैं। पर उन कृष्णदत्त का बिहारी का पुत्र होना यदि असंभव नहीं तो दुःसंभव अवश्य है, क्योंकि कृष्णदत्त की कवित्तों वाली टीका संवत् १७८२ में बनी थी। अतः बिहारी के रचना-काल तथा उन कृष्णदत्त के रचना-काल में बहुत अंतर है। इस गद्य टीकाकार कृष्णलाल का बिहारी का पुत्र होना यदि कहा जाय तो समय की अनु-कूलता उसके पक्ष में हो सकती है।

इस टीका में दोहों के पूर्वापर का क्रम, दो चार दोहों को छोड़कर, वही है जो बिहारी-रत्नाकर में ग्रहण किया गया है, और यह एक दोहा इसमें बिहारी रत्नाकर से अधिक है—

सिसुता अमल तगीर सुनि भए और मिलि मैन।
कहौ होत हैं कौन के ए कसबाती नैन॥ ९६॥

इस टीका की भाषा प्राचीन ढंग की जयपुरी मिश्रित है। इसमें अलंकारों तथा ध्वनि इत्यादि का झगड़ा नहीं उठाया गया है। केवल दोहों के वक्ता बोधव्य तथा अर्थ लिखे गए हैं। दोहों के भावार्थ समझाने में टीकाकार ने यथाशक्ति चेष्टा की है, यद्यपि भाषा तथा परिपाटी के वैलक्षण्य के कारण उसका अभिप्राय इस समय के पाठकों के लिये समझना कुछ कठिन है। निदर्शनार्थ एक दोहे की टीका नीचे लिखी जाती है—

दोहा

पार्‌यौ सोरु सुहाग कौ इनु बिनु हीं पिय नेह।
उन दौहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह॥ ६६२॥

टीका—मुग्धा स्वाधीनपतिका। सखी कौ बैन सखी सौं। हे सखी इन राधिका बिन हीं भरतार सौं नेह सुहाग कौ सोर पार्‍यो है। सो कैसैक नायका के अलसोही देह करने तै नायक दोनु हीं अँखिया करिकै देखी सो चित चढ़ी।

इस टीका की प्रति जो हमारे पास है वह संवत् १८२० की लिखी हुई है।

इसके क्रम का विशेष वर्णन प्रथम क्रम के अंतर्गत द्रष्टव्य है।

(२)

मानसिंह कवि विजयगढ़ वाले की टीका

कालक्रमानुसार दूसरी टीका, जो हमारे देखने में आई है वह, उदयपुर के निकट विजयगढ़ ग्राम के रहनेवाले मानसिंह नामक कवि की है। इन्हीं कवि का बनाया हुआ एक ग्रंथ 'राज-विलास' भी है जो अब नागरीप्रचारिणी सभा के द्वारा प्रकाशित हो गया है। राज-विलास में उदयपुराधीश महाराणा राजसिंह के समय का वर्णन है। इसकी रचना संवत् १७३४ में आरंभ हुई थी, और इसकी समाप्ति का संवत्, यद्यपि इसमें नहीं दिया है तथापि अनुमान से १७३७—३८ प्रतीत होता है। महाराणा राज-सिंह संवत् १७०८ में गद्दी पर बैठे थे और संवत् १७३७ में उनका स्वर्गवास हुआ, जैसा कि राज-विलास से विदित होता है। मान-सिंह कवि के विषय में सुना गया है कि उन्होंने जयपुर में जाकर बिहारी से साक्षात् किया था, और उनसे कुछ पढ़ा भी था। जय-पुर से लौटते समय वे बिहारी के कुछ दोहे लिख ले गए थे। उदय-पुर में पहुँचकर उन्होंने वे दोहे जहाँ तहाँ सरदारों को सुनाए, और होते होते कुछ दोहे महाराणा के कान तक भी पहुँचे। बिहारी के दोहों की ख्याति उदयपुर में पहले ही पहुँच चुकी थी और वहाँ के सामन्त, सरदार इत्यादि उनको बड़े चाव और प्रसन्नता से पढ़ते सुनते थे। उन दोहों की उत्तमता पर महाराणा ने प्रसन्न होकर, मानसिंह को राजसभा में बुलाया और आज्ञा दी कि जयपुर

जाकर तुम सतसई की पुस्तक प्राप्त कर लाओ। जब मानसिंह किसी प्रकार सतसई ले आए तो उसके दोहे बड़े कठिन देख पड़े। अतः महाराणा जी ने, मानसिंह को बिहारी का शिष्य समझकर, सतसई की टीका करने की आज्ञा दी। मानसिंह ने अपनी बुद्धि के अनुसार यह टीका उसी आज्ञा पर रचकर प्रस्तुत की। यद्यपि टीका तो बहुत ही सामान्य श्रेणी की है, तथापि महाराणा ने प्रसन्न होकर मानसिंह को अपनी सभा के कवियों में समाविष्ट कर लिया। फिर मानसिंह ने राज-विलास ग्रंथ की रचना आरंभ की। इस टीका में रचना-काल कुछ नहीं दिया है। पर, यदि ऊपर लिखे हुए जन-वाद में कुछ सार है तो, इस टीका का रचना-काल संवत् १७३४ के पूर्व समझना चाहिए।

इस टीका की प्रति जो हमारे पास है, वह प्रतापविजय नामक किसी व्यक्ति के द्वारा अजमेर में संवत् १७७२ में लिखी गई थी। इस टीका के अंत में यह लिखा हुआ है—

इति श्री बिहारीदासकृत सतसई दोहरा: संपूर्ण सतसहीरा टीका कृतं विजैगछे कवि मानसिंह जू टीका कीनी उदयपुर मध्ये ग्रंथाग्रंथ ४५०५ इति संख्या संपूर्ण: शुभं भवतु: ॥ श्री श्री संवत् १७७२ वर्षे वैशाख बदि कृष्णपक्षे द्वितीयायां लिषतं प्रतापविजय लिपीकृतं ॥ अजमेर मध्ये: ॥ श्रीरस्तु: ॥ श्री ॥

एक बात पर ध्यान देना यहाँ आवश्यक है कि इस टीका के अंत में टीकाकार का नाम "मानसिंह" लिखा है, पर राज-विलास के अंत में उसके कर्त्ता का नाम 'मान कवि' पाया जाता है। इससे दोनों ग्रंथकारों के एक ही होने में कुछ संशय उपस्थित हो जाता है। पर यह भिन्नता लेखमात्र की प्रतीत होती है, क्योंकि टीका के अंत में उसका उदयपुर में रचा जाना तथा उसकी प्रतिलिपि का संवत् १७७२ में अजमेर में लिखा जाना स्पष्ट ही कहा है। इस बात पर विचार करने से कि उस समय छापे का प्रचार नहीं था, और देश भर में, विशेषत: उदयपुर प्रांत में, बड़ी अशांति फैली हुई

थी, उक्त टीका के उदयपुर से अजमेर तक लिखते लिखाते पहुँचने में ४० वर्ष के अनुमान लग जाना परम संगत तथा स्वाभाविक था। अतः उस टीका का रचना-काल संवत् १७३० तथा १७३४ के बीच में मानना अनुचित नहीं है। यदि यह अनुमान संगत समझा जाय, और उक्त टीका के उदयपुर ही में रचे जाने पर ध्यान दिया जाय और उसी के साथ जनश्रुति भी मिला ली जाय, तो दोनों ग्रंथकारों के एक ही होने में संशय नहीं रह जाता। मानसिंह ने अपने विषय में न तो सतसई की टीका ही में कुछ कहा है, और न राज-विलास ही में। इस विषय में दोनों ग्रंथकारों की प्रकृति भी एक ही प्रतीत होती है।. . . .

यह टीका बहुत सामान्य श्रेणी की है और इसमें भी टीकाकार ने अलंकार इत्यादि नहीं लिखे हैं; केवल दोहों के अर्थ अपनी समझ के अनुसार कर दिए हैं, और वे अर्थ भी कहीं कहीं सर्वथा अशुद्ध और अग्राह्य हैं। निदर्शनार्थ एक दोहे की टीका नीचे लिखी जाती है।

दोहा—पार्‌यौ सोर सुहाग कौ इनु बिनु ही पिय-नेह।
इन दौंही अँखियाँ ककै कैं अलसौंही देह॥ ६६२॥

टी० षंडिता नायका श्रीराधा जू श्रीकृष्ण जू सों कहै है। पार्‌यौ सोर० इनु बिनु इन पिय के नेह बिनु ही हमारे ब्रजमंडल में यों ही झूठौ ही सुहाग कौ सोर पसार्‌यौ है। इन दौंही० के अलसौं० इन दोनु अंखियाँ देखें ही कौ सुहाग है। अर कै अलसौंही नींद भरी देह कै हमारे घर आइ सोवन कौ सुहाग है इत्यर्थः॥ ६६२॥

इस टीका में दोहों का क्रम बिहारी के निज क्रम के अनु-सार है जिसका वर्णन प्रथम क्रम के अंतर्गत हो चुका है।

(३)

चारणदास की टीका

मिश्र-बन्धु-विनोद में ५२९ अंक पर, किसी एक चारणदास नामक कवि के बनाए हुए दो ग्रंथ—(१) नेहप्रकाशिका, तथा (२) बिहारी सतसई की टीका, लिखे हैं; और नेहप्रकाशिका का

रचना-काल संवत् १७४९ बतलाया है। अतः हम इस टीका का काल संवत् १७५० के आसपास अनुमानित करके इसको तीसरा स्थान देते हैं।

इस टीका के क्रम तथा उपयोगिता के विषय में हम कुछ नहीं कह सकते।

(४)

पठान सुलतान की कुंडलियों वाली टीका

इस ग्रंथ के विषय में प्रायः लोगों का अनुमान है कि यह ग्रंथ पूरा नहीं बना था, केवल कतिपय दोहों पर कुंडलियाँ पठान सुलतान के नाम से लगाई गई थीं। पर लल्लूलाल जी ने लाल-चंद्रिका की भूमिका में इस ग्रंथ का देखना लिखा है, और शिव-सिंहसरोज में चंद्र कवि के ये सोरठे दिए हैं—

सुलताँमुहमद साह नाम नवाब बखानियै।
कविताई अति चाह करत रहत गढ़ नगर मैं॥ १॥
देस मालवा माहिँ कुंडलियाँ करि सतसई।
हरि-गुन अधिक सराहि चंद्र कवीसुर तिहिँ सभा॥२॥

इन दोनों बातों से पठान सुलतान की कुंडलियों वाले ग्रंथ का पूरा होना प्रमाणित होता है। पर यह ग्रंथ ऐसा दुर्लभ है कि इसकी दस ही पाँच कुंडलियाँ जहाँ तहाँ सुनने में आती हैं। स्वर्गवासी पंडित अंबिकादत्त जी व्यास को बड़े अनुसंधान से केवल पाँच कुंडलियाँ प्राप्त हो सकीं। उनको उन्होंने बिहारीबिहार की भूमिका में प्रकाशित कर दिया है। वे ये हैं—

मेरी भव-बाधा हरौ राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँईं परैं स्यामु हरित-दुति होइ॥
स्यामु हरित दुति होइ कटै सब कलुष-कलेसा।
मिटै चित्त कौ भरमु रहै नहिं कछुक अँदेसा॥
कह पठान सुलतान कटै जम-दुख की बेरी।
राधा बाधा हरौ हहा बिनती सुनि मेरी॥ १॥

नासा मोरि नचाइ जे करी कका की सौंह ।
काँटे सी कसकैं ति हिय गड़ी कँटीली भौंह ॥
गड़ी कँटीली भौंह केस निरवारति प्यारी ।
चितवति तिरछे दृगनु मनौ हिय हनति कटारी ॥
कह पठान सुलतान छक्यौ यह देखि तमासा ।
वाकौ सहज सुभाउ श्रौर कौ बुधि बल-नासा ॥ २ ॥
हा हा बदनु उघारि दृग सफल करैं सबु कोइ ।
रोज सरोजनु कैं परै हँसी ससी की होइ ॥
हँसी ससी की होइ देखि मुखु तेरौ प्यारी ।
बिधिना ऐसी रची आपने करनु सँवारी ॥
कह पठान सुलतान मेटि उर-अंतर-दाहा ।
करि कटाच्छु मो ओर मोर बिनती सुनि हा हा ॥ ३ ॥
सहज सचिक्कन स्यामरुचि सुचि सुगंध सुकुमार ।
गनतु न मनु पथु अपथु लखि बिथुरे सुथरे बार ॥
बिथुरे सुथरे बार निरखि नागरि नवला के ।
भ्रमत भँवर बहु बिपिन बनक बरनत कबि थाके ॥
कह पठान सुलतान आन तजि हिय भयौ हिक्कन ।
बार बार मनु बँधत बार लखि सहजु सचिक्कन ॥ ४ ॥
भूषन-भार सँभारिहै क्यौं इहिं तन सुकुमार ।
सूधे पाइ न धर परैं सोभा ही कैं भार ॥
सोभा ही कैं भार चलत लचकति कटि खीनी ।
देत्यौ अनिलु उड़ाइ जौ न होती कुचपीनी ।
कह पठान सुलतान तासु अँग-अंग अदूषन ।
नरी किन्नरी सुरी आदि तिय की तिय भूषन ॥ ५ ॥

इनके अतिरिक्त चार पाँच कुंडलियाँ हमने और सुनी हैं ।

पठान सुलतान के विषय में शिवसिंहसरोज में लिखा है कि इनका नाम सुल्तान-मुहम्मद खाँ था, और ये संवत १७९१ में राजगढ़, भूपाल के नवाब थे। सर जी. ए. ग्रियर्सन साहब,

साहित्याचार्य पंडित अंबिकादत्त व्यास तथा मिश्रबंधु महाशयों ने भी इनके विषय में यही लिखा है।

चंद कवि के विषय में शिवसिंह ने लिखा है कि "ये कवि सुल्तान पठान नव्वाब राजगढ़ भाई बंदन बाबू भूपाल के यहाँ थे। इन्होंने बिहारी सतसई का तिलक कुंडलिया छंद में सुल्तान पठान के नाम से बनाया है"। इनकी उपस्थिति संवत् १७४९ में बताई है।

इन चंद के अतिरिक्त शिवसिंह जी ने चंद बरदाई को छोड़कर दो और चंद कवि लिखे हैं, उनमें से एक को तो सामान्य कवि बतलाया है, और उनकी कविता का यह उदाहरण दिया है—

मद के भिखारी मीन मास के अहारी रहैं,
सदा अनाचारी चारी लिखें लिखावते।
नारी कुलधाम की न प्यारी परनारी आगैं,
विद्या पढ़ि पढ़ि हू कुविद्या-मगि धावते॥
आखिनि की काजर कलम सों चुराइ लेत,
ऐसे काम करैं नैंक संक हू न लावते।
जो पै सिंहबाहिनी निबाहिनी न होती चंद,
कायथ कलंकी काकैं द्वार गति पावते॥

दूसरे चंद के विषय में उन्होंने लिखा है कि इन्होंने शृंगाररस में बहुत सुंदर कविता की है और हजारे में इनके कवित्त हैं। इनके ये दो कवित्त भी निदर्शनार्थ दिए हैं—

लोचन मैन के बान बने, धनुही भृकुटी मुख चंद चही।
ओठनि मैं उपमा बर बिंब की दंत की पंगति कुंद सही।
चंद कहै नवनीरद से कच, अंग सुहेम की गौरि गही।
नाजुक हीन नई (?) मुख की उपमा नहिं एकहु जाति कही॥१॥
आस पास पुहिमि प्रकास के पगार सूझैं,
बननि अगार दीठि है रही निबर तैं (?)।
पारावार पारद अपार दसौं दिसि बूड़ी,
चंद ब्रहमंड उतरात बिधु बर तैं॥

सरद-जुन्हाई जन्हुधार सहसा सुधाई,
सोभा-सिंधु नव सुभ्र नव गिरिवर तैं।
उमड़्यौ परत जोति-मंडल अखंड सुधा-
मंडल मही पै विधु-मंडल बिबर तैं॥ २॥

मिश्रबंधु-विनोद में इन तीनों चंदों का एक ही होना अनुमानित किया है, और यह भी अनुमान किया है कि इन्होंने भाषा में एक महाभारत भी बनाया था।

पठान सुलतान की उपस्थिति संवत् १७६१ के आसपास शिवसिंहसरोज में मानी गई है अतः हमने इनके ग्रंथ को चौथा स्थान दिया है, क्योंकि मानसिंह की टीका तथा इस ग्रंथ के बीच के समय की बनी हुई कोई टीका हमारे देखने में नहीं आई है।

इसकी कुंडलियाँ जो मिलती हैं उनकी कविता बहुत मधुर और रोचक है, यद्यपि बिहारी के भावार्थ उद्घाटन में तो वे विशेष उपयोगी नहीं हैं।

इसके क्रम इत्यादि के विषय में हम कुछ नहीं कह सकते।

(५)
अनवरचंद्रिका टीका

पाँचवीं टीका हमारे देखने में अनवरचंद्रिका आई है। इसकी रचना संवत् १७७१ में शुभकरण तथा कमलनयन कवियों ने मिल कर नव्वाब अनवर खाँ की आज्ञा से की थी। मंगलाचरण के छप्पय में शुभकरण का नाम आया है, और अनवर खाँ की प्रशंसा के एक कवित्त में कौलनैन (कमलनयन) मिलता है। वे छप्पय तथा कवित्त ये हैं—

छप्पय

सुमुख, सुखद, ससि-धरन, धीर, हेरंब, अंब-सुत।
एक-दंत, गजकरन, सरन-दायक, सिंदुर-जुत॥
कपिल, विनायक, विकट, बिघन-नासक, गनाधिपति।
धूमकेतु-धर, धरम-धरन, दुखहरन, अगति-गति॥

प्रभु लंबोदर, बारन-बदन, विद्यामय, बुधि-बेद-मय।
'सुभकरन-दास' इच्छित करन, जय जय जय संकर-तनय॥

कवित्त

भोगी सीखैं भोग जासौं जोगी जोग सीखत हैं,
रागी सीखैं राग भागी बागिनि के भेव जू।
पंडिताई पंडित सुकवि कविताई सीखैं,
रसिकाई सीखत रसिक करि सेव जू॥
सीखत सिपाही त्यौं सिपाहगरी 'कौलनैन',
कामतरु दान सीखै तजि अहमेव जू।
करै को जवाब अनवर खाँ नबाब जू सौं,
और सब सिष्य एक आप गुरु देव जू॥

अपने विषय में टीकाकारों ने और कुछ नहीं लिखा है। मंगला-चरण के पश्चात् तीन छंदों में नव्वाब अनवर खाँ की वंशावली और पाँच छंदों में प्रशंसा लिखकर, इन चार दोहों में अनवरचंद्रिका की रचना का कारण तथा काल इत्यादि लिखा है—

अनवर खाँ जू कविन सौं आयसु कियौ सनेहु।
कवित-रीति सब सतसया-मध्य प्रगट करि देहु॥ १० ॥
ससि रिषि रिषि रुचि तिथि लखौ संवतसर सबिलास।
जामैं अनवर-चंद्रिका कीन्यौ विमल बिकास॥ ११ ॥
जु है बिहारी सतसया मैं कवि-रीति-विलास।
सो अब अनवर-चंद्रिका सब कौ करै प्रकास॥ १२ ॥
देखै अनवर-चंद्रिका पोथी जो चित लाइ।
ता नर कौ कवि-रीति मैं मोहतिमिर मिटि जाइ॥ १३ ॥

इन चारों दोहों पर टीकाकारों ने ग्रंथ का प्रथम प्रकाश समाप्त कर दिया है, और दूसरे प्रकाश से मुख्य ग्रंथारंभ करके सब सोलह प्रकाशों में समाप्त किया है, जिसका ब्योरा अनवरचंद्रिका के क्रम-विवरण में दिया गया है।

टीकाकारों ने यद्यपि अनवर खाँ की वंशावली तो बड़ी लंबी चौड़ी दी है पर उनके स्थानादि तथा अपने परिचय के विषय में कुछ नहीं लिखा है। वंशावली वर्णन के दूसरे छंद से केवल इतना ज्ञात होता है कि अनवर खाँ से तेरह पीढ़ी पहले कोई यूसुफ़ खाँ गुर्देज़ा हुए थे, जिनका स्थान मुल्तान में था, और जो ऐसे सिद्ध थे कि उनका हाथ नित्य क़ब्र से बाहर निकला करता था। वंशावली से यह भी प्रतीत होता है कि अनवर खाँ के पूर्वजों की गद्दी गृहस्थ फ़क़ीरों, अर्थात् पीरज़ादों की थी, और उनके पिता का नाम सय्यद मुस्तफ़ा था। यद्यपि ये लोग गद्दीदार फ़क़ीर थे तथापि हिंदुओं के विरुद्ध युद्धकर्म में प्रवृत्त होना अपना परम धर्म समझते थे। यह बात मुसलमानों में स्वाभाविक है, यहाँ तक कि शेख़ सादी साहब भी, जो कि एक बड़े विरक्त तथा पहुँचे हुए फ़क़ीर माने जाते हैं, जिहाद (अन्य धर्मावलंबियों के विरुद्ध युद्ध) पर कटिबद्ध होकर गुजरात पर की चढ़ाई में आए थे। अनवर खाँ के विषय में लोगों की यह भी धारणा है कि वे पठान सुल्तान के भाई थे। पर यह बात सर्वथा अग्राह्य है, क्योंकि पठान सुल्तान पठान थे और ये सय्यद। हमारी समझ में इनको मुल्तान ही का मानना ठीक है जैसा कि टीकाकारों ने उनके पूर्वजों के विषय में कहा है। हाँ, यह बात संभव है कि वे या उनके कोई पूर्वज अपनी वीरता के कारण दिल्ली के किसी बादशाह के द्वारा किसी उच्च पद पर स्थापित हुए हों, और उन्होंने राजपूताने अथवा दक्षिण प्रदेश में कोई जागीर भी पाई हो और वहीं रहने लगे हों। अनवर खाँ के विषय में बादशाह के द्वारा किसी उच्च पद पर अथवा प्रांताधीशत्व पर नियुक्त होना ग्रंथकारों के एक कवित्त से लक्षित भी होता है। उस कवित्त का पहला चरण यह है—

थापे हैं जु दिल्लीपति पुहुमि-पुरंदर के
कामना के दानि परिताप सबको हरैं।

छत्रप्रकाश से विदित होता है कि अनवर खाँ नामक, दिल्ली का कोई सामंत एक बार छत्रसाल बुंदेला से लड़ने के निमित्त भेजा

गया था, जिसको छत्रसाल ने भगा दिया था। संभव है कि वह अनवर खाँ, अनवरचंद्रिकावाले ही रहे हों। इस टीका में दोहों के अर्थ करने का यत्न नहीं किया गया है; केवल दोहों के वक्ता बोधव्य, अलंकार, ध्वनि इत्यादि, विषय कहे गए हैं। अतः यह टीका केवल साहित्य भेद जानने वालों के तो बड़े काम की है; पर अर्थ-जिज्ञासुओं के निमित्त सर्वथा व्यर्थ है। इसमें जो ध्वनि-भेद कहा गया है वह बड़े महत्व का विषय है, और सिवा इस टीका के और किसी में नहीं छेड़ा गया है। निदर्शनार्थ एक दोहे की टीका नीचे लिखी जाती है—

दोहा.

पारयौ सोरु सुहाग कौ इनु बिनु हीं पिय-नेह।
उनदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह॥ ३२८॥

टीका—जौ याही नायिका की सखी की उक्ति है तौ याही कौ झूठो कहति है ताके आगे कहति है यह कि कोऊ टोकै नहीं। जौ सौति की कै वाकी सखी की उक्ति होइ तौ अमर्ष ईर्ष्या संचारी। विभावनालंकार प्रथम भेद—

कारन बिनहीं काज की उदै होइ जिहि ठौर।
पहिलो भेद विभावना को आवत सिर-मौर॥

इसके क्रम के विषय में चौथे क्रम का वर्णन द्रष्टव्य है।

(६)

राजा गोपालशरण की टीका

शिवसिंहसरोज में बिहारी की टीकाओं में राजा गोपालशरण की एक प्रबंधघटना नाम की टीका लिखी है, और राजा गोपालशरण का संवत् १७७५ में विद्यमान होना बतलाया है, और यह भी कहा है कि इनके पद बड़े ललित होते थे। उसमें एक पद निदर्शनार्थ दिया भी है। ग्रियर्सन साहब तथा पंडित अंबिकादत्त व्यास ने भी इनकी टीका का नाममात्र गिना दिया है। मिश्रबंधु-विनोद में इनका जन्मकाल संवत् १७४८ तथा कविता-काल संवत् १७७५

बतलाया है और इनके बनाए तीन ग्रंथ लिखे हैं – (१) प्रबंधघटना (२) सतसई की टीका, तथा (३) पद। इससे ज्ञात होता है कि प्रबंधघटना उनकी टीका का नाम नहीं था; प्रत्युत कोई अन्य ही पुस्तक उनकी इस नाम की थी। हमारे देखने में यह टीका नहीं आई है, अतः हम इसके तारतम्य तथा क्रम के विषय में कुछ नहीं कह सकते। इसका रचना-काल संवत् १७७० तथा १७८० के बीच में मानकर, हम इसको अनवरचंद्रिका के पश्चात् तथा कृष्ण कवि की टीका के पूर्व का स्थान देते हैं।

(७)

कृष्ण कवि की कवित्तबंध टीका

सातवीं टीका हमारे देखने में कृष्ण कवि की कवित्तबंध टीका आई है। इसके अंत में जो ३५ दोहे कृष्ण कवि ने लिखे हैं उनसे उनका तथा उनके आश्रयदाता का कुछ वृत्तांत एवं रचना के कारण तथा काल का कुछ पता मिलता है। उनमें से २४ दोहे नीचे लिखे जाते हैं—

रघुबंसी राजा प्रगट पुहुमि धर्मअवतार।
विक्रमनिधि जयसाहि रिपु-तुंड-विहंडन-हार॥ ११॥
सुकवि बिहारी-दास सौं तिन कीनौ अति प्यार।
बहुत भाँति सनमान करि दौलत दई अपार॥ १२॥
राजा श्री जयसिंह कैं प्रकट्यो तेज-समाज।
रामसिंह गुन राम सम नृपति गरीब-निवाज॥१३॥
कृष्णसिंह तिनकें भए केहिरि-राज-कुमार।
विस्नुसिंह तिनके भए सूरज के अवतार॥ १४॥
महाराज बिसुनेस के धरम-धुरंधर धीर।
प्रगट भए जयसाहि नृप सुमति सवाई बीर॥ १५॥
प्रगट सवाई भूप कौ मंत्री-मनि सुखसार।
सागर गुन सत सील कौ नागर परम उदार॥१६॥
आयामल्ल अखंडतप जग-सोहत-जस, ताहि।
राजा कीनौ करि कृपा महाराज जयसाहि॥ १७॥

मन वच क्रम साँचौ भगत, हरि भक्तनि कौ दास ।
बेद-वचन निज धरम कौ जाकैं दृढ़ विस्वास ॥१८॥
छत्री-कुल छिति पै भए बेरी जग विख्यात ।
परदुख-बेरी-खंडनों मंडन-गुन-अवदात ॥ १९ ॥
लालदास अतिललित-गुन प्रगट भए तिहिं बंस ।
रामचंद्र तिनकें भए निज कुल के अवतंस ॥ २० ॥
महाराज तिनके भए जिनकौ जस अवदात ।
रायपँजाव सपूतमगि उपजे तिनकें तात ॥ २१ ॥
तिनकें प्रगटे तीन सुत बिक्रम-बुद्धि-निधान ।
रच्छक ब्राह्मन गाय के निपुन दान क्रिरवान ॥२२॥
राजा आयामल्ल जग-विदित राय सिवदास ।
लसत नरायनदास जस-पूरन पुहिमि-प्रकास ॥२३॥
लीला जुगलकिसोर की रस कौ होइ निकेतु ।
राजा आयामल्ल कौं ता कबिता सौं हेतु ॥ २४ ॥
माथुर बिप्र ककोर-कुल लह्यौ कृष्न-कवि नावँ ।
सेवक हौं सब कबिनि कौ बसत मधुपुरी गावँ ॥२५॥
आयामल कबि कृष्न पर ढरौ कृपा कैं ढार ।
भाँति भाँति बिपदा हरी दीनी लच्छि अपार ॥२६॥
एक दिना कबि सौं नृपति कही कही कौं जात ।
दोहा-दोहा-प्रति करौ कबित बुद्धि-अवदात ॥ २७ ॥
पहिलैं हूँ मेरे यहै हिय मैं हुतौ बिचार ।
करौं नायिका भेद कौ ग्रंथ सुबुधि-अनुसार ॥२८॥
जे कीने पूरब कबिनु सरस ग्रंथ सुखदाइ ।
तिनहिँ छाँड़ि मेरे कबित को पढ़िहै मन लाइ॥२९॥
जानि यहै अपने हियैं कियौ न ग्रंथ-प्रकास ।
नृप कौ आयसु पाइ कै हिय मैं भयौ हुलास ॥ ३० ॥
करे सात सौ दोहरा सुकबि बिहारीदास ।
सब कोऊ तिनकौं पढ़ै गुनै सुनै सबिलास ॥ ३१ ॥

बड़ौ भरोसौ जानि मैं गह्यौ आसरौ आइ।
यातैं इन दोहानि सँग दीने कवित लगाइ॥ ३२॥
उक्ति जुक्ति दोहानि की अच्छर जोरि नवीन।
करे सात सै कवित मैं पढ़ैं सुकबि परबीन॥ ३३॥
मैं अति ही ढीठ्यौ करौ कबि-कुल सरस सुभाइ।
भूल चूक कछु होइ सो लीजौ समुझि बनाइ॥ ३४॥
सतरह सै ह्वै आगरे असी बरस रबिबार।
अगहन सुदि पाँचैं भए कवित बुद्धि-अनुसार॥ ३५॥

इन दोहों से विदित होता है कि "बिहारीदास" उन राजा जयसिंह के पास थे जिनके बेटे रामसिंह और पौत्र कृष्णसिंह थे, और कृष्ण कवि उन जयसिंह के दीवान, राजा आयामल, के यहाँ थे, जो सवाई कहलाते थे। कृष्ण कवि ककोर वंशी माथुर ब्राह्मण मथुरा के रहनेवाले थे। उन्होंने यह ग्रंथ संवत् १७८२ के अगहन मास की शुक्ल पंचमी, रविवार को समाप्त किया था। इन बातों के अतिरिक्त इन दोहों से और कुछ नहीं ज्ञात होता।

शिवसिंह जी ने इनको जयपुरवाले लिखा है, और कहा है कि ये "बिहारीलाल कवि के शिष्य औ महाराजै जयसिंह सवाई के यहाँ नौकर थे, बिहारी सतसई का तिलक कवित्तों में विस्तारपूर्वक वार्तिक सहित बनाया है"। जयसिंह की प्रशंसा का यह कवित्त भी उनका बनाया हुआ शिवसिंह-सरोज में दिया है—

कूरम-कलस महाराज जयसिंह फैल्यौ,
रावरौ सुजस सुरलोक मैं अपार है।
कृष्ण कवि ताके कन सुंदर जलज जानि,
सुरनि की सुंदरीनि लीन्यौ भरि थार है॥
तिनही कैं संग कौ सरस तेरौ गुन लैकै,
हार पोहिबै कौं उन कर्यौ विचार है।
मोती जो निहारैं कहूँ रंध्र कौ न लवलेस,
गुन कौ निहारैं कहूँ पावत न पार है॥

इस कवित्त के देखने से कृष्ण कवि बहुत ही उच्च श्रेणी के कवि जान पड़ते हैं। खेद का विषय है कि उनके और कोई ग्रंथ अथवा फुटकर काव्य प्राप्त नहीं होते।

ग्रियर्सन साहब ने इनके विषय में कुछ विशेष नहीं लिखा है। साहित्याचार्य पंडित अंबिकादत्त व्यासजी ने इस विषय में बड़ा धोखा खाया है। वे बिहारी-बिहार की भूमिका में यह लिखते हैं—

यद्यपि बिहारी कवि का महाराज जयसिंह की सभा का कवि होना ही प्रसिद्ध है तथापि कृष्ण कवि ने जैसाह और उनके मंत्री आयामल्ल के विषय में यों लिखा है कि "महाराज जयसिंह के रामसिंह, उनके कृष्णसिंह, उनके विष्णुसिंह और उनके जयसाहि हुए। यों ही छत्रिय कुल लालदास रामचंद्र, उनके महाराज, उनके राय पंजाब और उनके राजा आयामल्ल हुए। राजा आयामल्ल पूर्वोक्त सवाई जयसाह महाराज के मंत्री थे। सवाई जयसाह के परम कृपापात्र बिहारी कवि ने सतसई बनाई और राजा आयामल्ल मंत्री की आज्ञा से कृष्ण कवि ने उन्हीं दोहों पर कवित्त तथा सवैए बनाए"।

प्रतीत होता है कि व्यास जी ने मिर्ज़ा राजा जयसिंह का नाम 'जयसिंह' तथा सवाई जयसिंह का नाम 'जयसाह' समझा था और इसी से यह गड़बड़ उनकी समझ में पड़ी और भ्रम हुआ। वास्तव में बात यह ज्ञात होती है कि दोनों ही जयसिंह 'जयसाहि' भी कहलाते थे। इनमें से प्रथम जयसिंह ने संवत् १६७८ से १७२४ तक राज्य किया, और वे 'मिर्ज़ा राजा' भी कहलाते थे। दूसरे जयसिंह सवाई कहलाते थे। उन्होंने संवत् १७५६ से १८०० तक राज्य किया। बिहारी वास्तव में मिर्ज़ा राजा जयशाही के कृपापात्र थे। उनकी सतसई संवत् १७०४-५ में समाप्त हो गई थी और संवत् १७१९ तथा १७३०-३४ में उनकी सतसई पर टीकाएँ भी लिखी जा चुकी थीं। संवत् १७१९ वाली टीका संभवत: वही टीका है जिसको लल्लूलाल जी ने कृष्णलाल की टीका कहा है और जिसका विशेष वर्णन हमने पहली टीका कहकर किया है। इनके अतिरिक्त

बिहारी सतसई का कोविद कवि वाला क्रम तो अवश्य ही संवत् १७४२ में लग चुका था, और उस क्रम में जयसिंह की प्रशंसा के दोहे जो सतसई में हैं, वे सबके सब विद्यमान हैं। उस समय तो सवाई जयसिंह का पता भी नहीं था, अत: उनमें से कोई दोहा भी उनकी प्रशंसा का नहीं माना जा सकता। कृष्ण कवि ने जो अपने कवित्तों में जयसिंह सवाई का नाम ठूँस दिया है, उसका कारण यह है कि वे जयसिंह सवाई ही के समय में थे, और, बिहारी के प्रशंस्य मिर्ज़ा राजा के भी जयसिंह अथवा जयशाही नाम होने का लाभ उठाकर, उन्होंने बिहारी के दोहों का अर्थ अपने प्रशंस्य जयसिंह सवाई पर लगा लिया।

कृष्ण कवि वास्तव में बहुत अच्छे कवि थे। उन्होंने बिहारी के दोहों के भावार्थ समझने में बड़ा प्रयत्न किया और उन पर बहुत अच्छे कवित्त लगाए। दोहों के वक्ता-बोधव्य तथा नायिका-भेद बतलाने के पश्चात्, घनाक्षरी अथवा सवैया में दोहों के अर्थों का खोलने की चेष्टा उन्होंने बड़े अच्छे ढंग से की है, और प्रति दोहे के पूर्व पिंगलानुसार उसकी जाति का नाम तथा लघु गुरु वर्णों की संख्याएँ भी दे दी हैं, जिनसे दोहों की पाठ-शुद्धि में सहायता मिलती है। पर उन्होंने दोहों के अलंकार इत्यादि नहीं लिखे हैं। निदर्शनार्थ एक दोहे की टीका नीचे लिखी जाती है—

(नर। अक्षर ३३। गुरु १५, लघु १८।)

दोहा

पारयौ सोरु सुहाग कौ इनु बिनु हीं पिय-नेह।
उनदौहीं अँखिया ककै कै अलसौंहीं देह॥ ३८४॥

टीका—यह नायिका सौति कौं आलसवलित देखि अरु रसमसी आँखि देखि सखी सौं काकु ध्वनि करि कहति है। अन्य-संभोग-दु:खिता होइ। जो सखी नायिका सौं कहै तो याकी रिस कौ निवारन होइ।

सवैया

सैं करि आँखि उनींदी करी अवकुनत सौं मुख बोल उचारयौ ।
बारहीं बार जम्हाइ कै यौं ही ख्वरौ तन आरस कैं ढर ढारयौ ॥
झूठी जतावति है सुखसेन जगी यह जामिनी जामनि चारयौ ।
देखि तौ प्रीतम की बिन प्रीति सुहाग कौ सोर कितौ इहिं पारयौ ॥२८४॥

किसी किसी दोहे पर अपने कवित्त न बनाकर, दोहों के भावों से मिलते हुए अन्य कवियों के कवित्तों से भी कृष्ण कवि ने काम ले

इस टीका के दोहों के पूर्वापर क्रम तथा संख्या इत्यादि के विषय में छठे क्रम का विवरण द्रष्टव्य है ।

(८)

साहित्यचंद्रिका टीका

आठवीं टीका कर्ण कवि पन्नावाले की रची हुई, साहित्य-चंद्रिका नाम की है । शिवसिंह जी ने इनको ब्राह्मण लिखा है, और राजा सभासिंह जी हृदयशाही पन्नानरेश के आज्ञानुसार साहित्य-चंद्रिका का संवत् १७८४ में रचा जाना बतलाया है । उन्होंने इनके छंद जो उद्धृत किए हैं, उनसे भी उनका कथन प्रमाणित होता है । वे छंद ये हैं—

दोहा—विघनहरन पातकदरन अरि-दल-दलन अखंड ।
सुरसिच्छक रच्छाकरन गनपति-सुंडादंड ॥ १ ॥
गौरी हियैं सिरावनी बुद्धि-उदार उदंड ।
जगत-विदित छबि-छावनी गनपति-सुंडादंड ॥ २ ॥
वेद खंड गिरि चंद्र गनि भाद्र पंचमी कृष्न ।
गुरु बासर टीका करन पूरयौ ग्रंथ कृतष्न ॥ ३ ॥

साहित्य-चंद्रिका से संबंध रखनेवाले इन कर्ण कवि के ये तीन कवित्त भी शिवसिंह-सरोज में दिए हैं ।

कवित्त

सीतल सुखद सुभ सोभा के सुभाय मढ़ी,
कढ़ी बाल पाय घनी दीपति अमाप तैं।
छाई हिमि गिरि पै जुन्हाई सी जगमगाति,
करन अनूप रूप जागि उठ्यौ आप तैं॥
ऊजरी उदार सुधाधार सी धरनि पर,
पघिलि प्रवाह चल्यौ तरनि के ताप तैं।
बरफ न होइ चारौं तरफ़ निहारि देखौ,
गिरयौ गरि चंद अरबिन्दनि के साप तैं॥१॥
बड़े बड़े मोतिनि की लसति नथूनी नाक,
बड़े बड़े नैन पगे प्रेम के रसन सौं।
रूप ऐसी बेलिनि मैं सुंदर नवेली बाल,
सखिनि समूह-मध्य सोहति जसन सौं॥
काँकरी चलाई तहाँ दुरि कै करन कान्ह,
मुरकि तिरीछी चितै ओट दै असन सौं।
नेक अनखानी सतरानी मुसक्यानी भौंह,
बदन कँपायौ छबिरसला दसन सौं॥२॥
चंदन मैं बंदन मैं है न अरविंदन मैं,
कुरुविंद मैं न भानु-सारथी-बरन मैं।
बोहर मनोहर मैं कौहर मैं है न ऐसी,
गुंजनि की पीठि मैं मजीठ-अबरन मैं॥
जैसी छबि प्यारी की निहारी मैं तिहारी सौंह,
लाली यह करन चरन अधरन मैं।
है न गुलनार मैं गुलाब गुड़हुर हू मैं,
इंद्रबधू मैं न बिंब नारंगी-फरन मैं॥३॥

इन कवित्तों में से एक के विषय में यह आख्यायिका भी लिखी है—

"पहिले यह कवी काव्य पढ़िकै एक दिन सभा में राजा सभा-सिंह पन्नानरेश की गए। राजा ने यह समस्या दी (बदन कँपायो

दाबि रसना दसन सों)। इसी के ऊपर कर्णजी ने (बड़े बड़े मोतिनि की लसति नथूनी नाक) यह कवित्त पढ़ा। राजा ने बहुत प्रसन्न होकर बहुत दान सन्मान किया।"

यह महाशय अपनी रचना से एक उच्च श्रेणी के कवि प्रतीत होते हैं, यद्यपि कृष्ण कवि की प्रतिभा तक नहीं पहुँच सकते। ग्रियर्सन साहब ने इनको कर्णभट्ट लिखा है, और इन्हीं की देखा देखी पंडित अंबिकादत्त व्यास जी ने भी। पर शिवसिंहसरोज में कर्णभट्ट नाम के एक दूसरे ही कवि बतलाए गए हैं, जो कि संवत् १८५७ में पन्ना के राजा हिंदूपति जी के दरबार में उपस्थित थे। मिश्रबंधु-विनोद के लेख से इन दोनों कर्णों का एक ही होना प्रतीत होता है।

टीका के नाम से प्रतीत होता है कि इसमें साहित्य-विषयों का विशेष कथन होगा। निश्चय रूप से इसके संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता। हमको एक टीका वृन्दावन-निवासी पंडित केशवदेवजी से प्राप्त हुई है। वह प्रति संवत् १८८१ की लिखी हुई है। पर खेद का विषय है कि उसके आरंभ के ४७ पत्रे नहीं हैं, जिसके कारण उसके रचयिता तथा रचना-समय का कुछ पता नहीं चलता। उसमें दोहों के अर्थ कहने का प्रयत्न यथाशक्ति किया गया है, और अलंकार भी कहे गए हैं। कहीं कहीं उसमें व्यंग्यार्थ इत्यादि भी कुछ बतलाए हैं। हमारी धारणा होती है कि आश्चर्य नहीं जो यह टीका साहित्यचंद्रिका ही हो। यह टीका अनवरचंद्रिका के जोड़ पर बनाई प्रतीत होती है, और अनवर-चंद्रिका ही का क्रम भी इसमें ग्रहण किया गया है, यहाँ तक कि जो दोहे अनवरचंद्रिका में बिहारी-रत्नाकर से अधिक हैं उनमें से, २ दोहों को छोड़कर, जो स्वयं अनवरचंद्रिका-कारों में से किसी के ज्ञात होते हैं, शेष वे ही दोहे इसमें भी अधिक हैं, एवं जो दोहे इसमें दोहराए हुए हैं वे भी वे ही हैं जो अनवरचंद्रिका की भी कई एक प्रतियों में दुहराए हुए मिलते हैं। इसके अतिरिक्त प्रकरणों का पूर्वापर भी—एक आध प्रकरणों को छोड़कर वही है

जो अनवरचंद्रिका का है। अनवरचंद्रिका में दोहों के अलंकार, ध्वनि-भेद तथा वक्ता-बोधव्य तो बतलाए गए हैं पर अर्थ करने का, जो कि सबसे आवश्यक बात है, प्रयत्न तक नहीं किया गया है। ज्ञात होता है कि इसी त्रुटि की पूर्ति के निमित्त इस टीका की रचना हुई है। पर ध्वनि का झगड़ा, जो कि, अनवरचंद्रिका का मुख्य विषय है, इस टीकाकार ने नहीं छेड़ा है। अपने ढंग की यह प्रथम टीका है, क्योंकि इसमें दोहों के अलंकार तथा अर्थ दोनों ही दिए हैं, जो बात कि इसके पूर्व की किसी टीका में नहीं है। निदर्शनार्थ एक दोहे की टीका नीचे लिखी जाती है—

दोहा

पारचौ सोरु सुहाग कौ इनु बिनु हीं पिय-नेह।
उनदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह ॥ ३२९ ॥

टीका—सखी कौ बचन सखी सौं। इस नाइका ने आँखैं उनींदी करिकै और आलस भरी देह करिकै बिना नायक की प्रीति सुहाग कौ सोरु पारचौ है। इस कलहनावति कौं सुरतांत की व्यंगि करि लच्छिता होति है अथवा प्रेमगर्विता होति है ॥ विभावनालंकार ॥ ३२९ ॥

इसके अंतिम दोहे पर ७१३ अंक हैं। इन ७१३ दोहों में से ७ दोहे तो दोहरा के आए हैं, और १९ दोहे ऐसे हैं, जो बिहारी-रत्नाकर में नहीं हैं जिनका विशेष वर्णन अनवरचंद्रिका के क्रम के वर्णन में द्रष्टव्य है। शेष ६८७ दोहे रह जाते हैं। हमारी पुस्तक में आदि के ४७ पृष्ठ नहीं हैं, अतः इस बात का पूरा ब्योरा नहीं बतलाया जा सकता कि इसमें बिहारीरत्नाकर के कौन कौन दोहे नहीं हैं। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इसमें २६ दोहे बिहारीरत्नाकर के नहीं हैं।

[क्रमशः]
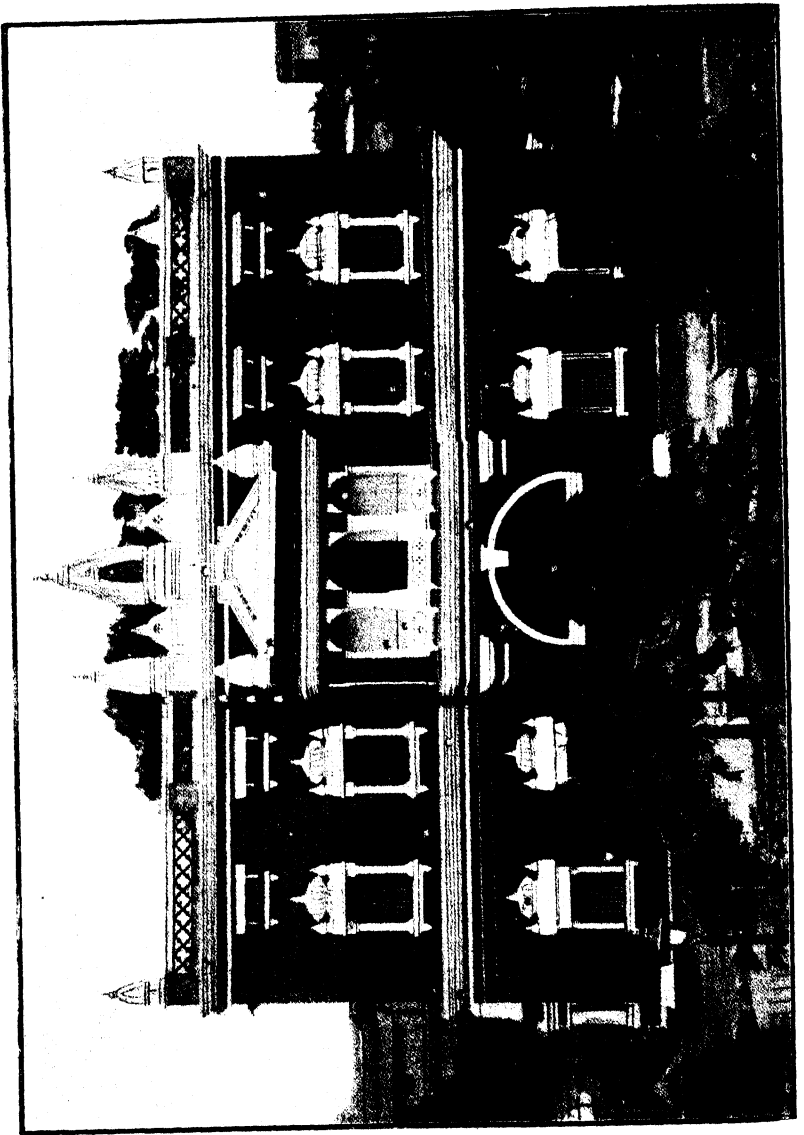
(५) बिहारी-सतसई-संबंधी साहित्य

[लेखक—बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर, बी० ए०, काशी]

(पत्रिका भाग ६ पृष्ठ १२० के आगे)

(९)

अमरचंद्रिका टीका

सतसई की नवीं टीका, अमरचंद्रिका नाम की है। इसको प्रसिद्ध कवि सूरति मिश्र ने, संवत् १७९४ की विजयादशमी गुरुवार को, जोधपुर के महाराज अभयसिंह के सचिव भंडारी नाहूला अमरचंद जी के अनुरोध से, बनाया था। इसके आदि में सूरति मिश्र ने एक दोहे में श्रीरामचंद्र जी का मंगलाचरण करके इस ग्रंथ की रचना के कारण तथा काल इत्यादि का वर्णन इस प्रकार किया है—

कवित्त

जोधपुरराज-महाराज श्री उभयसिंह,
नवकोटिनाथ गाथ प्रसिध बखानियै।
तिनके सचिव रायरायाँ श्रीउभयसिंह,
कोबिद-सिरोमनि जगत जस जानियै।
तिन मिश्र सूरति सुकबि सौं कृपासनेह,
करि कै कही यौं एक बात उर आनियै।
कठिन बिहारी-सतसैया तापै टीका कीजै,
जी कौ सुखदायी नीकौ अर्थ जातैं जानियै* ॥२॥

* इस कवित्त में महाराज जोधपुर तथा उनके दीवान दोनों के नाम उभयसिंह लिखे हैं। पर पंडित अंबिकादत्त जी ने बिहारी-बिहार की भूमिका में इतिहास राजस्थान का प्रमाण देकर लिखा है कि जोधपुर के महाराज अभयसिंह ने संवत् १७८० से १८०६ तक राज्य किया था। अतः हम इस

दोहा

और कही महाराज कैँ इहिँ ग्रंथ सौँ अति हेत।
तिनकैं हित कै रुचि रचौ रचना अर्थ-निकेत ॥ ३ ॥
यौं सुनि श्री अमरेस तैं वचन-रचन अभिराम।
रच्यौ ग्रंथ, इहिँ तैँ धर्‌यौ अमर-चंद्रिका नाम ॥ ४ ॥
भंडारी परसिद्ध जग नाडौला गुन-धाम।
प्रगटे तिहिं कुल दीप ज्यौं दीपचंद यह नाम ॥ ५ ॥
जिनके सुत सब गुन-सरस रायसिंह विख्यात।
प्रगटे तिनके घेड़सी महा सुजस-अवदात ॥ ६ ॥
जिनकौ अतुल प्रताप गुन गावत देस बिदेस।
तिनके परम प्रबीन अति प्रगटे श्री अमरेस ॥ ७ ॥
तिन कबि सूरति मिश्र सौं कीनौ परम सनेहु।
सबै भाँति सनमान कै कह्यौ ग्रंथ रचि देहु ॥ ८ ॥
अरु कुल-कबि पदवी दई कह्यौ बचन प्रसंस।
सदा तुम्हारे बंस कौं मानै हमरौ वंस ॥ ९ ॥
पंडित कबि चातुर सुहृद अलंकार जिन चित्त।
ते यौं श्रम लखि रीझिहैं इक दोषी बिन मित्त ॥ १० ॥
सत्रह सै चौरानबे आस्विनि सुदि गुरुबार।
अमर-चंद्रिका ग्रंथ कौ विजय-दसमि अवतार ॥ ११ ॥

सूरति मिश्र जी के बनाए हुए कई एक ग्रंथ हैं। पंडित अंबिकादत्तजी व्यास ने बिहारी-बिहार की भूमिका में इनके छः ग्रंथों का उल्लेख किया है—(१) सरस-रस, (२) नखसिख, (३) अलंकारमाला, (४) बेतालपचीसी, (५) अमरचंद्रिका, तथा (६)

कवित्त के प्रथम उभयसिंह को अभयसिंह पढ़ना उचित समझते हैं, और द्वितीय उभयसिंह को लेखक की अशुद्धि मान कर अमरचंद समझते हैं, क्योंकि व्यास जी ने उक्त महाराज के दीवान का नाम नाडूला भंडारी अमरेश (अमरचंद) बतलाया है, जो कि ग्रंथ के नाम 'अमरचंद्रिका' तथा सूरति मिश्र के दोहों से भी प्रमाणित होता है।

कविप्रिया की टीका। उक्त व्यासजी ने सरस-रस के १२ दोहे भी उद्धृत किए हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि सूरतिराम मिश्र कान्य-कुब्ज ब्राह्मण आगरे के रहनेवाले थे। उन्होंने उक्त सरस-रस ग्रंथ एक कवि-समाज के अनुरोध से, जो कि आगरे में हुआ था, संवत् १७६४ की वैशाख शुक्ल षष्ठी सोमवार को समाप्त किया था। उनके और ग्रंथों के विषय में व्यासजी ने कुछ नहीं लिखा है। शिव-सिंह-सरोज में उनका रसिकप्रिया पर तिलक करना भी बतलाया है, और अलंकारमाला के ये तीन दोहे दिए हैं—

दोहा

तड़ि-घन-बपु, घन-तड़ि-बसन, भाल लाल पख-मोर।
ब्रज-जीवनि मूरति सुभग जय जय जुगल किसोर ॥ १ ॥
सूरति मिश्र कनौज़िया नगर आगरे बास।
रच्यौ ग्रंथ नवभूषननि-बलित बिबेक-बिलास ॥ २ ॥
संवत् सतरह सै बरष छासठि सावन मास।
सुरगुरु सुदि एकादसी कीन्हौ ग्रंथ प्रकास ॥ ३ ॥

इनसे ज्ञात होता है कि अलंकार-माला संवत् १७६६ में बनी थी। अतः यदि उस समय सूरति मिश्र की अवस्था २५ वर्ष की रही हो तो सरस-रस तथा अमरचंद्रिका की रचना के समय उनकी अवस्था ५३ वर्ष की रही होगी। अमरचंद्रिका तथा रसिकप्रिया की टीका के अतिरिक्त इनका और कोई ग्रंथ हमने नहीं देखा है। पर सहजरामकृत कविप्रिया की टीका में इनकी कविप्रिया की टीका का उल्लेख, जिसका विवरण अंबिकादत्त जी व्यास ने किया है, हमने भी देखा है। मिश्र-बंधु-विनोद में इनके रचे हुए काव्य-सिद्धांत रसरत्नाकर और रसग्राहक-चंद्रिका नामक तीन ग्रंथ और भी बतलाए गए हैं। इनमें से रसग्राहक-चंद्रिका तो हमको स्मरण होता है कि इनकी रसिकप्रिया की टीका ही का नाम है। वह टीका हमारे पास इस समय नहीं है।

इनके बनाए हुए दोहे जो अमरचंद्रिका तथा सरस-रस में दृष्टि-गोचर होते हैं, अथवा जो इनके कवित्त निदर्शनार्थ शिवसिंह-सरोज तथा मिश्र-बंधु-विनोद में दिए हैं, उनसे ये महाशय बहुत ही सामान्य श्रेणी के कवि प्रतीत होते हैं। इनकी पद्य-रचना शिथिल तथा नीरस सी लगती है। टीका में अलंकारों इत्यादि के वर्णन से इनका पंडित होना अवश्य ज्ञात होता है, पर वह भी किसी विशेष मर्मज्ञता की श्रेणी तक नहीं।

इस टीका में दोहों के अर्थ खोलने की चेष्टा दोहों ही में की गई है, जिससे टीकाकार के अभिप्राय के समझने में उलझन पड़ती है। इसके अतिरिक्त कहीं कहीं तो व्यर्थ शंका-समाधान का वितंडावाद बढ़ाकर स्पष्टता में और भी अड़चल डाल दी गई है, और कहीं कहीं अलंकारों के अतिरिक्त कुछ कहा ही नहीं है। अलंकार-निरूपण में अनवर-चंद्रिका से और इससे प्रायः भेद दिखाई देता है। निदर्शनार्थ एक दोहे की टीका नीचे लिखी जाती है—

दोहा

पारयौ सोरु सुहाग कौ इनु बिनु हीं पिय-नेह।
उनदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह ॥ ६१५ ॥

टीका

प्रश्न—बिनु प्रिय-नेह सुहाग कौ सोरु न केहूँ होइ।
उत्तर—निज सखि-बच दीठि न लगै हित पै कहत सु जोइ॥
पर्य्यायोक्ति। लच्छन।
छल करि साधिय इष्ट जहँ पर्य्यायोक्ति सु नाम।
कोउ न टोकै इष्ट यह छल-बच कहि किय काम॥

यह टीका पुरुषोत्तमदास जी के बाँधे हुए क्रम पर की गई है। पुरुषोत्तमदास जी के क्रम की जो प्रति हमने प्रामाणिक मानी है उसमें ७०० दोहे हैं। पर अमरचंद्रिका में ७२० दोहे रखे गए हैं। इनमें एक दोहा "यद्यपि है सोभा इत्यादि" तो पुरुषोत्तमदास जी का रचित है, जिसको सूरति मिश्र ने बिहारी का समझकर अपनी

टीका में रख दिया है। शेष ७१९ दोहों में २२ दोहे ऐसे हैं जो पुरुषोत्तमदास जी के क्रम में नहीं आए हैं। इन २२ दोहों में ५ तो वे हैं जो बिहारी-रत्नाकर के द्वितीय उपस्करण के ७४,८२,११६, १२५ तथा १२७ अंकों पर दिए हुए हैं, और १७ दोहे वे हैं जो बिहारी-रत्नाकर के ८०, ९८, १३९, १८२, ३८४, ४१८, ५०३, ६१४, ६१९, ६५८, ६९२, ७०५, ७०७, ७०९, ७१०, ७११ तथा ७१२ अंकों पर आए हैं। इन २१ दोहों के निकाल डालने पर ६९८ दोहे रह जाते हैं। पुरुषोत्तमदास जी के क्रम के २ दोहे अमर-चंद्रिका में नहीं हैं, जो बिहारी-रत्नाकर के दूसरे उपस्करण के ७९ तथा ९४ अंकों पर द्रष्टव्य हैं।

(१०)

रघुनाथ बंदीजन की टीका

श्री काशिराज महाराज बरिवंडसिंह की सभा के प्रसिद्ध कवि रघुनाथ बंदीजन के विषय में भी किंवदंती है कि उन्होंने बिहारी-सतसई पर एक टीका बनाई थी, पर इस टीका का दर्शन हमको प्राप्त नहीं हुआ है, यद्यपि हमने श्रीमान् वर्त्तमान काशीनरेश महोदय के सरस्वती-भवन में भी, अपने सुहृद् स्वर्गवासी कर्नल विंधेश्वरी-प्रसाद सिंह जी, सी. आई. ई. के द्वारा, अनुसंधान कराया। शिवसिंह-सरोज, बिहारी-बिहार, तथा मिश्र-बंधु-विनोद को छोड़कर और किसी ग्रंथ में इनकी सतसई-टीका का नाम हमारे देखने में नहीं आया है, और न हमने उसके विषय में कुछ किसी से सुना ही है।

रघुनाथ कवि बड़े उच्च श्रेणी के प्रतिभाशाली कवि थे, यद्यपि उनकी भाषा में बहुधा शिथिलता तथा छंदों में अरोचकता आ जाती थी। ये महान् कवि संवत् १८०२ में उपस्थित थे और इनके वंशज अभी तक काशी के समीप चौर-गाँव में विद्यमान हैं। इन्होंने भाषा के अनेक ग्रंथ बनाए हैं जिनमें ये ग्रंथ मुख्य हैं—

(१), काव्य-कलाधर, (२) रसिकमोहन, (३) जगतमोहन, और (४) इश्क महोत्सव। इन ग्रंथों को देखने से इनको भाषा काव्य-रीति का आचार्य्य कहना अत्युक्त नहीं प्रतीत होता। इस टीका का रचना-काल विक्रम की १८ वीं शताब्दी के भीतर ही मानकर इसको यह स्थान दिया गया है।

इस प्रकार हमारी जानी हुई टीकाओं में १० टीकाएँ विक्रम की १८ वीं शताब्दी की हैं। अब हम १९ वीं शताब्दी की टीकाओं का विवरण आरंभ करते हैं।

(११)

ईसवी खाँ की रसचंद्रिका टीका

सतसई पर ग्यारहवीं टीका रसचंद्रिका नाम की है। यह नरवरगढ़ के राजा छत्रसिंह के अनुरोध से ईसवी खाँ नामक किसी व्यक्ति ने संवत् १८०९ में बनाई थी। इसके अंत में ये दोहे पाए जाते हैं—

> किय प्रसंग नरवर-नृपति छत्रसिंह भुव-भानु।
> पढ़त बिहारी-सतसया सब जग करत प्रमानु॥ १॥
> कबिनि किए टीका प्रगट अर्थ भ काहू कीन।
> अपनी कविता के लियै और कठिन करि दीन॥ २॥
> कछू रहै संदेह नहिं ऐसी टीका होइ।
> बाँचि बचन को पद अरथ समुझि लेइ सब कोइ॥ ३॥
> तब सब के हित कौं सुगम भाषा बचन-बिलास।
> उदित ईसवी खाँ कियौ रसचंद्रिका-प्रकास॥ ४॥
> नंद गगन बसु भूमि गनि कीने बरष-विचार।
> रसचंद्रिका प्रकास किय मधु-पून्यौ गुरुबार॥ ५॥

हमारे पास जो प्रति है वह मिश्रबंधु महाशयों की प्रति से लिखी गई है, जिसमें प्रत्येक दोहे पर अमरचंद्रिका तथा इस ग्रंथ की टीकाएँ आगे पीछे लिखी हैं। उस प्रति में क्रम अमरचंद्रिका

ही का है, अतः हमारी प्रति में भी वही क्रम है। इस ग्रंथ की रचना आदि के विषय में हमारी प्रति में कुछ नहीं लिखा है। स्वर्गीय पंडित अंबिकादत्त जी व्यास को इसकी एक स्वतंत्र प्रति प्राप्त हुई थी, जिसके अंत में इसके निर्माण के विषय में ऊपर लिखे हुए ५ दोहे थे। उस प्रति के विषय में व्यास जी ने लिखा है कि इसमें दोहे अकारादि क्रम से हैं, और पहला दोहा "अपने अपने मत लगे इत्यादि" तथा अंतिम दोहा "हाहा बदनु उघारि इत्यादि" है। पर हमारी समझ में इस टीका का मूल क्रम अमरचंद्रिका ही का क्रम मानना विशेष संगत है, क्योंकि इस टीका के अंत के दोहों से विदित होता है कि अन्य टीकाओं में अर्थ की अस्पष्टता देखकर यह टीका उसके स्पष्ट करने के निमित्त ही बनाई गई थी। ऐसी दशा में यह परम संभावित है कि ईसवी खाँ ने अमरचंद्रिका को लेकर उसके प्रति दोहे की टीका के पश्चात् अपनी टीका, अर्थ स्पष्ट करने के निमित्त, लिखी हो। अमरचंद्रिका में जो अलंकार लिखे हैं, उनसे इस टीका में लिखे हुए अलंकारों से कहीं कहीं कुछ भेद पड़ता है। ये भेद अर्थ-भेद पर निर्भर हैं। क्रम के विषय में जो हमारा अनुमान है वह इस बात से भी पुष्ट होता है कि "चितई ललचौंहैं इत्यादि" दोहे को छोड़कर शेष ७१७ दोहे, जो अमरचंद्रिका में ग्रहण किए गए हैं वे ही ज्यों के त्यों इस टीका में भी हैं। अमर-चंद्रिका के अंत के दो दोहे, जिनमें से एक अर्थात् "यद्यपि है सोभा इत्यादि", जो पुरुषोत्तमदास जी का है, और दूसरा अर्थात् "जो संपति बहुतै बढ़ै इत्यादि", जो किसी अन्य व्यक्ति का है, इसमें ग्रहण नहीं किए गए हैं।

एक बात का यहाँ लिख देना आवश्यक है कि व्यासजी ने जो रसचंद्रिका के अंत के दोहे उद्धृत किए हैं, उन में से अंतिम दोहे के उत्तरार्ध का पाठ यों लिखा है—

"रसचंद्रिका प्रकास किय—पूज्यो गुरुबार" इसमें मास तथा तिथि के नाम नहीं मिलते। अतः हमने पूज्यो को पून्यो

पढ़कर और छोड़े हुए स्थान पर मधु शब्द मानकर उसका पाठ यह रखा है—

"रसचंद्रिका प्रकास किय मधु पून्यो गुरुबार"। गणना करने पर संवत् १८०९ के चैत्र मास की पूर्णिमा गुरुवार को पड़ती भी है।

शिवसिंह-सरोज में इस टीका तथा टीकाकार का नाम नहीं मिलता, पर एक व्यक्ति 'ईसुफ़ खाँ' नामक कवि को बिहारी-सतसई तथा रसिकप्रिया का टीकाकार लिखा है, और संवत् १७९१ में उसकी उपस्थिति बतलाई है। मिश्र-बंधु-विनोद में भी, ज्ञात होता है कि वही लेख देख कर, वही बात लिख दी गई है, केवल इतना भेद है कि उसमें संवत् १७९१ को यूसुफ़ खाँ का जन्म-काल माना है, और उनका कविताकाल संवत् १८२० बतलाया है। ये बातें उनको कहाँ से मिलीं, इसका पता हमको नहीं है।

हमारा अनुमान होता है कि शिवसिंह सरोज में इसी टीकाकार ईसवी खाँ को भ्रमवश "ईसुफ़ खाँ" लिख दिया गया है। पंडित अंबिकादत्त व्यास ने इस टीका का विवरण भी अपनी भूमिका में लिखा है और 'यूसुफ़ खाँ' की टीका का भी नाम गिनाया है। ज्ञात होता है कि ईसवी खाँ की टीका तो स्वयं उनको प्राप्त हुई थी, और यूसुफ खाँ की टीका का नाम उन्होंने शिवसिंह-सरोज में देखकर लिख दिया है। मिश्रबंधु महाशयों के विषय में भी यही बात अनुमानित होती है।

व्यासजी ने ईसवी खाँ के नाम में नव्वाब विशेषण भी लगा दिया है। इस विशेषण के लिये उनको क्या प्रमाण मिला था यह विदित नहीं है। शिवसिंह जी ने ईसुफ़ खाँ को नव्वाब नहीं लिखा है। यदि वास्तव में ईसवी खाँ नव्वाब कहलाते थे तो उनके विषय में यह अनुमान हो सकता है, कि या तो वे नरवरगढ़ के अधीन कोई ज़िमींदार थे अथवा कोई सरदार। यह भी संभव है कि वे नरवरगढ़ के आस पास के किसी स्थान के स्वतंत्र अधिपति तथा नरवरगढ़ के राजा के मित्र रहे हों।

इस टीका का रचयिता भाषा का मर्मज्ञ तथा बड़ा प्रेमी प्रतीत होता है, और यदि 'ईसुफ़ खाँ' तथा 'ईसवी खाँ' दोनों के एक ही होने के विषय में हमारा अनुमान ठीक हो तो उसका रसिकप्रिया की टीका करना भी सिद्ध होता है। इस टीका में दोहों के अर्थ समझने समझाने का बहुत ही अच्छा प्रयत्न किया गया है। जितनी टीकाएँ ऊपर लिखी गई हैं, उन सभों में इसकी भाषा तथा ढंग प्रशंसनीय हैं। इसमें यथामति नायिका, वक्ता तथा बोधव्य बतलाने के पश्चात् दोहों के अर्थ बड़े अच्छे ढंग से, सरल भाषा में, स्पष्ट किए गए हैं, और फिर अलंकार भी कहे गए हैं. निदर्शनार्थ एक दोहे की टीका नीचे लिखी जाती है—

दोहा

पार्‌यौ सोरु सुहाग कौ इनु बिनु हीं पिय-नेह।
उनदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह॥ ६१४॥

टीका—नायिका है तौ पिय की सुहागिनि पै इसकी जो सखी है सो इसके सुहाग को नज़र लगने के वास्ते छिपावै है। और कै यौं अर्थ कीजिये कि नायिका को सौति के सुहाग का धोखा हुआ है सो सखी नायिका को समझावै है कि तेरी सौति ने उनोंदी आँखैं करि कै और अलसौंहीं देह करि कै सुहाग कौ सोरु डार्‌यौ है पै सुहागिनि तू ही है।

अलंकार पर्य्यायोक्ति, तिसका लक्षण। मिस कै कारज साधिये॥ सो यहाँ उनोदी आँखिनु अलसौंहीं देह मिस पिय के सुहाग कौ सोर पार्‌यौ। सो इहाँ नजर न लगै। यह इष्टसाधन सखी करै है। यह हेत मिस। नेह तोहि सों है इसही में पर्य्यायोक्ति है।

(१२)

हरिचरणदास की हरिप्रकाश टीका

बारहवीं टीका हरिप्रकाश नाम की है। इसको हरिचरणदास उपनाम हरि कवि ने संवत् १८३४ में बनाया था। अपनी इस टीका के अंत में जो दोहे अपने परिचयार्थ उन्होंने लिखे हैं वे ये हैं—

दोहा

सालग्रामी सरजु जहँ मिलीं गंग सौं आइ ।
अंतराल मैं देस सो हरि कवि कौ सरसाइ ॥ १ ॥
सेवी जुगलकिसोर के प्राननाथ जी नावँ ।
सप्तसती तिन सौं पढ़ौ बसि सिँगारबट ठावँ ॥ २ ॥
जमुना-तट सिंगारबट तुलसी-विपिन सुदेस ।
सेवत संत महंत जिहिं देखत हरत कलेस ॥ ३ ॥
पुरोहित श्री नंद के मुनि सांडिल्य महान ।
हम हैं तिनके गोत्र में मोहन मो जजमान ॥ ४ ॥
मोहन महा उदार तजि, औरर जाँचियै काहि ।
रिद्धि सुदामा कौं दई इंद्र लही नहिं जाहि ॥ ५ ॥
गही अकस मन तात तैं बिधि के बंस लखाइ । (?)
राधा-नाम कहैं सुनैं आनन कानिन ठाइ ॥ ६ ॥
सँबत अठारह सै बिते तापर तीसऽरु च्यारि ।
जनमाठैं पूरौ कियौ कृष्न चरन मन धारि ॥ ७ ॥
लिखे इहाँ भूषन बहुत अनवर के अनुसार ।
कहुँ औरै कहुँ और हू निकरैं गेऽलंकार ॥ ८ ॥

अपनी कविप्रिया की टीका के अंत में इन्होंने ये दोहे लिखे हैं

दोहा

राजत सुबे बिहार मैं है सारन सरकार ।
सालग्रामी सुरसरित-सरजू सोभ अपार ॥ १ ॥
सालग्रामी सरजु जहँ मिलीं गंग सौं आइ ।
अंतराल मैं देस सो हरि कबि कौ सरसाइ ॥ २ ॥
परगन्ना गोवा तहाँ गावँ चैनपुर नाम ।
गंगा सों उत्तर तरफ तहँ हरि कबि कौ धाम ॥ ३ ॥
सरजूपारी द्विज सरस बासुदेव श्रीमान ।
ताकौ सुत श्री रामधन ताकौ सुत हरि जान ॥ ४ ॥

नवापार मैं ग्राम है बढ़या अभिजन तास।
बिस्वसेन-कुल-भूप बर करत राज रबिभास॥ ५॥
मारवाड़ मैं कृष्णगढ़ तहँ नित सुकबि-निवास। } ?
भूप बहादुरराज है बिरदसिंह जुबराज॥ } ६॥
राधा तुलसी हरिचरन हरि कबि चित्त लगाइ।
तहँ कबिप्रियाभरन यह टीका करी बनाइ॥ ७॥
सत्रह सौ छ्यासठ महाकबि कौ जन्म बिचारि।
कठिन ग्रंथ सूधौ कियौ लैहैं सुकबि निहारि॥ ८॥

... ...

सँवत अठारह सै बिते पैंतिस अधिके लेखि।
साका सत्रह सौ जबै कियौ ग्रंथ हरि देखि॥ १४॥
माघ मास तिथि पंचमी सुक्ला कबि कौ बार।
हरि कबित्त सौँ प्रीति हो राधा नंदकुमार॥ १५॥

... ...

कविवल्लभ के अंत में ये दोहे पाए जाते हैं—

दोहा

नवापार सुभ देस मैं राजा बढ़ैया ग्राम।
श्री विश्वंभर बंस मैं बासुदेव सुभ नाम॥ १॥
ताके सुत श्री रामधन कियौ चैनपुर बास।
परगन्ना गोवा तहाँ चारि बरन सहुलास॥ २॥
सालिग्रामी सरजु जहँ मिलीं गंग की धार।
अंतराल मैं देस, तहँ है सारन-सरकार॥ ३॥
तनय रामधन सूरि कौ हरि कबि किय मरु-बास।
कबि-बल्लभ ग्रंथहिं रच्यौ कबिता-दोष-प्रकास॥ ४॥

... ...

संबत नंद हुतासन दिग्गज इंदु हू सौं गनना जु दिखाई।
दूसरौ जेठ लसी दसमी तिथि प्रात सु सामरो पच्छ सुहाई॥

तीरथ जग्य के औ बुधबासर बिक्रम की गति लाइ लगाई।
श्री तुलसी-उपकंठ तहाँ रचना यह पूरी भई सुखदाई ॥ ६ ॥

ऊपर लिखे हुए छंदों के पाठ यद्यपि कुछ गड़बड़ हैं तथापि उनसे इतना विदित हो जाता है कि हरिचरणदासजी सांडिल्य गोत्री सरयूपारीण ब्राह्मण थे। उनके पूर्वज नवापार बढ़ैया ग्राम के रहनेवाले थे, और इनके पितामह का नाम वासुदेव और पिता का नाम रामधन था, जो बढ़ैया ग्राम छोड़कर सूबे बिहार के परगना गोवा के चैनपुर नामक ग्राम में जा बसे थे। उनके नाम के साथ सूरि शब्द के लगे होने से प्रतीत होता है कि वे जैनमतावलंबी थे। हरिचरणदास जी का जन्म संवत् १७६६ में हुआ था। वे पिता से कुछ अनबन हो जाने के कारण घर से निकल पड़े और वृंदावन में पहुँचकर वैष्णव मत धारण कर संवत् १८३४ तक शृंगारबट नामक स्थान में रहे। वहाँ प्राणनाथ जी नामक कोई युगल किशोर जी के उपासक वैष्णव भी रहते थे। उनसे हरिचरणदास जी ने बिहारी की सतसई पढ़ी, और वृंदावन ही में हरि-प्रकाश नामक उसकी टीका संवत् १८३४ में बनाई। इस टीका के अंत के दोहों में किशन-गढ़ इत्यादि का नाम नहीं आया है। पर ज्ञात होता है कि उसी संवत्, अथवा १८३५ संवत् के आरंभ में ये महाशय किशन-गढ़ चले गए। वहाँ उस समय बहादुरराज, जिनको मिश्रबंधु-विनोद में बहादुरसिंह तथा प्रसिद्ध नागरीदास जी का भाई लिखा है, राजा थे और विरदसिंह जी युवराज। कविप्रिया की कविप्रिया-भरण नाम की टीका इन्होंने किशन-गढ़ में संवत् १८३५ के माघ मास की बसंत पंचमी को समाप्त की। उसके पश्चात् कुछ दिनों वहाँ रहकर, प्रतीत होता है कि वह फिर वृंदावन चले आए, क्योंकि अपने कविवल्लभ नामक ग्रंथ का वृंदावन में संवत् १८३९ में समाप्त होना लिखते हैं।

स्वर्गवासी बाबू राधाकृष्णदास का यह कथन, स्वर्गीय पंडित अंबिकादत्त जी व्यास ने बिहारी-बिहार की भूमिका में लिखा है कि "नागरीदास (महाराज सावंतसिंह) की सभा में भी एक पूर्व

निवासी सनाढ्य हरिचरणदास थे, जिनने सभाप्रकाश, कविवल्लभ, रसिकप्रिया-टीका, कविप्रिया-टीका, और सतसई-टीका, ये ग्रंथ बनाए"। इस कथन में हरिचरणदास जी का उक्त ग्रंथों का बनाना तो अवश्य ठीक है, पर उनका सनाढ्य होना सर्वथा ठीक नहीं है, और उनका नागरीदास जी की सभा में उपस्थित रहना भी संशयात्मक ही है, क्योंकि व्यास जी ही के कथनानुसार नागरीदास जी का स्वर्गवास संवत् १८२३ में हो गया था, और हरिचरणदास जी ने अपने १८३४ तक के बनाए हुए ग्रंथ में किशनगढ़ का कुछ उल्लेख नहीं किया है। हाँ यह संभव है कि नागरीदास जी से और इनसे वृंदावन में प्रायः साक्षात् तथा सत्संग होता हो, क्योंकि नागरीदास जी पूर्ण भक्त तथा परम वैष्णव और बड़े सुघर और रसिक कवि थे, और बहुधा वृंदावन आया जाया करते थे। सुना गया है कि अंतावस्था में वे वृंदावन ही में जाकर रहे थे, और वहीं उनका देहांत हुआ।

हरिचरणदास जी के इतने ग्रंथ देखने सुनने में आए हैं—(१) मोहनलीला, (२) भाषाभूषण की चमत्कारचंद्रिका टीका, (३) सभाप्रकाश, (४) बिहारी-सतसई की हरिप्रकाश टीका, (५) कविप्रिया की कविप्रियाभरण टीका, (६) रसिकप्रिया की टीका, (७) कविबल्लभ, तथा (८) कर्णाभरणकोष।

शिवसिंह-सरोज में हरिचरणदास तथा हरि कवि को दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति करके लिखा है, और हरि कवि के चमत्कारचंद्रिका तथा कविप्रियाभरण, ये दो ग्रंथ कहे हैं, और हरिचरणदास का एक ग्रंथ कविबल्लभ। मिश्रबंधुविनोद में भी ये दो व्यक्ति भिन्न भिन्न ही कहे गए हैं। पर वास्तव में ऐसा नहीं है। हरिचरणदास तथा हरि कवि दोनों महाशय एक ही व्यक्ति थे, और दोनों के रचे हुए जो भिन्न भिन्न ग्रंथ बतलाए गए हैं वे वास्तव में एक ही व्यक्ति के हैं। हरिचरणदास जी ही कविता में अपना नाम हरि कवि रखते थे जैसा कि ऊपर उद्धृत किए हुए दोहों से विदित होता है।

इनकी कविता देखने से ये बड़े उच्चकोटि के कवि प्रतीत होते हैं। ये महाशय पंडित भी बड़े थे और इनका सभाप्रकाश ग्रंथ इनको गणना भाषा-साहित्य के आचार्य्यों में कराता है। इनकी सत-सई की टीका बड़ी ही उत्तम तथा अर्थ जिज्ञासुओं के निमित्त परम उपयोगी है। जितनी टीकाओं का वर्णन अब तक हो चुका है उनमें से, रसचंद्रिका को छोड़कर, कोई भी इसकी समता नहीं कर सकती। यह पुरानी सरल भाषा में लिखी गई है, और शब्दार्थ तथा भावार्थ दोनों ही के स्पष्ट करने की इसमें पूर्ण चेष्टा की गई है। यद्यपि टीकाकार ने कहीं कहीं शब्दों की चीर फाड़ करके अर्थों में खींचातानी की है, तथापि यह मुक्त कंठ से कहा जा सकता है कि यह टीका दोहों के अर्थ समझने के निमित्त बड़े काम की है। निदर्शनार्थ एक दोहे की टीका नीचे लिखी जाती है—

दोहा

पार्‌यौ सोरु सुहाग कौ इनु बिनु हीं पिय-नेह।
उनदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह ॥ ६११ ॥

टीका—पार्‌यौ इति। सौति की सखी कौ बचन ईर्षा सों काहू स्त्री सों। या नायिका ने पिय के नेह बिन सोहाग को सोर पार्‌यौ, सौभाग्य प्रसिद्ध कियौ, उनींदीं आंखैं करि करि, आलस भरी देह करि कै, राति नायक के संग जागी है यातैं आँखि में नींद लगी है, पिय कौ नेह सोहाग प्रसिद्ध होने को कारन है सो नहीं है। विभावनालंकार—"होति छ भाँति विभावना कारन बिन ही काज"। किंवा सोहाग प्रसिद्ध होनौ इष्ट है ताकौं छल करि साध्यो, यातैं पर्य्यायोक्ति अलंकार। "छल करि कारज साधियै जो कछु चितहिं सुहात"। संदेह जहाँ अलंकार का होइ तहाँ संकर जानियै ॥ ६११ ॥

इस टीका में पुरुषोत्तमदास जी का क्रम ग्रहण किया गया है, जिसका विवरण तीसरे क्रम में हो चुका है। पर हरिचरणदास जी ने दो चार दोहों के क्रमों में कुछ हेर फेर कर दिया है और पुरु-

षोत्तमदास जी से कुछ दोहे न्यूनाधिक करके ७१२ दोहे रखे हैं। पुरुषोत्तमदास जी के क्रम की मुख्य प्रति में ७०० दोहे हैं। हरिचरणदास जी ने अपनी टीका में उन ७०० दोहों में से ८ दोहे तो छोड़ दिए हैं और २० दोहे अन्य पुस्तकों में से लेकर बढ़ा दिए हैं। इस प्रकार उनकी टीका में ७१२ दोहे हो गए हैं। छोड़े हुए ८ दोहों में से २ दोहे तो बिहारी-रत्नाकर के द्वितीय उपस्करण के ७९ तथा ९४ अंकों के हैं और ६ दोहे बिहारी-रत्नाकर के ३६६, ३७६, ४३२, ४६२, ४८७ तथा ५९० अंकों के। बढ़ाए हुए २० दोहों में से ७ दोहे उक्त उपस्करण के ८२, ८८, ११९, १२५, १२८, १२९, तथा १३० अंकों पर द्रष्टव्य हैं और शेष १३ दोहे बिहारी-रत्नाकर के ८०, ९९, ११९, १८२, ३८४, ४१८, ५०३, ६१४, ६९२, ७०७, ७०९, ७११ तथा ७१३ अंकों पर।

हरिप्रकाश के छोड़े हुए तथा बढ़ाए हुए दोहों का मिलान अमरचंद्रिका के ऐसे दोहों से करने से लक्षित होता है कि हरिचरणदास ने पुरुषोत्तमदास जी का क्रम अमरचंद्रिका ही से लिया था, क्योंकि हरिप्रकाश में भी विशेषत: वे ही दोहे न्यूनाधिक हैं जो अमरचंद्रिका में पाए जाते हैं।

यह टीका सन् १८९७ ई० में भारतजीवन प्रेस, काशी, से प्रकाशित हुई थी। पर इसकी प्रतियाँ अब प्राप्त नहीं होतीं। यदि कोई महाशय इसका एक शुद्ध संस्करण प्रकाशित कर दें तो साहित्य की बड़ी सेवा हो।

(१३)

लाल कवि बंदीजन कृत लालचंद्रिका टीका

शिवसिंह ने काशीनिवासी लालकवि बंदीजन की बनाई हुई लालचंद्रिका नाम की एक टीका बतलाई है, और उनको महाराज चेतसिंह की सभा का कवि कहा है। संवत् १८४७ में इनकी उपस्थिति शिवसिंहसरोज में और संवत् १८३२ में मिश्रबंधु-

विनोद में मानी गई है। इनका और एक ग्रंथ आनंदरस नायिका-भेद का भी शिवसिंह ने लिखा है, और ये कवित्त उनकी रचना के दिए हैं—

कवित्त

अरिन सँहारै गजघटनि अहारै श्रोन
पियत अपारै ऐसी जौलिम जवाल की।
जंग जीतिबे की जामे अमित कला है काल
कैसी अबला है ऐसी सोहत हवाल की॥
कहै कवि लाल जंग मुकुति जुगुति वारी
चेतसिंह करवारी है धौं कौन काल की।
यमदंडिका सी...बीच चंडिका सी है
सुरत्न कंडिका सी तेज कासी महिपाल की॥ १॥

छोटे छोटे पात कौनौ काम के न ठहरात
देखे छुट छाँह मन कैसे कै रखाइये।
पैने पैने कंटक विलोकि कै बढ़त सूल
मूल हू में ठौर बिसराम कों न पाइये॥
लाल कवि फूले फूले रस रूप गंध बिना
स्वाद बिना फूल मुख कैसे कै लगाइये।
तुमहीं कहौ न तौन बारी के बबूर जौन
कौन आस राखि रावरे के पास आइये॥ २॥

वंसीवारे प्यारे तेरी बानी की प्रवाह बीच
तरत सभा की सभा प्रेम नीर छाकी है।
बेनु के अदा की तान बाँकी बेस कवि लाल
चर थिरता की थिर चरताहू थाकी है॥
अकथ कथा की कथा कहाँ लौं बखानौं तथा
भव की व्यथा को नेक सुनत वृथा की है।
पंडित प्रथा की मति थाकी है लथापथ ह्वै
न इहि व्यथा की थाकी कहन कथा की है॥ ३॥

इस टीका तथा टीकाकार के विषय में और कुछ ज्ञात नहीं है। पंडित अंबिकादत्त जी व्यास ने इनका नाम लाल कवि तथा इनकी टीका का नाम लालचंद्रिका होने के कारण यह लिखा है कि ये लाल कवि (लल्लूलालजी) और वे लाल कवि (काशीवाले) एक तो कभी नहीं हो सकते हैं क्योंकि दोनों में समय का भी ५० वर्ष का आगा पीछा होता है तथा काशीवाले तो भाट थे। उनके वंश के अभी तक उसी दरबार में हैं और ये तो औदीच्य गुजराती थे। हाँ यह है कि ये भी लाल कवि कहलाते थे जैसा इनने स्वयं लिखा है कि 'टीका की कवि लाल ने'।

समय के अंतर के विषय में तो हम व्यासजी के कथन से सहमत नहीं हैं पर दोनों लाल कवियों का पृथक् होना हमको भी मान्य है, क्योंकि एक तो दोनों की जाति में भेद है और दूसरे जो कवित्त काशी के लाल कवि के ऊपर लिखे गए हैं वे लल्लूलालजी के नहीं प्रतीत होते।

इस टीका का रचनाकाल संवत् १८४० के आस पास अनुमान करके हमने इसका विवरण इस तेरहवें स्थान पर किया है।

इसके क्रमादि के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

(१४)

मनीराम कृत प्रतापचंद्रिका टीका

सतसई की १४ वीं टीका प्रतापचंद्रिका है। इस पुस्तक की एक प्रति जयपुर-निवासी महामहोपाध्याय पंडित श्री गिरिधर जी शर्म्मा के पास है। उसी से हमारे पंडित विद्याभूषण रामनाथजी ज्योतिषी ने कुछ नोट कर लिए थे, उन्हीं के अनुसार उसका विवरण लिखा जाता है। इस टीका के अंत में ये दोहे टीकाकार के लिखे हैं—

दोहा

मैं निज मति-माफक कियौ कवि-मति कौ परकास।
लीजै सुमति सुधारि कै जिनकैं बुद्धि-बिलास॥ १॥

अनवरखाँ ने जे लिखे अलंकार चित लाइ ।
अमर नै सु तिन मैं अधिक अलंकार दरसाइ ॥ २

... ...
... ...

अनवरखाँ अरु अमर तैं भूषन अधिक सु जोइ ।
श्रीप्रताप की चंद्रिका लिखैं लिखे कवि सोइ ॥ ६ ॥

... ...
... ...
... ...

प्राचीननि नैं जो लिखे सो हैं ह्याँ या माहिं ।
नूतन की संख्या लिखी सो सु विचारहु आइँ ॥ ९ ॥

नृप नाथ सु कै है सबै कवि पंडित समुदाइ ।
मनीराम भूषन लिखे तिनकी सिच्छा पाइ ॥ १० ॥

कंठाभरन कविप्रिया भाषाभूषन देखि ।
रसरहस्य रतनाकर सु औरहु मतनि विसेषि ॥ ११ ॥

नूतन भूषन सो कहौ तिन कौ मन न विचारि ।
मनीराम बिनती करै भूल्यौ लेहु सुधारि ॥ १२ ॥

इन दोहों से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि इस टीका के रचयिता का नाम मनीराम था । इस ग्रंथ का नाम प्रतापचंद्रिका होने से तथा इसकी प्रति के जयपुर में प्राप्त होने से यह अनुमान किया जा सकता है कि इसके रचयिता मनीराम के आश्रयदाता जयपुर के महाराज प्रतापसिंह रहे होंगे जिनकी सभा में परम प्रसिद्ध पद्माकर कवि उपस्थित थे, और जिनके बेटे महाराज जगतसिंह के नाम को उक्त पद्माकर जी ने अपने जगद्विनोद नामक ग्रंथ से साहित्य संसार में अमर कर दिया है । महाराज प्रतापसिंह ने संवत् १८३५ से १८६० तक राज किया था । ये महाराज कविता के बड़े गुणग्राही और स्वयं भी विद्वान् और कवि थे ।

मनीराम ने अपने विषय में इस ग्रंथ में कुछ नहीं लिखा है। पर उन्होंने कंठाभरण का नाम लिखा है, जो अनुमान से संवत् १८०० के आस पास का बना हुआ है, क्योंकि शिवसिंह ने दूलह की उपस्थिति संवत् १८०३ में लिखी है। अतः मनीराम की उपस्थिति तथा प्रतापचंद्रिका की रचना का काल संवत् १८०० के पश्चात् संभावित है, और ग्रंथ के प्रतापचंद्रिका नाम होने से, उसका जयपुर के महाराज प्रतापसिंह के समय में संवत् १८५० के आस पास का बनना माना जा सकता है। शिवसिंह-सरोज में दो मनीराम कवि लिखे हैं। उनमें से एक को तो कन्नौजवाले मिश्र लिखा है और संवत् १८३९ में उनकी उपस्थिति बतलाई है, और यह भी लिखा है कि छंद छप्पनी नामक पिंगल बहुत ही सुंदर उनका बनाया हुआ है। दूसरे मनीराम के विषय में केवल इतना ही लिखा है कि, इनके शृंगार में सुंदर कवित्त हैं, और उनका यह कवित्त भी दिया है—

वह चितवनि वह सुंदर कपोलदुति वह दसननि छवि विज्जु की धरति है। वहं ओठ-लाली वह नासिका सकोरनि मैं वह हाव, भाव, कै यौं कोतुक करति है॥ कहै मनीराम छवि बरनि सकैं न वह रति तैं सरस मन मुनि कौ हरति है। वह मुसकानि जग मोहनि कमान-दुति वह बतरानि नां बिसारी बिसरति है॥

मिश्रबंधु-विनोद में चार मनीराम लिखे हैं। उनमें से एक मनीराम तो छंदछप्पनी-वाले ही हैं। इनके पिता का नाम इच्छाराम मिश्र और जाति कान्यकुब्ज बतलाई है। इन के बनाए हुए एक और ग्रंथ आनंदमंगल का भी पता दिया है और छंदछप्पनी तथा आनंदमंगल दोनों का रचनाकाल संवत् १८२९ कहा है। दूसरे मनीराम के विषय में केवल इतना ही कहा है कि इनका कविताकाल संवत् १८४० के पूर्व था और ये साधारण श्रेणी के कवि थे, पर इनके बनाए हुए जो दो ग्रंथ अर्थात् सारसंग्रह तथा आनंदमंगल लिखे हैं उनमें से आनंदमंगल ग्रंथ का नाम प्रथम मनीराम के साथ भी आया है, और इन दोनों मनीरामों का कविता-काल भी मिलता

है, अतः हमारी समझ में ये दोनों मनीराम एक ही थे। तीसरे मनीराम के विषय में मिश्रबंधु महाशयों ने इतना ही लिखा है कि ये चंद्रशेषर के पिता थे और इनका कविता-काल संवत् १८७० था। चंद्रशेषर जी के विषय में उन्होंने कुछ नहीं लिखा है कि वे कब, कौन और कहाँ के थे। एक चंद्रशेषर जी वाजपेयी नामक कवि के दो ग्रंथ हम्मीरहठ और रसिकविनोद हमने बहुत दिन हुए भारतजीवन प्रेस में छपवाए थे। उनमें से हम्मीरहठ संवत् १९०२ तथा रसिकविनोद संवत् १९०३ का रचा हुआ है। हम्मीरहठ की भूमिका में हमने चंद्रशेषर जी के पुत्र गौरीशंकर जी से ज्ञात करके उनके पिता का नाम मनीराम और उनका जन्म-काल संवत् १८५५ लिखा था। ज्ञात होता है कि तीसरे मनीराम जी से मिश्रबंधु महाशयों का तात्पर्य इन्हीं मनीराम जी से है। हमको अनुमान से प्रतीत होता है कि ये तीसरे मनीराम जी भी छंदछप्पनी वाले ही मनीराम जी थे। इस प्रकार ये तीनों मनीराम एक ही ठहरते हैं, और ये ही प्रतापचंद्रिका के रचयिता भी प्रतीत होते हैं, क्योंकि चौथे मनीराम का जन्म, मिश्रबंधु-विनोद में संवत् १८९६ लिखा है, अतः यह तो प्रतापचंद्रिका के रचयिता हो नहीं सकते। ज्ञात होता है कि मनीराम जी कुछ दिनों जयपुर में जाकर रहे थे और उनके पुत्र चंद्रशेषर जी भी अपनी युवावस्था में वहाँ रहे होंगे और उनसे पद्माकर जी से साक्षात् और सत्संग हुआ होगा, क्योंकि उनकी कविता में पद्माकर जी के ढंग की छाया बहुत दिखाई देती है, और उनका रसिकविनोद ग्रंथ तो पद्माकर जी के जगद्विनोद के जोड़ पर ही बना है।

इस टीका में अनवरचंद्रिका तथा अमरचंद्रिका में कहे हुए अलंकारों तथा अन्य साहित्यांगों के स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है, और उक्त ग्रंथों में कहे हुए अलंकारों के अतिरिक्त कुछ अन्य अलंकार भी बतलाए गए हैं। पर अर्थ स्पष्ट करने का प्रयत्न ग्रंथकार ने सर्वथा नहीं किया है; केवल अपना नाम सतसई के टीकाकारों में अवश्य गिना दिया है।

इस टीका में क्रम अमरचंद्रिका का रखा गया है जिसका विवरण चौथे क्रम में किया गया है।

(१५)

अमरसिंह कायस्थ राजनगर छतरपुर की अमरचंद्रिका टीका

इस टीका का विवरण हमको केवल मिश्रबंधु-विनोद में १०५८ अंक पर मिला है। इसके रचयिता के विषय में उक्त ग्रंथ में लिखा है कि उनका जन्म संवत् १८२० में हुआ था और उनका कविता-काल संवत् १८४५ था। छतरपुर राज के स्थापक कुवँर सोने साह के वे दीवान थे, और उनके बनाए तीन ग्रंथ हैं—(१) सुदामाचरित्र, (२) रागमाला, और (३) अमरचंद्रिका (बिहारी सतसई की गद्य-पद्यमय टीका)।

यह टीका हमने स्वयं नहीं देखी है, अतः इसके विषय में हम कुछ नहीं कह सकते।

(१६)

राधाकृष्ण चौबेकृत बिहारी सतसइया पर पद्य टीका

मिश्रबंधु-विनोद में १०७६ अंक पर राधाकृष्ण चौबे (चित्रकूट) की बनाई हुई बिहारी-सतसई की एक पद्य टीका लिखी है और चौबे जी का कविता-काल संवत् १८५० के पूर्व, और उनका बनाया हुआ एक और ग्रंथ कृष्णचंद्रिका बतलाया है।

यह टीका भी हमने स्वयं नहीं देखी है। अतः इसके विषय में भी विशेष नहीं लिखा जाता।

(१७)

ठाकुर कवि कृत सतसैया-वर्णार्थ अर्थात् देवकीनंदन-टीका

१७ वीं टीका देवकीनंदन की टीका कहलाती है। इसके रचयिता ठाकुर कवि ने बाबू देवकीनंदन सिंह के प्रसन्नतार्थ इसको संवत्

१८६१ में रचा था। बाबू देवकीनंदन सिंह के पूर्वज प्रयाग के पश्चिम गंगा के दूसरे तट पर सिंगरौरपुर में रहते थे। देवकीनंदन सिंह जी के पितामह का नाम रणसिंह, और पिता का नाम चिंतामणिसिंह था। बाबू देवकीनंदन सिंह लखनऊ के नवाब गाजिउद्दीन हैदर से कुछ अनबन हो जाने के कारण काशी में आ बसे थे। पीछे फिर ये अँगरेजों की ओर से प्रयाग के सूबेदार भी हो गए थे। ठाकुर कवि उन्हीं के यहाँ रहते थे और उन्हीं की आज्ञा से उन्होंने यह टीका बनाई थी।

अपने विषय में ठाकुर ने इतना ही लिखा है कि मेरे पिता का नाम ऋषिनाथ था और वे असनी के रहनेवाले थे। पर श्रीनगर, जिला पुरनियाँ, के राजा स्वर्गवासी राजा कमलानंदसिंह जी ने जो सेवकराम कवि का वाग्विलास नामक ग्रंथ छपवाया है, उसमें स्वर्गीय पंडित अंबिकादत्त व्यास तथा सेवकराम जी के भतीजे कृष्ण-कवि के लिखे हुए जो सेवकराम जी के वंश के वर्णन दिए हैं, उनसे ठाकुर कवि के विषय में ये बातें विदित होती हैं—

"सेवक कवि के पूर्वज सरजूपारी पयासीकुल के मिश्र थे और जिला गोरखपुर के मझौली राज में रहते थे। इस वंश में देवकी-नंदन मिश्र भाषा के कवि हुए। मझौली राज से इनको महापात्र की पदवी मिली। पर यह पदवी उन दिनों प्रायः भाट जातियों ही में थी और इनका प्रायः भाट कवियों ही से मेल जोल था सो ये कई कारणों से जाति-बहिष्कृत किए गए। तब से ये जिला फतहपुर के असुनी नगर में आए। वहाँ इन्हें गुणी और राजमान्य देख नरहर नामक ब्रह्मभट्ट ने अपनी कन्या ब्याह दी और जगह भूमि आदि दे असुनी ही में बसाया। तब से इनका वंश असुनी में चला और तभी से सरयूपारी जाति छोड़ भाट जाति में मिले।"

"इनके पुत्र ऋषिनाथ भी कवि हुए और उस समय के काशी-नरेश महाराज बरिवंडसिंह देव बहादुर के यहाँ रहे (इनने अलंकार-मणिमंजरी नामक ग्रंथ रचा)।"

"इनके पुत्र प्रसिद्ध ठाकुर कवि काशी के एक जमींदार बाबू देवकीनंदन सिंह के आश्रित रहे। इनने बिहारी सतसई की टीका बनाई जिसका विवरण मैं बिहारी-बिहार में प्रकाशित कर चुका हूँ। बाबू देवकीनंदन साहेब ने उन्हें हाथी आदि दे बहुत सन्मान किया।"

वाग्विलास की भूमिका में कृष्णकवि ने यह भी लिखा है कि देवकीनंदन को नरहरि कवि ने सन् १५६० ई० में असुनी में बसाया था, और उन नरहरि को अकबर के दरबारवाले प्रसिद्ध नरहरि कवि कहा है। पर काल-विचार करने से यह बात ठीक नहीं ठहरती, क्योंकि मिश्रबंधु-विनोद में प्रसिद्ध कवि नरहरि का जन्म संवत् १५६२ बताया है। यदि उनको ४० वर्ष की अवस्था में पुत्री हुई हो और उसका विवाह चौदह या पंद्रह वर्ष की अवस्था में देवकीनंदन जी के साथ हुआ हो तो कृष्णकवि जी का यह लिखना कि नरहरिजी ने उनको सन् १५६० ई० में असुनी में बसाया था ठीक हो सकता है, क्योंकि सन् १५६० ई० में संवत् १६१७ होता है। पर संवत् १६१७ में जिस व्यक्ति का विवाह हुआ हो उसके पौत्र का ग्रंथरचना-काल संवत् १८६१ नहीं हो सकता। अतः यदि देवकीनंदनजी का नरिहरिजी द्वारा असुनी में बसाया जाना ठीक माना जाय तो नरहरि कवि को अकबर के दरबारवाले प्रसिद्ध नरहरि कवि के अतिरिक्त कोई अन्य कवि मानना पड़ता है, अथवा ऋषिनाथ जी को देवकीनंदन जी का पुत्र न मान कर उनके वंश में उनसे चार पाँच पीढ़ी पीछे मानना पड़ता है। सेवकराम जी ने वाग्विलास में जो स्वयं अपने वंश का वर्णन लिखा है उसमें ठाकुर कवि को ऋषिराम जी का पुत्र तो अवश्य लिखा है पर ऋषिराम के पिता का नाम नहीं कहा है। अतः यह संभव है कि देवकीनंदन जी कवि की आख्यायिता वंश में चली आती हो और ऋषिरामजी के पश्चात् के वंशजों का नाम देवकीनंदन की टीका तथा वाग्विलास इत्यादि ग्रंथों में पाकर, और ऋषिराम जी के पूर्व पुरुषों का नाम कहीं न पाकर कृष्णकवि ने ऋषिराम जी को देवकीनंदन जी कवि का पुत्र

मान लिया हो। शिवसिंह-सरोज में ठाकुर नाम के चार कवि लिखे हैं, एक को ठाकुर कवि प्राचीन, दूसरे को ठाकुरप्रसाद त्रिपाठी कृष्णदासपुर वाले, तीसरे ठाकुरराम कवि और चौथे को त्रिवेदी अलीगंज वाले करके लिखा है। उनमें से पिछले तीन ठाकुर तो सतसई के टीकाकार हो नहीं सकते, और चौथे ठाकुर भी यह टीकाकार नहीं हैं, क्योंकि उनकी उपस्थिति का संवत् शिवसिंह ने यह विचारकर कि उनके कवित्त कालिदास के हजारे में आए हैं, १७०० लिखा है, और हमारे टीकाकार ने अपनी टीका संवत् १८६१ में समाप्त की। ग्रियर्सन साहब ने देवकीनंदन टीका का विवरण नहीं लिखा है। पंडित अंबिकादत्त व्यास जी ने बिहारी-बिहार की भूमिका में देवकीनंदन की टीका का विवरण तो किया है पर ठाकुर कवि के बारे में कुछ विशेष नहीं लिखा है।

मिश्रबंधु-विनोद में जो ठाकुर कवि के विषय में लिखा है उससे भी इन ठाकुर कवि का कुछ निर्णय नहीं होता। बात यह ज्ञात होती है कि वह ठाकुर कवि, जिनके कवित्त, सवैया प्रसिद्ध हैं, और जिनके उदाहरण कालिदास के हज़ारे में मिलते हैं, इन ठाकुर कवि से भिन्न व्यक्ति थे, और मिश्रबंधु-विनोद में जो कवित्त, सवैया इन ठाकुर कवि की कविता के उदाहरण में दिए हैं, वे वस्तुतः उन्हीं प्राचीन ठाकुर कवि के हैं। हमारा यह अनुमान इस बात से भी पुष्ट होता है कि इन ठाकुर कवि की कविता जो सतसई की टीका तथा वाग्विलास में देखने में आती है, वह, यद्यपि अच्छी है, तथापि वैसी सरस तथा हृदयग्राहिणी नहीं है जैसी प्राचीन ठाकुर की देखने सुनने में आती है। निदर्शनार्थ इन ठाकुर कवि की कुछ कविता नीचे दी जाती है—

(सतसई टीका)

समर गिराय बैरिहूँ कौं जीव दान दियौ,
आन-दानवारी कथा कहाँ लौं बखानई।
दाता बड़ौ ज्ञाता बीर बिरच्यौ विधाता रह्यौ,
रामरस राता काज किए तैं प्रमानई॥

ठाकुर भनत सरनागत कौ पाल्यौ सदा,
हाल्यौ न प्रतिज्ञा तैं सुधीर गुन गानई।
भूप रनसिंह रीति सुकरम वारी करी,
सुधरम धारी भारी सब जग जानई॥

सेना बादशाही मैं कसाईं कौं खपाइ जिन,
ली बचाइ गाय रहे निडर दराज हैं।
रच्छि सरनागत नजबखाँ नवाबैं दबे,
नेक न उजीरैं करे सब सुभ काज हैं॥
ठाकुर भनत भूप चिंतामणिसिंह निज,
नाम सत्यं कीन्हें कामं गरिबनिवाज हैं।
जाँचक निवाहे दिये दान चित चाहे जिन,
रनबन चाहे ढाहे अरिभगजराज हैं॥

जिहिं पटना तैं कियौ कोड़े लौं अमल राज,
सरसै सदाई बीर बुद्धि को सदनु है।
जाके सरनागत हमेस मोद पावैं ताके होत,
बगी भूपनि कौ मानु मरदनु है॥
बंस अवतंस जसी ठाकुर दयाल दानि,
दीन के दरिद्रनि कौ करत कदनु है।
सदा पारबती पंचबदन सहाई जाके,
ऐसो मंजु महाराज देवकीनँदनु है॥

करै हेत जोई राज साज सरसावै सोई,
आनँद बड़ोई रांचै बाँचै बिपदन सौं।
अनहित कीन्हौं जिन तिन बनबास लीन्हौं,
दीन्हौ छोड़ि संग सीव साहिबी सदन सौं॥
देखि दसा ठाकुर कितेकन की ऐसी तब,
जी कौ नीकौ चहौ कहौ यातैं उमदन सौं।

बैर चहै जोई पारबती पंचबदन सौं,
बैर करै सोई भूप देवकीनँदन सौं ॥

(वाग्विलास)

ऐसौ तौ प्रताप भूप देवकीनँदनसिंह,
जासौं उतपातिनि की छाती पाकिबो करैं ।
बाचती अरातिनि की पाती सरनागत ह्वै,
भागैं ते पहारैं नदी नारैं नाकिबो करैं ॥
ठाकुर भनत होत समर न सोहैं कोऊ,
जानि बर गब्बर वृथा न थाकिबो करैं ।
राजाराउ उमड़े अनेक संग दौरैं कर,
जोरैं औ निहोरैं नैन-कोरैं ताकिबो करैं ॥

केते तेरे डर डग डारै न डगर घर,
डोलैं डगमगे डरे डगन डरे रहैं ।
केते सीस नावैं संग धावैं गावैं तेरौ बंस,
बिरद सुनावैं बिनती कौं यौं अरे रहैं ।
ठाकुर प्रतापी भूप देवकीनँदन केते,
तेरे द्वार डारे द्वारपाल के परे रहैं ।
केते देत धन अन याही भाँति अनगन,
केते अवनीपगन पगन परे रहैं ॥

लोक इहिं जैसे चाहौ तैसे परमानंद कै,
अमलिस कासिका प्रयागराज लै ठयौ ।
सबिध पुरान सुने बिबिध सुदान दिए,
करत बखान सब ऐसो और ना भयौ ॥
समुझि इरादे और छोभ अमलै को नीके,
ठाकुर कहै यों तन त्यागि कासी मैं दयौ ।
सहित सु सक्ति गौरी शंकर की भक्ति करि,
देवकीनंदन देव-लोक अमलै गयौ ॥

दानी दया अति जुद्ध मैं सुद्ध सबुद्ध बड़ी बर बोर बड़ाई।
बैरिनि खंडि कै डंडि कै भूपनि मंडि भिखारिनि भूप कियो ई ॥
कासिका मैं तन त्यागि तर्यो कर्यौ, ठाकुर सों सब भाँति भलोई।
है न भयो नृप होनहूँ नाहिनै, देवकीनंदन सिंह सौ कोई ॥
दीरघ दान दै को सनमान कै, राखि है बाँधि सु आदर फंदन।
ठाकुर को गुन चातुरी चोज सों, ओज सों मेरे हरै दुख-दंदन ॥
को मम कोह बकाई सही, चहै सीतल बात कहै सम चंदन।
आपने दोष को है अपसोस, निबाहिहै को बिन देवकीनंदन ॥

इस टीका का नाम 'सतसइया वर्णार्थ' है जिससे व्यंजित होता है कि इसमें दोहों के शब्द शब्द का अर्थ खोला गया होगा, और वास्तव में टीकाकार ने दोहों के स्पष्ट करने में बड़ा प्रयत्न किया है और स्थान स्थान पर अनेक प्रश्नोत्तरों के द्वारा भी अर्थ समझाने की चेष्टा की है। इसमें प्रत्येक दोहे के संक्षिप्त अवतरण, वक्ता तथा बोधव्य बतलाकर अर्थ कहा गया है, और यद्यपि प्रत्येक दोहे के अलंकारादि नहीं दिखलाए गए हैं, तथापि अर्थ के स्पष्टीकरण का प्रयत्न प्रशंसनीय है। सतसई के पाठकों के निमित्त यह टीका बड़े काम की है, पर खेद का विषय है कि अभी तक यह प्रकाशित नहीं हुई है। इसमें से एक दोहे की टीका निदर्शनार्थ नीचे लिखी जाती है—

दोहा—पार्यौ सोरु सुहाग कौ इनु बिनु हीं पिय-नेह।
उनदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह ॥

टीका—या नायका राति पति संग प्रेम सौं सुरत मैं बातनि मैं जागी है, तातैं आलस्य है प्रेम के गरब समेत है। सो देखि कै सौति के दुःख भयौ। सो दुख के मेटिबे कौं ताकी सखी तासौं कहति है की इन उनदोहीं कहे उनींदी ऐसी अँखियानि कैं कहै करिकै औ अलसौंहीं देह कै पिय के नेह बिनहिं सुहाग को सोर पार्यौ कहे कर्यौ है, अने इन पर पिय कौ प्रेम नहीं है, ये या वेष बनाए हैं। सो सखी या कहिकै या जनायो या बिचारी तौ वेष

बनाए है की जामैं या वेष कौं देखि मो पर पति कौ प्रेम जानि बिरस करै, पती अनख मानि मोहीं सौं मिलै, काहे की और कारन नहीं ह्वै सकत तातैं जानो। औ सखो सयानी है येहि वास्ते कह्यो जामें या दुख करि कै पिय सों बिरस ना करै, जामैं बिगार न होइ। औ हित कौ धर्म है सो बाक कहै जामें दुख मिटै औ सुखदायक सों बिगार न होइ। सखो जैसी चाहिये तैसी हैं। तो ऐसो सुरूप सौति को दिखावने आई सो प्रेम जनाइबे कों। तातैं वाको पति है तो सुकीया, परपति है तो परकीया प्रेमगर्विता। मित्र दुहुनि को है, जिहिं देखि दुख कियौ सो अन्य-संभोग-दुःखिता भई सो जानो॥

(१८)

१८ वीं टीका जो हमारे देखने में आई वह रणछोड़जी राय दीवान की की हुई है। उसमें रचना-काल नहीं दिया है। पर रणछोड़जी की जीवन-घटना से उसका निर्माण-काल संवत् १८६० तथा १८७० के बीच में निर्धारित करके उसको यह स्थान दिया गया है। उसके अंत में जो दो दोहे दिए हैं उनसे केवल इतना ही ज्ञात होता है कि वह टीका रणछोड़राय-दीवान की कृति है। रणछोड़ रायजी कौन, कब और कहाँ के दीवान थे यह सब कुछ उनसे विदित नहीं होता। वे दोहे ये हैं—

टीकौ सब टीकानि कौ नीकौ जी कौ बोधि।
रुचि सौं रचि रनछोड़जी पचि पचि कीनौ सोधि॥ १॥
सतसैया के अर्थ कौं महा पदारथ जानि।
सोधि यथारथ बुद्धि-बल रनछोड़राय दीवान॥

इस टीका की प्रतिलिपि मुझको विद्वद्वर श्री पंडित हरिनारायण जी बी० ए० पुरोहित, अफ़सर ड्योढ़ी जयपुर, की कृपा से प्राप्त हुई है, जिसके निमित्त मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ। रणछोड़जी का विशेष वृत्तांत जानने के निमित्त मैंने उक्त पुरोहितजी ही को पत्र लिखा था। उसके उत्तर में उनका जो पत्र आया है वह ज्यों का त्यों नीचे प्रकाशित किया जाता है—

॥ श्रीः ॥

तहवीलदार का रास्ता। जयपुर सिटी—

ता० १३-८-२७

विद्वद्वर। प्रणाम।

श्रीयुत पंडित त्र्यंबकराम जी शास्त्री गुरुजी से दीवान रणछोड़लालजी-बिहारी के टीकाकार का निम्नलिखित वृत्त ज्ञात हुआ, सोही जानैं-

'दीवान रणछोड़जी अमरजी जाति के नागर ब्राह्मण (खाँप बड़-नगरे अयाचक) थे। इनके पिता अमरजी जूनागढ़ के नवाब मोहब्बत खाँ के कारभारी (मुसाहब) थे। इनके दादा का नाम कुँवरजी था। बड़े दादा का नाम प्राज्ञजी था। ये जूनागढ़ के पुराने निवासी थे, परंतु जूनागढ़ में माँगरोल से आए थे। इनकी योग्यता ने इनको राज्य-कार्य का अधिकारी बनाया। अमरजी बड़े जोर के दीवान थे। मगर लोगों के बहकाने से नवाब ने इनको सन् १७८५ में घात कर मरवा डाला था। इसके कुछ समय पीछे रसाई हो जाने पर इनके पुत्र रणछोड़जी दीवान हुए। इन्होंने भी बड़ी ही स्वामिधर्म्मी से काम किया और जून गढ़ के नामी दीवान हुए। ये विद्याव्यासंगी थे। संस्कृत, गुजराती, हिंदी, फारसी, उर्दू के अच्छे विद्वान् थे। इनके बनाए बहुत ग्रंथ हैं। उनमें से नीचे लिखे छप चुके हैं—

(१) शिवरहस्य बड़ा गुजराती में
(२) शिवगीता सटीक
(३) तवारीख सोरठ, फारसी में
(४) चंडी पाठ १३ कवच के गने, गुजराती में
(५) शिवरात्रि-माहात्म्य, गुजराती में
(६) सूतक-निर्णय
(७) कालखंज-आख्यान
(८) ईश्वर-विवाह
(९) जलंधर-आख्यान
(१०) ब्राह्मणों की चौरासी जातियों का वर्णन
(११) अंधकासुर-आख्यान
(१२) प्रदोष-महिमा
(१३) बुढ़ेश्वर-बावनी
(१४) त्रिपुरासुर-आख्यान
(१५) भस्मांगद-आख्यान
(१६) मोहिनी-छल
(१७) शंखचूड-आख्यान
(१८) काम-दहन

इनके अतिरिक्त अनेक ग्रंथ बिना छपे ही रखे हुए हैं। उनमें से यह "बिहारी-सतसई की टीका" है। इस टीका से इनकी भाषा-साहित्य की जानकारी प्रगट होती है।

बुढ़ेश्वर महादेव इनके कुलदेव और माथे के ठाकुर हैं। यह लिंग जयद्रथ की भुजा की मणि (बताई जाती) है। यह नीलम का लिंग है और अति प्राचीन है। बुढ़ेश्वर का मंदिर इनके मकान के पास ही जूनागढ़ में बना हुआ है। इस मंदिर के नीचे तीन गाँव भोग में हैं। रणछोड़जी को इनका परम इष्ट था। रणछोड़जी के पुत्र नहीं था। केवल दो पुत्रियाँ—रूपाँबाई और सूरजबाई थीं।

रणछोड़जी के बड़े भाई रघुनाथजी थे और छोटे दलपतरायजी। दलपतराय के शंभुप्रसाद पुत्र था और काशीबाई बेटी थी। शंभु-प्रसाद के लक्ष्मीशंकर पुत्र हुआ। लक्ष्मीशंकर को संवत् १९३० में देवलोक हुआ था। इसने काशी आदि में कई स्थान बनाए थे। इसकी विधवा ने, जो बड़ी धार्मिक, विदुषी और उदारमना थी, रणछोड़जी के ग्रंथ छपवाए थे जिनमें के नाम ऊपर आए हैं।

बस इस समय तक इनका इतना ही हाल जाना गया है सो आपको लिख भेजा है। आगे ज्ञात होगा सो फिर लिखूँगा।

हाँ अन्य पुस्तकों से आप हाल जानना चाहें तो "Hind Rajasthan" by Mehta में जूनागढ़ के इतिहास में देखें। वहाँ दीवान अमर जी और रणछोड़ जी का हाल थोड़ा दिया है। ये दोनों ही बड़े जबर्दस्त दीवान हुए हैं और अपने समय की राजनीति में विख्यात थे।

गुजरात काठियावाड़ के इतिहासों तथा किसी गुजराती पंडित से इनका विशेष हाल आपको ज्ञात होगा।

कृपा रक्खें। योग्य कार्य लिखा करें।

भवद्दर्शनाभिलाषी
पु० हरिनारायण शर्म्मा

पुन:—इससे पूर्व एक पत्र भेजा सो पहुँचा होगा।

इस ग्रंथ में रणछोड़ जी ने दोहों का पूर्वापर क्रम अनवरचंद्रिका के अनुसार रक्खा है। ५२५ दोहों तक तो इसका क्रम अनवर-चंद्रिका के क्रम से बहुत ही मिलता है। पर उसके पश्चात् दोहों के स्थानों में विशेष अंतर दृष्टिगोचर होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि रणछोड़ जी ने अपनी टीका के प्रकरणों ही में कुछ हेर फेर कर दिया है इसके अतिरिक्त अनवरचंद्रिका की हमारी स्वीकृत प्रति में ७०४ दोहे हैं और रणछोड़जी की प्रति में केवल ६९४ दोहे रखे गए हैं। इन ६९४ दोहों में भी ३ दोहे दो दो बार आए हैं जिनको घटा देने पर ६९१ दोहे रह जाते हैं। अनवरचंद्रिका में जो ५०४ दोहे हैं उनमें के ३८ दोहे रणछोड़जी ने छोड़ दिए हैं। अतः उनकी टीका में अनवरचंद्रिका के केवल ६६६ दोहे आए हैं और २५ दोहे उन्होंने अनवरचंद्रिका के दोहों के अतिरिक्त रखे हैं। इस प्रकार उनकी टीका की ६९१ संख्या पूरी हो जाती है। बिहारी-रत्नाकर के जो ३८ दोहे उन्होंने छोड़ दिए हैं उनमें से ३१ दोहे तो बिहारी-रत्नाकर की इन संख्याओं पर द्रष्टव्य हैं—५२,५९,७२,८२, १६१,१७५,२०५,२४६,२८१,३५७,३६७,३६९,३७९,३८०,३९९, ४०२,४२९,४३०,४५१,४९७,५०७,५१४,५१७,५६३,५७६,६२४, ६७१,६९३,६९७, तथा ७१३। ६ दोहे बिहारी-रत्नाकर के द्वितीय उपस्करण के ७६,७७,७९,८०,८१, तथा १४० अंकों पर दिए हुए हैं और एक दोहा शुभकरण जी का और एक बरवै खानखानाँ का है जो नीचे दिए जाते हैं।

दोहा—देखत अनवरखाँ-बदन दुवन दबे हहराइ।
बढ्यौ कंप रोवाँ उठे बदन गयौ पियराइ। ५३६॥

बरवै—बरि गई हाथ उपरिया रहि गइ आगि।
घर कै बाट बिसरि गइ गुहनैं लागि॥ ४८३॥

२५ दोहे जो रणछोड़जी ने अनवरचंद्रिका से अधिक रखे हैं उनमें के २१ दोहे बिहारी-रत्नाकर की, ३९,४७,५७,९२,१०८,१२६,१७०, २३४,२८९,३८५,४१६,४५३,५०३,५६८,५९९,६१४,६४२,६७८,

६९२,७०७ तथा ७१२ संख्याओं पर के हैं; एक दोहा बिहारी-रत्नाकर की १४३ संख्या पर का और तीन दोहे ये हैं—

निसि नियरात निहारियतु, सौतिबदन अरविंदु।
सखी एक यह देखियै तेरौ आनन इंदु ॥१६२॥
अनत बसे रिस की खिसी आए प्रात सुकंत।
प्रीतम कौं मनभावती मिलति बाँह दै अंत ॥४९८॥
परसौंपरसौं कहि गएउ परसे परसे पीय।
परसौं जौ परसौ नहीं परसौं परसे जीय ॥६५२॥

इस टीका से रणछोड़ जी का भाषा-साहित्य में अच्छा प्रवेश प्रतीत होता है। इसमें दोहों के शब्दार्थ तथा भावार्थ के अतिरिक्त उनके अलंकार भी कहे गए हैं, और कहीं कहीं काव्य का तारतम्य भी बतलाया गया है। पाठकों के देखने के निमित्त एक दोहे की टीका नीचे दी जाती है—

पारयौ सोरु सुहाग कौ इन बिनहीं पियनेह।
उनदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह ॥३३४॥

अर्थ—सखी कौ बैन सखी सौं। हे सखी इन राधिका भर्तार सौं नेह करे बिनहीं सोहाग कौ सोर, कहा हौकारौ, पारयौ। सो कैसे के राधिका अलसौंहीं देह करी अपनी आँखिनि करि ऐसी चित्त बिषै चढ़ी है। सौति वा सौति की सखी कौ बैन होइ तौ अमर्ष, इर्ष्या संचारी सुरत कौ रूप दिखायौ। बिभावनालंकार। उनदौंहीं कहा उजागरी। ककै कहा करिकैं।

यह टीका बहुत अच्छी और सतसई के पाठकों को इससे बहुत सहायता मिल सकती है। इसको हरिप्रकाश टीका की श्रेणी में समझना चाहिए।

इस टीका में यह एक बड़ा दोष है कि कहीं कहीं दीवानजी ने दोहों का पाठ मनमाना रखकर अर्थों का सत्यानाश कर दिया है; जैसे इस दोहे में—

"मैं मिस हाँसी यौं समुझि मुँह चूम्यौ ढिग आइ।
हँस्यौ खिसानी गल रह्यौ रहो गरे लपटाइ ॥५९७॥"

अर्थ—कान्ह कौ बैन सखी सौं। हे सखी मैं हाँसी के मिस जानि कै राधा के ढिग जाइ कै मुहँ चूम्यौ अरु हँस्यौ सो राधा खिसानी सी है अरु गलु गह्यौ कहा गल परयो होइ। तिनकी पेरे (?) मेरे गले सौं लपटाइ रही। दूसरे पाठ सौं नायिका कै बैन सखी सौं। नायक सठ। मैंने नायिका कौ सोई जानि चुंबन कियौ। शेष पूर्ववत्। स्वभावोक्ति अलंकार।

इस टीका में यद्यपि इसका रचना-काल नहीं दिया है, पर रण-छोड़जी के विषय में जो बातें श्रीहरिनारायण जी महोदय से विदित हुई हैं, उनके आधार पर इसका रचनाकाल संवत् १८६० तथा १८७० के बीच में निर्धारित होता है।

(१६)

महाराज मानसिंह जोधपुर वाले की टीका

मिश्रबंधु-विनोद में एक जोधपुर के महाराज मानसिंह को भी ११५५ अंक पर बिहारी का टीकाकार बतलाया है और इनके बनाए हुए १८ ग्रंथ गिनाए हैं। उनका वृत्तांत यह लिखा है—

"इन महाराज ने संवत् १८६० से १९०० तक राज किया। इनकी कविता की भाषा राजपूतानी है, परंतु ब्रजभाषा में भी ये महाशय अच्छी कविता करने में समर्थ हुए हैं। इन्होंने बहुत से छंदों में कविता की है और रचना में कृतकार्यता भी पाई है। इनकी भाषा मनोहर और सुकवियों की सी है। हम इन्हें तोष की श्रेणी में रखेंगे।"

उनकी कविता के उदाहरण के निमित्त उसमें यह कवित्त भी दिया है—

"सीत मंद सुखद-सभीर लै चलत मृदु,
अंबन के मंजर सुबास भरे चारौं ओर।
जिनतैं उठति परिमल की लपट अति,
ललित सु चित जौन भौंरन कौ लेत चोर॥
आयौ कुसुमाकर सुहायौ सब लोकनि कौ,
हेरत ही हियरैं उठति सुख की हिलोर।

अति उमदाने रहैं महामोद साने रहैं,
भौर लपटाने रहैं जिन पर साँझ भोर ॥"

यह टीका हमने स्वयं नहीं देखी है अतः इसके तारतम्य तथा क्रमादि के विषय में हम कुछ नहीं कह सकते। इसका रचनाकाल अनुमान से संवत् १८७० के आसपास माना गया है।

(२०)

लल्लूलालजी की लालचंद्रिका टीका

१९ वीं टीका लालचंद्रिका है। इसके रचयिता आगरा निवासी प्रसिद्ध गुजराती ब्राह्मण लल्लुलालजी औदीच्य थे। उन्होंने इस टीका की भूमिका में जो अपने विषय में लिखा है उससे तथा इधर उधर से और बातें एकत्रि करके इनके विषय में जो स्वर्गीय साहित्याचार्य पंडित अंबिकादत्तजी व्यास ने बिहारी-बिहार की भूमिका में लिखा है, और इनकी योग्यता तथा भाषा इत्यादि पर अपनी सम्मति प्रकाशित की है वह हम यहाँ उद्धृत कर देते हैं, क्योंकि इनके विषय में इतना लिखना हमारी समझ में पर्याप्त है—

लालचंद्रिका—लल्लूलाल (लालचंद्र कृत) लल्लूजीलाल आगरे के रहनेवाले गुजराती औदाच्य ब्राह्मण थे। गुजरातियों में औदीच्य ब्राह्मणों का कुल परम पवित्र है। ये प्रायः बल्लभ कुल के पुष्टिमार्गीय मंदिरों में मुखिया होते हैं और स्वहस्त से भगवान् की सेवा करते हैं और भोग की सामग्री बनाते हैं। वैष्णव लोग तो प्रायः इनके हाथ की कच्ची भी खाते हैं और गोस्वामी लोग पक्की का प्रसाद लेते हैं। लल्लूजीलाल के पिता का नाम चैनसुख जी था। ये बड़े दरिद्र ब्राह्मण थे। कुछ पौरोहित्य करते थे। विद्वान् गुणी का जीविका से दुःखित होना भी एक नियत बात है सो ये भी जीविकार्थ भ्रमण करते सं० १८४३ में बंग देश मुर्शिदाबाद में आये, यहाँ कृपा सखी के शिष्य गोस्वामी गोपालदास रहते थे। उनसे कवि लल्लूलाल का प्रायः सत्संग होता था उन्हीं के द्वारा नवाब मुबारकुद्दौला से मुलाक़ात हुई। यहाँ गोस्वामीजी और नवाब साहब के यहाँ से

इनका सत्कार होता था इस कारण ये सात वर्ष यहाँ रह गये। गोस्वामी गोपालदास के वैकुंठवास होने पर और उनके भाई गोस्वामी रामरंग कौशल्यादासजी के वर्द्धमान जाने पर लल्लूलाल उदास हो गये। नवाब से बिदा हो कलकत्ते आये और बावन-लक्खी रानी भवानी (इनका चरित्र राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद ने अपने गुटके में भली भाँति लिखा है) के पुत्र राजा रामकृष्ण से परिचय कर उनके आश्रय से कुछ दिन कलकत्ते में रहे। जब उनके राज्य का नवीन प्रबंध हुआ उनने अपना राज्य पाया तब लल्लूलाल भी उनके साथ ही नाटौर गये। कई एक वर्षों के अनंतर उनके राज्य में ऐसा उपद्रव हुआ कि वे कैद कर मुर्शिदाबाद भेज दिये गये। तब लल्लूलाल पुनः निर्जीविक कलकत्ते आए। कलकत्ते के बाबू लोगों ने ऊपर ऊपर तो बहुत आदर दिखलाया पर कुछ सहायता न दी। जैसा कि लल्लूलाल ने स्वयं लिखा है कि "उन्हों के थोथे शिष्टाचार में जो कुछ वहाँ से लाया था बैठकर खाया"। इस समय लल्लूलाल को कई वर्ष तक जीविका का कष्ट बना रहा, फिर जीविकार्थ दक्षिण देश जगन्नाथ पुरी तक गये। जगदीश्वर के दर्शन किये। दैवात् यहाँ इस समय नागपुर के राजा मनियाँ बाबू आये थे, उनसे लल्लूलाल से भेंट हुई, वे इनके गुण से प्रसन्न हो नागपुर ले जाते थे पर किसी कारण से ये न गये फिर कलकत्ते लौट आये। यहाँ पादरी बुरनं साहब से परिचय हुआ। फिर दीवान काशीनाथ (इनके पोते बाबू दामोदरदास बड़े बाजार कलकत्ते में अभी तक हैं) के छोटे पुत्र के द्वारा औ डाक्टर रसल साहेब के द्वारा डाक्टर गिलकिरिस्त साहेब से भेंट हुई। उनने इनको हिंदी गद्य में ग्रंथ बनाने का साहाय्य दिया और मज़हर अली खाँ विला, औ मिरज़ा काज़म अली ज़वाँ दो सहायक लेखक दिये। तब लल्लूलाल ने एक वर्ष में (सं० १८५७—सन् १८०४ में) ये चार ग्रंथ लिखे। १ सिंहासन-बत्तीसी (सुंदरदासकृत ब्रजभाषा ग्रंथ का अनुवाद) २ बेताल-पचीसी (यह ग्रंथ शिवदासकृत संस्कृत पुस्तक से सूरतमिश्र ने ब्रज-

भाषा में किया था और इनने ब्रज भाषा से हिंदी में किया। इस ग्रंथ का अनुवाद भोलानाथ और शंभुनाथ का किया भी था) ३ शकुंतला नाटक (संस्कृत से भाषानुवाद) ४ माधोनल (माधवानल संस्कृत पुस्तक सं० १५८७ की लिखी बंगाल एशियाटिक सोसाइटी में अभी तक है। मोतीराम का भी एक ग्रंथ इस विषय पर है इसी का अनुवाद लल्लूलाल ने किया था)। [इसकी कहानी यों है कि मध्य प्रदेश के पुष्पावती नगर में सं० ६१६ में एक गोविंदराव नामक राजा थे। इनके आश्रित माधवानल नामक एक बड़े नृत्य-संगीत तथा सर्वशास्त्र के अभिज्ञ गुणी ब्राह्मण थे। माधवानल के रूप यौवन तथा संगीत के चित्ताकर्षक अपूर्व गुण के कारण उस नगर की सैकड़ों स्त्रियाँ उन पर मोहित हो उनके लिये घरबार छोड़ने पर उतारू हुईं। तब सद्गृहस्थों ने माधवानल को लंपट कह राजा के आगे निंदा की और निर्दोष माधवानल उस नगर से निकाल दिये गये। तब माधवानल कामवती नगरी के संगीतप्रिय महाराज कामसेन से मिले और उनने आदरपूर्वक इन्हें आश्रय दिया। महाराज कामसेन के यहाँ एक परम रूपवती कामकंदला नामक वेश्या थी। वह माधवानल पर मोहित हो गई और दोनों का परस्पर अपूर्व स्नेह हुआ। तब बिचारे माधवानल उस राज्य से भी निकाल दिये गये। तब उज्जैन के महाराज उस समय के विक्रम के यहाँ माधवानल गये और उन्हें प्रसन्न किया। विक्रम ने कहा कुछ माँगिये तब उनने यही माँगा कि "कामवती के राजा से छीन के कामकंदला हमें दी जाय" तब विक्रम ने स्वीकार किया और कामवती नगरी की सेना से घोर युद्धपूर्वक कामकंदला को छीना और माधवानल के अर्पण किया। अनंतर विक्रम की आज्ञा से माधवानल अपनी नगरी पुष्पावती में आये और बड़े स्थान बनवाये और आनंद से दिन काटने लगे। इन ढहे स्थानों के चिह्न अभी तक मिलते हैं।]

आगरे के पैरनेवाले प्रसिद्ध हैं। लल्लूलाल भी बड़े पैराक थे। दैवात् एक दिन गंगा में कोई अंगरेज डूब रहा था सो ये निडर

होकर कूद पड़े और उसे निकाल लाये, उसने भी इनकी जीविका के लिये पूरी सहायता दी। और इनको द्रव्य साहाय्य देकर छापाखाना करवा दिया। (आगरा कालिज के हेड पंडित श्रीरामेश्वर भट्टजी से यह वृत्तांत मिला।)

इसी संवत् १८५७ सन् १८०४ में कलकत्ते में कंपनी के फोर्ट विलियम कालिज में इनकी नौकरी हुई। दिन दिन इनका सन्मान और नाम बढ़ने लगा। इनके बनाये ग्रंथ छपे और बिकने लगे तथा स्थान स्थान में पढ़े पढ़ाये जाने लगे। तब इनका अधिक उत्साह बढ़ा। जिस समय इनने सतसई की टीका बनाई उस समय इनको फोर्ट विलियम कालिज में हिंदी की अध्यापकी करते उन्नीस वर्ष हो चुके थे। इस अवसर में इनैने अपनी रचित पोथियों पर सर्वसाधारण की रुचि देख और कंपनी के साहाय्य से कुछ धनसामर्थ्य भी पा संस्कृत प्रेस नामक एक उत्तम छापाखाना खोला। महल्ले पटलडाँगे में तो इनका छापाखाना था और बड़े बाजार में बाबू मोतीचंद गोपालदास की कोर्ष में हरिदेवदास सेठ के यहाँ भी इनकी पोथियाँ बिकती थीं। इनने अपने ग्रंथ अपने ही छापेखाने में छपवाये उस समय के छपे ग्रंथों को लगढग नब्बे वर्ष हुए पर ऐसे उत्तम मोटे बाँसी कागज पर छपे हैं कि अभी तक नये जान पड़ते हैं।

इस समय तक ये अपने छापेखाने में इन ग्रंथों को छपवा चुके थे—

(१) सिंहासनबत्तीसी—(इसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है इसमें विक्रम के सिंहासन की पुत्तलियों की ३२ कहानियाँ हैं)।

(२) माधवविलास—(रघुराज गुजराती ने भी इसी नाम का एक नाटक बनाया था)।

(३) सभाविलास—(यह पुस्तक बहुत प्रसिद्ध है। इसमें नाना प्रकार की कविताओं का संग्रह है। इसी की छाया पर राजा शिवप्रसाद के गुटका आदि अनेक संग्रह बने हैं)।

(४) प्रेमसागर (ऐसा कौन सा संग्रह होगा जिसमें प्रेमसागर का थोड़ा अंश न हो। सन् १५६७ संवत् १६२४ में चतुर्भुजदास ने

ब्रजभाषा में दोहा चौपाई में भागवत दशमस्कंध का अनुवाद किया था उसी पर से लल्लूलाल ने यह ग्रंथ किया। अतएव यह यथार्थ में श्रीमद्भागवत का अनुवाद नहीं है। यह ग्रंथ सन् १८०९ तक तो नहीं छपा था परंतु अब तक तो नाना प्रेसों में नाना बार छप चुका है)।

(५) राजनीति—यह हितोपदेश का ब्रजभाषा में अनुवाद है। यह ग्रंथ इनने सं० १८६९ सन् १८०२ में बनाया था।

(६) भाषा कायदा—हिंदी भाषा का व्याकरण लोग कहते हैं कि इसकी १ कापी बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय में अब तक है। यह ग्रंथ छप तो चुका था पर प्रचलित न हुआ।

(७) लतायफ़ हिंदी—(उर्दू हिंदी औ ब्रजभाषा में १०० कहानियाँ। यह किसी समय कलकत्ते में New cyclopedia Hindustani नाम से छपी थी)।

(८) माधोनल (माधवानल) यह ग्रंथ मोतीराम कवि ने लगढग सं० १७५५ में ब्रजभाषा में उपन्यासाकार लिखा था। उसी से लल्लूलाल ने हिंदी में उलथा किया।

(९) बेतालपचीसी—प्रसिद्ध कवि सूरति मिश्र ने शिवदासरचित संस्कृत से अनुवाद कर ब्रजभाषा में बेतालपचीसी बनाई थी। उसी ग्रंथ को लल्लूलाल ने हिंदी में किया। अवध के दौरिया खेड़ा के राजा अचलसिंह के सभाकवि पंडित शंभुनाथ त्रिपाठी (सं०१८१०) ने और पं० भोलानाथ ने भी एक एक बेतालपचीसी बनाई है।

(१०) लालचंद्रिका यह ग्रंथ इन दिनों घर घर है। इस ग्रंथ की रचना में भी सूरति मिश्र और हरिचरणदास ही के लेख इनके अवलंब हैं।

वस्तुतः लल्लूलाल बड़े विद्वान न थे। यदि इन दिनों वे होते तो कदाचित् वे इतने यश के भागी न होते। परंतु जिस समय वे थे उस समय हिंदी दुर्दशाग्रस्त थी इसलिये जो लिख गये वही बहुत हुआ। न तो उनका कोई ग्रंथ निज मस्तिष्क का है और न कोई सीधा संस्कृत का लिया है। औरों के रचित ब्रजभाषा के ग्रंथ

ही पर उनका नर्तन है। लालचंद्रिका के अंत में "हूँ बिनवों" आदि कुछ दोहे हैं सो लल्लूलाल ने ऐसे लिखे हैं मानो अपने बनाये हों पर वे सब कृष्णकवि के हैं।

व्यास रामशंकर जी के द्वारा आगरा कालिज के हेड पंडित श्री रामेश्वर जी से जो लेख मिला सो ज्यों का त्यों यह है—

"लल्लुजीलाल गुजराती सहस्र अवदीच थे, पिता का नाम चैनसुख जी था, ये चार भाई थे बड़े लल्लु जी फिर दयाल जी मोतीराम जी, चुन्नीलाल जी। लल्लूजी के संतति नहीं थी, दयाशंकर जी के हरीराम जी थे सो नारमिल स्कूल में भाषा के पंडित थे तनखा ३०) पाते थे, दयाशंकर जी आगरा कालेज में ६०) के नौकर थे भाषा पढ़ाते थे, हरीराम के २ पुत्र भये रामचंद्र श्यामलाल, रामचंद्र कुछ न पढ़े रेल में १०) के थे श्यामलाल, जयपुर में किसी को गोद बैठा, रामचंद्र का लड़का रामसेवक है १०) का रेल में नौकर है एक छोटा दो वर्ष का है।

३ मोतीलाल जी के पुत्र नहीं भया, ३०) के आगरा कालेज में भाषा पढ़ाते रहे।

४ चुन्नीलाल जी २०) के आगरा कालेज में भाषा पंडित थे २ पुत्र भए मन्नूलाल, छगनलाल, मन्नूलाल ५०) के भाषा पाठक थे छगनलाल प्रिंसिपेल के क्लर्क ३०) के थे।

मन्नूलाल के ४ पुत्र हुये केशवराम विशेशरदयाल अमृतलाल बसन्तराम। केशवराम ३०) क्लर्क आगरा कालेज में थे, विशेशरदयाल डिप्टी इंस्पेक्टर ८०) के थे, अमृतलाल २५) Writing Master फरुखाबाद के स्कूल में थे, बसंतराम विद्या कुछ हिंदी पढ़े हैं कहीं नौकर नहीं। आप जानते ही हैं केशवराम एक बुरी बीमारी से ग्रसित होकर २-३ वर्ष हुए मर गये विशेशरदयाल अमृतलाल इसी वर्ष में अर्थात् १९५३ में मरे बसंतराम मौजूद हैं॥

केशवराम के २ लड़के विशंभर रंगेश्वर। विशंभर हिंदी कुछ पढ़ा है ४) का कहीं है। रंगेश्वर ५वें दरजे में पढ़ता है।

विशेशरदयाल के पुत्र नहीं अ० ला० पुत्र नहीं बसंतराम के संतति नहीं पूर्व दोनों के पुत्री एक एक है।

छगनलाल के २ पुत्र थे सालगराम लच्मीराम। सालगराम कुछ हिंदी अंगरेजी पढ़े हैं नौकर कहीं वही लच्मीराम रेल में १५) का था ८-७ वर्ष भये मर गया विवाह इसका नहीं भया था।

सालगराम के २ पुत्र १ गोपीनाथ २ बालमुकुंद। गोपीनाथ राज उदयपुर में किसी गाँव का थानेदार है छोटा मथुरा में किसी मंदिर का रसोई आदि वा ठाकुरसेवा में है, इनमें से अभी किसी के संतति नहीं।

चैनसुख बड़े गरीब ब्राह्मणवृत्ति कुछ करते थे। लल्लूजी भाषा अच्छी पढ़े थे, घर से निकलकर रोजगार की तलाश में कलकत्ते चल दिये, प्रारब्ध खुलने को थी तैरना भी अच्छा जानते थे, किसी साहब को गंगाजी में से डूबते हुए बचाया वह प्रसन्न भया उसने छापेखाना करा दिया हिंदी की कदर थी जब सहस्रों रुपये का माल छापेखाने में हो गया उसने इन ही को दे दिया। ये सब माल नावों पर लादकर आगरे लाये गरीबी गई घर बनवाया रामायण ३०) ४०) ५०) को बिकती थी ऐसे ही प्रेमसागर २) को ३०) को इत्यादि। यहाँ ठाठकर फिर वे कलकत्ते ही चल दिये और वहीं मरे। इनके पास चिट्ठियाँ अँगरेजों की अच्छी २ थीं उन्हें दिखाकर दयाल जी ने एक स्कूल जारी किया। होते २ वह आगरा कालेज हो गया। कुनबे के सब उसमें नौकर हो गये, ये लोग लल्लू जी के समय से कुछ पढ़े, भाषा में लल्लू जी मन्नूलाल, हरीराम जी ये अच्छे थे, हाल अब बुरा है। कर्जा देना है। मकान पर नौबत आ गई। कोई भाषा में अच्छा नहीं भया। भंग पीना मस्त रहना।"

लल्लूलाल के ग्रंथों में सबसे उत्तम लालचंद्रिका है और इसी ग्रंथ से इनकी विद्या की सारगर्भता प्रगट होती है। यह बिहारी सतसई के आज़मशाही क्रम के अनुसार उसी ग्रंथ पर टीका है। यह ग्रंथ पहले पहल लल्लूलाल ने स्वयं अपने ही छापेखाने में सन्

१८१९ में छपवाया, फिर सन् १८६४ में लाइट प्रेस में (पंडित दुर्गा-दत्त) दत्त कवि (मेरे पिता जी) ने छपवाया और अन्यत्र भी अनेक जगह छपा है। लोग कहते हैं कि काशीराज महाराज चेतसिंह के दरबार के कविवर लाल कवि ने भी एक सतसई की टीका लाल-चंद्रिका नाम से बनाई। यदि यह सच भी हो तो वह ग्रंथ अलभ्य है। ये लाल कवि और वे लाल कवि एक तो कभी नहीं हो सकते हैं क्योंकि दोनों में समय का भी ५० वर्ष का आगा पीछा होता है तथा काशीवाले तो भाट थे। उनके वंश से अभी तक उसी दरबार में हैं और ये तो औदीच्य गुजराती थे। हाँ यह है कि ये भी लाल कवि कहलाते थे जैसा इनने स्वयं लिखा है कि "टीका की कवि लाल ने"। यह ग्रंथ संवत् १८७५ माघ सुदी ५ शनि को समाप्त हुआ था।

लल्लूलाल राधाबल्लभ संप्रदाय के वैष्णव हों तो कोई आश्चर्य नहीं है क्योंकि इनने कृष्णचरित ही पर विशेष लिखा है और प्राय: अपने ग्रंथारंभ में वैसा ही मंगल किया है जैसे लालचंद्रिका "श्री राधाबल्लभो जयति" और इस ग्रंथ के अंत में लिखा है कि "राधा-कृष्ण प्रसादात् संपूरणाम्"।

यह तो स्पष्ट ही है कि ये संस्कृत के विद्वान् न थे, क्योंकि एक तो उनने जो जो संस्कृत के अनुवाद किये उन उनके व्रजभाषानुवाद ही उनके सहायक थे जैसे उनने स्वयं लिखा है कि "एक बरष में चार पोथी का तरजुमा व्रजभाषा से रेखते की बोली में किया, सिंहासन-बत्तीसी, बैतालपचीसी, सकुंतला नाटक औ माधोनल।" (इनने हिंदी के लिये रेखते की बोली पद दिया है। क्या अभी तक इस भाषा का कोई नाम नहीं स्थिर हुआ था ?) दूसरे इनके लेख में संस्कृत विद्या की दुर्बलता पद पद में प्रगट होती है। जैसे इनने अपने छपवाये लालचंद्रिका ग्रंथ में आरंभ ही में लिखा है 'यह मंग-लाचर्ण ग्रंथकरता बिहारीलाल कबि कहता है। नायिका के ठिकाने 'नायका' तो इननें प्रति दोहे पर कहा है। यौवन के लिये योवन लिखा है जैसे दो० ४५६ की टीका "नायका नवयोवना"। दोहा ४५५ की

टीका में वृत्त्यनुप्रास के ठिकाने 'वृत्यानुप्रास' लिखा है। इनने तात्पर्य के ठिकाने 'तातपर्य' और परीक्षा के ठिकाने 'परिक्षा' ही बराबर लिखा है जैसे दो० २६३ की टीका में। ग्रंथ के अंत में इनने दो पंक्ति संस्कृत लिखी है वह भी ऐसी ऊटपटांग है कि देखते हँसी आती है। जैसे, इति श्री कवि लाल बिरचित लालचंद्रिका बिहारी सतसई टीका प्रस्ताविक अन्योक्ति नवरस नृपंस्तुति वर्णन नाम चतुर्थ प्रकर्ण श्रीराधाकृष्णप्रसादात् संपूर्ण ग्रंथ निर्विघ्न समाप्तं शुभमस्तु।"

ये संस्कृत के अनभिज्ञ तो थे ही परंतु ये व्रजभाषा भी उत्तम रीति से नहीं जानते थे अथवा आगरावासी होने के कारण जानते भी हों तो उसका ठीक मर्म नहीं समझते थे अतएव जो कुछ इनने सोधना चाहा वही व्रजभाषा से च्युत हो गया औ बिगड़ गया। व्रज-भाषा में तालव्य श और टवर्गीय ण दैवात् ही कहीं हो तो हो नहीं तो नहीं ही पाया जाता है। परंतु लल्लूलाल ने यह अपनी पंडि-ताई दिखलाई है कि अनेक सकारों को पुनः शकार बना के शीन के शड़क्के झाड़े हैं। जैसे दोहा ७१५ "शशिबदनी मोसो कहत" इत्यादि और दोहा ६२० "शीतलतारु सुगंध की घटै न महिमा मूर। पीनसवारे जो तज्यौ शोरा जानि कपूर" इत्यादि। व्रजभाषा में तालव्य श और मूर्धन्य ष को दन्त्य स का आकार ग्रहण किये तो कई सहस्र वर्ष हुए। व्रज की अति प्राचीन भाषा शौरसेनी प्राकृत ही इसकी साक्षी है। जैसे रत्नावली "दुल्लह जणाणु राओ लज्जा गुरुई परव्व सो अप्पा। पिअ सहि विसमं पेम्मं मरणं सरणं ण वारकमं"।

हाँ उस समय शौरसेनी भाषा में समस्त न कार ट वर्गीय ण कार हो गए थे जैसे जेण विणा णहि जिज्जिय अणुणीज्जिय सो किदा बराहोवि। पत्ते विणा अरडाहे भणकस्सण बल्ल हो मअग्गी इत्यादि"। परंतु काल का ऐसा महात्म्य है कि धीरे २ पुनः सबके सब टवर्गीय णकार तवर्गीय नकार हो गए। केवल कंठ आदि शब्दों में मिले हुए ण रह गये हैं। यह अनुभव उने न था अतएव श औ ण ठीक

करने का कुछ यत्न किया। उसके अनंतर मर्म बिना समझे मुनशी नवलकिशोर और पंडित रामजसन प्रभृति दो तीन महाशय ने व्रजभाषा के उसी सोधन को चलाया। फिर शिक्षा विभाग के व्रजभाषानभिज्ञ लोगों ने बालकों के पढ़ने के लिये कितने ही ग्रंथ इसी ढंग पर चलाये और डिप्टी साहबों की आज्ञा से गुरूजी लोग मार मारकर बच्चों को इसी कुरस्ते चलाने लगे सो यह बड़ा ही अनर्थ चारों ओर फैलता जाता है। बिहार में भी यह अनर्थ होता देख यहाँ के प्रसिद्ध खड्गविलास छापेखाने के अध्यक्ष से भी मैंने यह विषय कई बेर कहा और अपने मासिक पत्र पीयूषप्रवाह में भी छापा अनंतर खड्गविलास के अध्यक्ष महाराजकुमार बाबू रामदीनजी ने कहा कि हमको ग्रेयर्सन साहब के द्वारा श्रीतुलसीदासजी लिखित रामायण मिली है उसके देखने से आपको बात और दृढ़ हुई क्योंकि उसमें बहुत श और ण नहीं है ठीक जैसा आप कहते हैं वैसा ही है पर क्या किया जाय कोई सड़ा सा डिप्टी इंस्पेक्टर भी इन बातों को समझता तो कुछ भाषा का शोधन होता।

लल्लूलाल ने केवल इतना ही नहीं किया परंतु व्रजभाषा में जिन यकारों को जकार हो गया है उने फिर इनते य बनाया। जैसे दो० २० 'योवन नृपति' (दो० २१) 'योवन आमिल' (दोहा २२) 'योवन जेठ दिन'' ऐसे ही 'यद्पि, यद्यपि, यश अपयश, यमकरि, युवति, योग युक्ति, आदि।

किसी ठिकाने इनने अपनी हिंदी भी व्रजभाषा से मिली विलक्षण ही नरसिंहाकार लिखी है जैसे (दोहा २६२) ''उत्कंठित होतु है देखै है कि कब श्रीकृष्ण आवैं और मैं अपना सच्च दिखाऊँ।''

ये कई एक बातें इसलिये दिखाई गई हैं कि ''संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने''। अर्थात् इनके अनुसार औरों को उचित नहीं है कि ऐसे शब्दों का प्रयोग करें।

इनके नामोल्लेख चार प्रकार से मिलते हैं १ लल्लूलाल, २ लल्लूजी लाल, ३ कविलाल, ४ लालचंद्र।

लल्लूलाल ने और सब टीकाकारों से विलक्षण काम यही किया है कि दोहे के शब्द क्रम के अनुसार, अर्थ रखा है। इनके ग्रंथ में शंका समाधान भी अच्छे हैं परंतु सुरतिमिश्र आदि के ग्रंथ देखने के अनंतर ये शंका समाधान इतने विलक्षण नहीं प्रतीत होते तथापि कितने ही अद्भुत अर्थ और शंका समाधान इनके स्वयं कल्पित हैं। और वे अति उत्तम हैं। इसमें संदेह नहीं कि लल्लूजी लाल ने हिंदी गद्य लिखने का अपने भविष्यद् विद्वानों को पथ दिखला दिया और पूर्ण परिश्रम औ केवल विद्याभ्यास में जीवन व्यतीत किया और हिंदी गद्य को उस समय सिंहासन पर बैठाया जिस समय गुर्ज्जर भाषा औ बंग भाषा बालिका थीं। यदि उस समय से आज तक सुलेखक लोग हिंदी की सेवा करते तो यह सारे भारत में चक्रवर्तिनी होती और ऐसा कदापि न होता कि उर्दू की पताका उड़े और इसे कहीं स्थान न मिले। इसलिये हिंदी भाषा के परमोन्नायक विद्वान् लल्लूलाल कवि को कोटिशः धन्यवाद देना यावत् हिंदी के रसज्ञों का धर्म है।

यह नहीं विदित कि कितने वर्ष के वय में किस स्थान पर लल्लूलाल कवि ने संसार का त्याग किया।''

इस टीका में, जैसा कि व्यासजी ने लिखा है, लल्लूलालजी ने अपनी बुद्धि तथा विद्वत्ता से बहुत ही कम काम लिया है। अर्थ तो उन्होंने हरिप्रकाश तथा कृष्णलाल की टीका से मिला जुला कर ले लिया है, और अलंकार तथा शंका समाधान अमरचंद्रिका से। जिन स्थानों में उन्होंने उक्त ग्रंथों से कुछ भिन्नता करने का प्रयत्न किया है, उनमें से अधिकांश स्थानों पर धोखा ही खाया है। पर जो कुछ हो उनकी टीका सरल है तथा साधारण पाठकों की समझ में आने के योग्य भाषा में होने के कारण बड़ी उपयोगी है। इसमें वक्ता बोधव्य तथा नायिका बतलाने के पश्चात् उस समय की खड़ी बोली में, जिसके लल्लूलाल जी स्वयं आचार्य माने जाते हैं, अर्थ किया गया है, और फिर कुछ कहीं कहीं शंका समाधान भी किया

गया है। इसके अतिरिक्त दोहों के अलंकारों के लक्षण भी दिए हैं। निदर्शनार्थ एक दोहे की टीका नीचे लिखी जाती है—

दोहा—पार्‌यौ सोरु सुहाग कौ इनु बिनु हीं पिय-नेह।
उनदौहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह ॥१६॥

टीका—यह नायका की सखी का बचन सौत की सखी से। डाला शोर सुहाग का (कहैं प्रीति प्रसिद्ध की) इनने विन प्रीतम के प्यार ही। उनने, उनीदी आँख करकै, की अलसानी देह। इससे प्रीति प्रसिद्ध हुई।

प्रश्न—प्रीतम के नेह विन सुहाग प्रसिद्ध किसी भाँति नहीं होता।

उत्तर—यह नायका की निज सखी कहती है। इसलिये कि इसकी प्रीति को किसी सौति की कुदृष्टि न लगै। पर्यायोक्ति अलंकार।

दोहा—छल करि साधिय इष्ट जहँ पर्य्यायोक्ति सु नाम।
कोउ न टोकै इष्ट यह छल-बच कहि किय काम ॥

इस अर्थ को, जो अमरचंद्रिका तथा हरिप्रकाश टीकाओं के विवरण में इसी दोहे के अर्थ दिए गए हैं, उनसे मिलान करने पर, लल्लूलाल जी के विषय में जो बात ऊपर कही गई है वह प्रमाणित होती है।

इस टीका में, आजमशाही क्रम ग्रहण किया गया है जिसका विवरण ५ वें अंक के क्रम में किया गया है। ज्ञात होता है कि लल्लूलाल जी को मकसूदाबाद जाते समय काशी में इस क्रम की कोई प्रति हाथ लगी थी, क्योंकि इस क्रम की प्रतियाँ विशेषत: काशी तथा जौनपुर ही के प्रांत में प्राप्त होती हैं, जिस प्रकार पुरुषोत्तमदास जी के क्रम की प्रतियाँ विशेषत: बुँदेलखंड तथा ब्रज के प्रांतों में मिलती हैं। इस प्रति का क्रम लल्लूलाल जी ने उत्तम देखकर अपनी टीका में वही रखना उचित समझा। पर कहीं कहीं उसके क्रम से उन्होंने

कुछ भेद कर दिया है, और कुछ दोहे अन्य क्रम की पुस्तकों में अधिक अथवा न्यून पाकर बढ़ा घटा भी दिए हैं। आजमशाही की मुख्य प्रति में जो दोहे बिहारी-रत्नाकर से न्यूनाधिक हैं उनका ब्यौरा तो उस क्रम के विवरण में लिखा जा चुका है, यहाँ लाल-चंद्रिका में आज़मशाही क्रम से जो न्यूनाधिक्य अथवा हेरफेर किया गया है वह लिखा जाता है।

लालचंद्रिका के अंतिम दोहे पर ७२६ अंक है, पर इसमें दो दोहे, अर्थात् "नेक न जानी जाति इत्यादि" तथा "जगत जनायो इत्यादि", दो दो बार आए हैं। अतः लालचंद्रिका में सब दोहे ७२४ ठहरते हैं, और आज़मशाही क्रम में, जैसा कि उसके विवरण में लिखा गया है, केवल ७१७ दोहे हैं। इन ७१७ दोहों में से ५ दोहे लालचंद्रिका में नहीं रक्खे गए हैं, अतः आज़मशाही प्रति के केवल ७१२ दोहे लाल-चंद्रिका में लिए गए हैं, और १२ दोहे आज़मशाही प्रति के दोहों से इसमें अधिक हैं। जो ५ दोहे लालचंद्रिका में नहीं रक्खे गए हैं वे बिहारी-रत्नाकर में भी नहीं हैं। ज्ञात होता है कि उनको कृष्णलाल की टीका हरिप्रकाश टीका तथा कृष्णदत्त की टीका में न पाकर लल्लू-लाल जी ने निकाल दिया। जो १२ दोहे लालचंद्रिका में अधिक हैं उनमें से 'संवत ग्रह ससि इत्यादि' दोहा तो उन्होंने कृष्णलाल की टीका से, उसको बिहारी-सतसई की समाप्ति का दोहा समझकर ले लिया, और शेष ११ दोहे हरिप्रकाश टीका में सबके सब, तथा अपने अन्य आधारभूत टीकाओं में किसी को पाकर अपनी टीका में रख लिया। उनमें से एक दोहा 'चित तरसत इत्यादि' तो उन्होंने १२८ संख्या पर रक्खा है, और शेष १० दोहे अंत में। इन के अति-रिक्त बीच बीच के ८ और दोहों को भी उन्होंने किसी टीका में न पाकर अंत में रक्खा है। उन्होंने अपनी भूमिका में जो लिखा है कि "सतसई में नृपस्तुति के दोहे छोड़ जो दोहे ७५० से अधिक और कवियों के बनाये जो मिले हैं तिनमें से जिसका ठिकाना टीका-कारों के ग्रंथ में पाया तिसे पीछे रहने दिया और जिसका प्रमाण

कहीं न पाया तिसे निकाल दिया।" उससे ज्ञात होता है कि जो ५ दोहे आज़मशाही क्रम वाली पुस्तक के लालचंद्रिका में नहीं आए हैं वे लल्लूलाल जी ने अपनी छवों आधारभूत टीकाओं में न पाकर और बिहारी के न समझकर निकाल दिए हैं। उनके बिहारीकृत न होने का अनुमान तो उनका ठीक है, पर जो और १८ दोहे उन्होंने लालचंद्रिका के अंत में रक्खे हैं उनमें से ७ दोहे तो वास्तव में बिहारी के नहीं हैं पर ११ दोहे जो 'टूट' शीर्षक के नीचे लिखे हैं वे प्राचीन प्रतियों तथा उनके पूर्व की टीकाओं में पाए जाते हैं। लल्लूलाल जी ने न जाने क्या समझकर उनको अंत में रखना उचित समझा। इस न्यूनाधिक्य तथा हेर फेर के अतिरिक्त भी कतिपय दोहों के स्थानों में आज़मशाही क्रम की अपेक्षा लालचंद्रिका में कुछ हेर फेर दिखाई देता है। बिहारी-रत्नाकर से लालचंद्रिका में जो न्यूनाधिक्य है उसका ब्यौरा बिहारी-रत्नाकर के अंत में जो परिशिष्ट तथा सूचियाँ हैं उनसे ज्ञात हो सकता है।

पहले पहल लालचंद्रिका स्वयं लल्लूलाल जी ही के संस्कृत प्रेस, कलकत्ता, में सन् १८१९ ई० में छपी थी, और फिर इसका एक संस्करण काशी के लाइट प्रेस में छपा। सन् १८९६ ई० में इसका एक बड़ा उत्तम संस्करण सर जी. ए. ग्रियर्सन के, सी. एस. आई., सी. आई. ई. ने अपनी बृहद् तथा अत्यंत उपयोगी भूमिका तथा भाषाभूषण के अँगरेजी अनुवाद के सहित गवर्नमेंट प्रेस, कलकत्ता, में छपवाया था। इस संस्करण का संपादन बड़ी ही योग्यता, बहुदर्शिता तथा परिश्रम से किया गया है जिससे उक्त साहब महोदय का हिंदी भाषा का मर्मज्ञ तथा पूर्ण प्रेमी होना प्रमाणित होता है। यह संस्करण अँगरेजी जाननेवाले बिहारी के पाठकों के निमित्त बड़ा उपयोगी है। ये तीनों संस्करण अब अप्राप्य हो गए हैं। केवल सन् १९०५ ई० की नवलकिशोर प्रेस की छपी हुई लालचंद्रिका अब मिलती है। इसके एक शुद्ध और उत्तम संस्करण के प्रकाशित होने की बड़ी आवश्यकता है।

(२०)

रामजू की टीका

मिश्रबंधुविनोद में १९८४ अंक पर रामजूकृत एक बिहारी-सतसई की टीका लिखी है, और रामजू का कविता-काल संवत् १९०१ के पूर्व बतलाया है। इस टीका के अस्तित्व के विषय में संदेह है, जो हम ग्यारहवें, अर्थात् प्रेमपुरोहित के क्रम के विवरण में लिख चुके हैं।

इस टीका के साथ विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी में निर्मित टीकाओं की समाप्ति होती है। अब आगे बीसवीं शताब्दी की टीकाओं का आरंभ होगा।

[क्रमशः

(६) एक ऐतिहासिक भ्रमसंशोधन

[लेखक—कुँअर कन्हैया जू, चरखारी]

नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग ८ अंक ४ में रायबहादुर बाबू हीरालाल साहब का "(१३) सागर का बुँदेली शिलालेख" शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ है। आपने सागर में पाये हुए एक शिलालेख का फोटो भी प्रकाशित कराया है और उसकी प्रतिलिपि शुद्ध नागरी अक्षरों में दी है। मूल लेख के फोटो और प्रतिलिपि दोनों का ध्यानपूर्वक मिलान करने से यदा कदा पाठांतर का भ्रम होता है, परंतु इस लेख के संबंध में बाबू हीरालाल साहब ने जो अपनी राय प्रगट की है वह तो सर्वथा भ्रामक प्रतीत होती है। इसके लिये बाबू हीरालाल साहब दोषी नहीं ठहराये जा सकते क्योंकि प्रथम तो बुंदेलखंड का कोई सांगोपांग इतिहास ही उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर शिलालेख संबंधी बातों का निर्णय किया जा सकता हो, दूसरे यह शिलालेख जितना ही महत्त्वपूर्ण है उतना ही किसी इतिहासवेत्ता के लिये उलझन में डालनेवाला भी है। किंबहुना यदि इस शिलालेख को बुंदेलखंड के इतिहास का गोरखधंधा कहा जाय तो कदापि अनुचित या अत्युक्ति न होगी।

सबसे पहले हम लेख के पाठांतरों का विवरण देकर तब उसकी लिपि, भाषा और मजमून की शैली पर अपनी राय कायम कर सकेंगे। तदनंतर शिलालेख से संबंध रखनेवाली ऐतिहासिक बातों का विधिवत् निर्णय करेंगे। संभव है कि उससे पाठकों को उक्त शिलालेख की वास्तविक स्थिति का परिचय पाने में यथार्थ सहायता प्राप्त हो।

शिलालेख की प्रतिलिपि इस प्रकार है—

(१) ॥ आयर या राह पाप की ओड़छे के श्रीराजा उदेतसिंह जू देव ने चलाइो सु ॥

(२) ॥ अपुन मैं लौडिन के जाइीदा हिन्दू मुसलमान सब मिलै ऐक करै सु ॥

(३) श्री महराजधिराज श्री महाराजा श्री अनुर्धमि (सिं) ह जू देव नै ॥

(४) ॥ पाप की राह मिटाइि 'धर्म की राह बाँधी ताकौ यौ करार [१]अ य है ॥

(५) ॥ आयर ई जागा की राजा (कु) बुँदेला होइि सु लौडिन के जाइिदा अ ।

(६) पनी जात में न मिलावै न पाँति मै लै बैठे अरु जौ कजाति लै वैठै तौ [२]ऊ ।

(७) वेटी वौहु अरु ऊ अपनी वैन मतारी पर काहू छोरै अउ[३] ऊ कौ महाल ।

(८) ॥ टी तलाक है [४]अउ वां राह चलाइी है सु पाप की मैटि धरम की चलाई ॥

(९) है सु या बात कौर दूषै सु वरनसंकर है [५]अउ जु कोऊ या नैची पांत कौ ।

(१०) पाँति मै लै वैठै सु ताके [६]पाप नराजि जाइि अस ऊकौ कुल डूवै अरु अंतक[७] ॥

(११) ऊ घोर नर्क मै परै अउ कजाति राज के लोभ सौ यहाँ के भैया वंद पु ।

(१२) रे हत कामदार पवासिन के जाइिदा कौ राजा करै तौ ऊ (ब) न कौ कासी ।

(१३) । जू मै मात गमन करै कौ दोषु लगै अरु जु कौऊ यौ वीजकु फौरै सु ॥

(१४) ऊ गा (गां) डू अउ ऊ की सत्रा पैरी पाछे की गांडू होइि माहु सुदि ९ सं ॥

(१५) वहु १८२६ मुकामु चँदेरी ।

(१) आय के स्थान में 'आय' पाठ सही मालूम होता है क्योंकि करार के संयोग में आय का कोई अर्थ ही नहीं होता। करार का अर्थ है शपथ। प्रायः शपथ अपने आप की जाती है और यह एक नियमित बात है कि किसी नेता या प्रधान व्यक्ति द्वारा की गई शपथ को उसके अनुयायी जन स्वयं प्राणपन से निवाहते हैं। जैसा कि यह बीजक चँदेरी में लिखा जाकर तत् राज्यान्तर्गत सागर और उसके पार्श्ववर्ती बुंदेला क्षत्रियों के सूचनार्थ एक केंद्रस्थान में स्थापित किया गया था।

(२) यहाँ 'ऊ' के स्थान में 'सु' पाठ सही मालूम होता है। यह ऊ (सु) अव्यय मात्र है जो परस्पर दो समवाक्यों को जोड़ता है कारण कि सर्वनाम (वह) वाचक ऊ सातवीं पंक्ति में अरु के आगे स्पष्ट है।

(३) यहाँ 'अउ' के स्थान में 'अरु' पाठ होना चाहिए कैथी लिपि के उ और रु की लिखावट में बहुत कम अंतर होता है।

(४) 'अउ वा राह' के स्थान में 'अरु या राह' होना चाहिए फोटो में या स्पष्ट पढ़ा जाता है।

(५) 'अउ वा' के स्थान में 'अरु या' पाठ शुद्ध हो सकता है। यहाँ भी य साफ पढ़ा जाता है।

(६) 'पाप नराजि जाइ' के स्थान में 'पायन राजि जाइ' पाठ होना चाहिए। बुँदेलखंडी भाषा में 'न' प्रत्यय तृतीया विभक्ति का चिह्न होता है।

(७) दसवीं पंक्ति के अखीर का अंतक और ग्यारहवीं पंक्ति के आदि का ऊ एक साथ पाठ होने से 'अंतकउ' पाठ होता है जिसका कुछ भी अर्थ नहीं होता। असल में यहाँ अंत तक पाठ है। अंत शब्द का अर्थ है सात पुस्त तक। ग्यारहवीं पंक्ति के आदि में उ नहीं त स्पष्ट दिखाई देता है। वस्तुतः जैसे अपढ़ खोदनेवाले ने ऊपर के अनुस्वार नीचे लगा दिये हैं उसी तरह वह तक के स्थान में कत खोद गया है। अंत शब्द के अर्थ का प्रमाण यों है।

सोरठा (ठेठ बुँदेलखंडी)

जीउ मार जो खांय हड़ंत गुड़ंत मुड़ंत लौं।
सो नर नरकै जांय पुतंत्र नतंत्र सु अंत लौ॥

शिलालेख के मजमून से यह तो स्पष्ट ही है कि इसका लेखक या प्रकाशक राजा अनरुद्धसिंह खुद नहीं है। इसका लेखक कोई अन्य ही गुमनाम व्यक्ति है जो ओरछे के राजा का शत्रु; पर चँदेरी के राजा का मित्र, है और इस शिलालेख की ओट से अपना कोई गुप्त अभीष्ट सिद्ध किया चाहता है। साथ ही शिलालेख की लिपि पर ध्यान देने से यह भी प्रमाणित होता है कि इस बीजक का लेखक खास बुँदेलखंडी व्यक्ति नहीं है। क्योंकि न तो इसकी भाषा ही शुद्ध बुँदेलखंडी है और न लिपि ही उस समय प्रचलित (कैथी) बुँदेलखंडी है। यह किसी ऐसे व्यक्ति का लेख है जो बुँदेलखंड में बहुत दिनों रहने के कारण बुँदेलखंडी भाषा तो खूब जानता है परंतु उसकी मातृभाषा बुँदेलखंडी नहीं है। और न वह बुँदेलखंडी लिपि लिखने में हस्तकुशल है। प्रमाण के लिये मोटे अक्षर वाले दूसरी पंक्ति के 'ए' सातवीं पंक्ति में 'पर' दसवीं पंक्ति में 'ताके' ग्यारहवीं पंक्ति में 'अंत तक' आदि प्रयोग बुँदेलखंडी भाषा के नहीं हैं इसी प्रकार नर्क धर्म आदि शुद्ध संस्कृत शब्द के स्थान में बुँदेलखंडी में नरक धरम होना चाहिए था। प्रायः सु और य की लिखावट से भी यही बात झलकती है कि लेखक ने कविता संबंधी ब्रजभाषा वचनिका का मजमून शिला में लिखा है। यदि ऐसा नहीं है, किसी बुँदेलखंडी ने ही गड़बड़ करके यह लेख लिखा है तो जैसे हस्ताक्षर मिटाकर लेख को गुमनाम करने का प्रयत्न किया गया है वैसे ही लेख को जानकर इस रूप में लिखा है कि वह किसी तरह शुद्ध बुँदेलखंडी भाषा का लेख नहीं कहा जा सकता।

इसमें कोई संदेह नहीं कि शिलालेख के लेखक ने अपने को और अपने मुख्य उद्देश्य को छिपाने का खूब प्रयत्न किया है परंतु जिस अक्ल से खुदा पहचाना जाता है उसी अक्ल से हम उसका

पता लगाने की कोशिश करते हैं और लेखक के विरुद्ध अपनी सफलता के लिये अब हम बुँदेलखंड के इतिहास की सहायता से लेख की एक एक पेचीदा बात का निर्णय करते हैं। देखें अखीर में क्या परिणाम होता है।

शिलालेख की आदि की चार पाँच पंक्तियों का सारांश यह है कि बुँदेलखंड के बुंदेला क्षत्रियों में लौंड़ीजाइदा खवासवाल लोगों को अपनी बराबरी के अधिकार देकर उन्हें अपनी जाति में मिला लेने की परिपाटी प्रचलित है। यह राह ओड़छे के राजा श्री उदेतसिंह जी की चलाई हुई है। पहले यहाँ ऐसा नहीं होता था। यह रिवाज पापमय है। चंदेरी के राजा श्री अनरुद्धसिंह ने इस बात का विरोध करके अपने वंशजों को सचेत करने के लिये स्वयं घोर शपथ की। अब सबसे पहले यह देखना चाहिए कि यह बात कहाँ तक सच है।

राजपूताना या अन्यान्य प्रान्त के क्षत्रियों में प्राय: सर्वत्र यह एक आम रिवाज है कि निज जाति के सिवाय (अंत्यजों को छोड़कर) किसी भी जाति की स्त्री रख लेने में कोई दोष नहीं माना जाता, यानी किसी प्रकार के जाति दंड का नियम नहीं है; परंतु उस रखी हुई स्त्री की संतान को न तो पाँत में मिलाकर खिलाया जाता है और न अन्य किसी प्रकार के बराबरी के अधिकार दिये जाते हैं। रखेल स्त्री की जाइदा संतान को खवासवाल हजूरी गुलाम चेला गोला या दारोगा कहते हैं, जब कि बुंदेलखंड में उक्त रिवाज के विरुद्ध रखेल स्त्री की संतान के लोग छोटी, ओछी या नीची पाँत के ठाकुर कहे जाते हैं तथा ये नीची पाँत के बच्चे, औरस उत्तराधिकारी न होने की दशा में, पैतृक संपत्ति का अधिकार भी पाते हैं। कुछ दिनों में वे धन जन के जोर से उत्तम वर्ग में भी मिल जाते हैं। यह बात केवल साधारण स्थिति के ठाकुरों से संबंध नहीं रखती, बुंदेलखंड में कई रियासतें और जागीरें इस किस्म की हैं जिन पर स्पष्ट लौंड़ीजाइदा खवासवाल उत्तम वर्ग के क्षत्रिय

की हैसियत से शासन करते हैं और उनके आश्रित सब क्षत्रिय उनको कुलीन मानते हैं। दिन गुजर जाने से अब वे बड़े घराने के कुलीन राजों महाराजों के बीच भी उत्तम वर्ग के अधिकारों के अधिकारी माने जाते हैं। ज्यादातर यह बात हिंदू खवासवालों में देखने में आती है परंतु यदा कदा मुसलमानी से उत्पन्न खवासवाल भी बुंदेलखंड में ठाकुर बना लिये गये हैं, वे अब तक उत्तम वर्ग में नहीं मिल सके। आशा है कि कुछ दिनों में वे भी मिल जुल जायँगे। तात्पर्य्य यह कि बुंदेलखंड में इस समय इतना गड़बड़ है कि यह निर्णय करना कठिन हो रहा है कि कौन असली क्षत्रिय संतान हैं और कौन लौंड़ीजाइदा खवासवाल हैं।

अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह रिवाज बुंदेलखंड में कब से प्रचलित है? कौन इसका चलानेवाला है? इन प्रश्नों के उत्तर के लिये हम वीर बुंदेल पंचमसिंह से लेकर बुंदेला जाति के इतिहास का मनन करते हैं तो सबसे प्रथम ओरछे के राजा उदेतसिंह के समय में ही एक ऐसी घटना मिलती है जिसकी आजकल सैकड़ों मिसालें मौजूद हैं।

मुंशी श्यामलाल कृत तवारीख बुंदेलखंड हिस्सा सोयम (तीसरा) पृष्ठ ५ में लिखा है कि "राजा उदेतसिंह के दो बेटे थे। एक पृथ्वीसिंह, जो पिता के बाद ओरछे की गद्दी पर बैठा और दूसरा नाकिसुलवतन दीवान अमरसिंह या अमरेश जिसको उदेतसिंह ने अपने हीन हयात में जागीर दे दी थी"। इसके पहले किसी नाकिसुलवतन अर्थात् हजूरी या खवासवाल को भाई बेटों की बराबरी की जागीर और पदवी मिलने का प्रमाण नहीं पाया जाता।

सारांश यह कि शिलालेख के लेखक ने जो श्री राजा उदेतसिंह को लौंड़ीजाइदा को पाँत में ले बैठनेवाला बतलाया वह सर्वथा सत्य और यथार्थ है, कारण कि उक्त दीवान अमरेश की संतानवाले इस समय उत्तम वर्ग के बुंदेले क्षत्रियों की पाँत में बैठते हैं और उन्होंने जाति में बराबरी के अधिकार पाये हैं।

संभव है कि उसी समय किसी मुसलमान लौंड़ीजाइदा को जाति में मिलाने का प्रयत्न किया गया हो परंतु पूर्ण सफलता प्राप्त न हुई हो। जितनी बात तब हो गई उतनी बात अब तक चली जाती है।

आगे शिलालेख में यह लिखा है कि यह राह पाप की है; किंतु इस बात का निर्णय एक जटिल प्रश्न है। यह समाज की धारणा पर निर्भर है। हमारे नजदीक पाप और पुण्य कोई वस्तु नहीं है; यह तो मन का संकल्प विकल्प मात्र है। जिस बात को एक व्यक्ति या जन-समुदाय घोर पाप मानता है उसी को दूसरा व्यक्ति या जनसमुदाय पुण्य मानता है।

पहले जिस तवारीख से श्री राजा उदेतसिंहजी के इतिहास का किंचित अंश उद्धृत किया गया है उसी से अब हम उनके प्रतिद्वंद्वी चँदेरी के राजा अनरुद्धसिंहजी का इतिहास उद्धृत करते हैं। "अनरुद्ध-सिंह सन् १७४६ मुताबिक संवत् १८०३ में चँदेरी की गद्दी पर बैठे, उनके बाद उनके बेटे रामचंद्र सन् १७४७ मुताबिक संवत् १८०४ में चँदेरी की गद्दी पर बैठे" अर्थात् अनरुद्धसिंहजी केवल एक वर्ष राज करके इस संसार से चल बसे जब कि राजा उदेतसिंह ने संवत् १७४६ से संवत् १७९२ तक ४६ वर्ष राज किया। संभव है कि ४६ वर्ष के राज-काल में राजा उदेतसिंह जिस सामाजिक प्रथा का उद्घाटन कर गये उसका एक वर्ष के राजकाल में अनरुद्ध-सिंह उच्छेदन न कर सके हों इसी कारण अपनी संतान और अपने आश्रितों को सचेत या उत्तेजित करने के लिये मरते वक्त शपथ कर गये हों अर्थात् शिला में जो अनरुद्धसिंह के शपथ की बात लिखी है वह सत्य प्रतीत होती है।

परंतु जिस समय संवत् १८२६ में शिलालेख लिखा गया उस समय चँदेरी में अनरुद्धसिंह का पुत्र राजा रामचंद्र राज करता था। उसकी शिलालेख में कोई चरचा भी नहीं है। इसके अतिरिक्त जिस स्थान पर शिलालेख पाया गया है वह बीजक लिखे जाने के समय चँदेरी राज्य के अंतर्गत नहीं था, इससे यह सिद्ध होता है कि

चँदेरी में खवासवालों के बहिष्कार की घटना भले ही हुई हो जिसके आधार पर बीजक के लेखक ने अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये यह प्रपंच रचा परंतु चँदेरी के राजाओं से और उक्त शिलालेख से प्रत्युत कोई संबंध नहीं है वरन् शिलालेख का लिखनेवाला कोई ऐसा व्यक्ति था जो हिंदू मुसलमान लौंड़ीजाइदा या खवासवालों को क्षत्रियों की पंक्ति में मिलाने की प्रथा का विरोधी था। वह चँदेरी के राजा अनरुद्धसिंह और उनकी संतान का मित्र या भक्त था परंतु साथ ही अनरुद्धसिंह के पुत्र राजा रामचंद्र को परोक्ष विधि से किसी घटना-विशेष के विरुद्ध उत्तेजित करके अपना स्वार्थसाधन किया चाहता था।

उपर्युक्त प्रसंग के निर्णय के लिये—कि यह शिलालेख क्यों लिखा गया और किसने लिखाया—हमको शिलालेख की तिथि के समय का सारे बुंदेलखंड के इतिहास का मनन और ध्यानपूर्वक निरीक्षण करना चाहिए। अस्तु, जिस भूमि पर शिलालेख पाया गया है उसी भूमि के इतिहास से हम अपने ऐतिहासिक अध्ययन की भूमिका आरंभ करते हैं।

सागर का इतिहास

पंडित किशननारायण कृत जिला जालौन की उर्दू तवारीख में लिखा है और जिसका हूबहू हवाला मुंशी श्यामलाल ने भी दिया है कि —

"राजा छत्रसाल ने जब तीसरा हिस्सा अपने मुल्क का व एवज़ इमदाद यूरश नवाब बंगस के बाजीराव पेशवा को दिया कि जिसकी तफसील...आखिर में दर्ज है—पेशवा अपनी तरफ से पंडित गोविंदराव को सूबेदार उस हिस्से का मुकर्रर करके खुद पूना को वापस गया। दो वर्ष तक पंडित गोविंदराव को राजा मजकूर ने कुछ दखल नहीं दिया सिर्फ ज़र नक़द तहसील करके बतौर ख़राज देता रहा। पंडित मजकूर ने अपनी हुसन तदवीरी से चंद मुकामात पर दखल कर लिया था। राजा छत्रसाल ने अपने तईं आफताब लबे बाम

समझकर हस्ब तकसीम साबिक तीन फर्दे बनाकर एक पंडित गोविंदराव दूसरी राजा हिरदेशाह खलफ अकबर व तीसरी राजा जगतराज के हवाले की। राजा हिरदेशाह के वक्त में भी पूरा दखल पंडित को न मिला। कुछ मुल्क कुछ नकदी मिलती रही। जब संवत् १७६५ में राजा मजकूर (हिरदेशाह) ने वफ़ात पाई और समसिंह उसका बेटा मसनदनशीन हुआ तब सागर व कालपी व जालौन वगैरह पंडित मौसूफ के तहत में आये और करीब बयालीस लाख रुपये के मुल्क उसके कब्जे में हो गया। संवत् १८०२ विक्रमी में पेशवा ने कालपी की हुकूमत लछमनसिंह नामी अपने एक सरदार के सुपर्द की और सागर बदस्तूर पंडित के हवाले रहा। इसने अपनी दानिशमंदी और फितरत की वजह से मियान दोआब में शिकोहाबाद इटावा व कड़ा मानिकपूर वगैरह मुल्क जमई इकतीस लाख रुपया अलावह मुल्क हिस्सा सालस के और फतह करके अपनी हुकूमत में शामिल कर लिया।

संवत् १८१६ मुताबिक सन् १७५९ ई० में जब मरहटों ने ब सर कर्दगी राघोवा, जिसके साथ २५ हजार के करीब फौज थी, देहली व पानीपत की तरफ कदम बढ़ाया उस वक्त खिदमत फराहमी सामान रसद गोविंदराव के सुपुर्द हुई और वाकै मिती पूस वदि ११ संवत् १८१८ मुताबिक सन् १७६० को पंडित मजकूर ने बगैर छोड़ने किसी औलाद नरीना के सही मुहिम में इंतकाल किया। बालाजी बाबा साहब (जो गोविंदराव का भतीजा होता था) बजाय पंडित मरहूम सूबेदार और उसी का छोटा भाई गंगाधरराव मुखतारकार मुकर्रर हुआ। उसने फौज को तरतीब दी और इंतजाम अच्छा किया मगर मियान दोआब का बहुत सा मुल्क मफतूहा व मकबूजा कब्जे से निकल गया।

संवत् १८२१ मुताबिक सन् १७६४ ई० में ब वाबीद नेक खवाही व खुश इंतजारी हाकमान जालौन सागर सूबा कालपी फिर सुपुर्द बालाजी व गंगाधर हुआ चुनांचे उन्होंने वेनाजी अपने बहनोई को

मुंतजिम सागर मुकर्रर करके बजात खुद कालपी का इंतजाम किया। बेनाजी ने नवाह जबलपूर में करीब बीस लाख रुपये के मुल्क पर कबजा बजरिये शमशेर कर लिया और संवत् १८२६ मुताबिक सन् १७६६ तक उसका दखल रहा।"

ऊपर जो एक प्रामाणिक तवारीख का अंश उद्धृत किया गया है इससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि विवादग्रस्त शिलालेख लिखे जाने के पचीस या तीस वर्ष पूर्व्व ही से सागर मरहटों के कबजे में था। संवत् १८०८ में पहले सागर पर कबजा हुआ फिर संवत् १८१८ में पेशवाओं ने इसे सूबेदार बुँदेलखंड के अधिकार से खालसा कर लिया। पुन: तीन चार वर्ष बाद यह फिर बेनाजी के अधिकार में गया और ठीक शिलालेख लिखे जाने के समय में यानी संवत् १८२६ में सागर बेनाजी के कबजे से निकल गया। अत: नागरीप्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित बाबू हीरालाल साहब का यह अनुमान सर्वथा निर्मूल सिद्ध होता है "यह शिलालेख चँदेरी में लिखा गया था, उस समय सागर जिला चँदेरी राज में सम्मिलित था। जान पड़ता है कि यह शिलालेख सागर की ओर के बुंदेलों को दिखलाने के लिये भेजा गया था।" इसके विपरीत हमारा अनुमान यह है कि सागर के तत्कालीन मरहटे हाकिम बेनाजी ने चँदेरी के राजा रामचंद्र को, जो एक उत्कृष्ट सनातनधर्मी था, उभाड़ने या उत्तेजित करने के लिये ही यह कौतुकमय कार्रवाई की थी कि वह बेनाजी के अधिकृत देश सागर जबलपुर वगैरह को ग्रास करनेवाले किसी हिंदू या मुसलमान लौंड़ोजाइदा यानी खवासवाल को सहायता देकर अपनाने का साहस न कर सके।

अब यहाँ एक नूतन शंका यह उत्पन्न होती है कि मरहटी अधिकारों से और बुंदेले क्षत्रियों के जातीय प्रश्न से क्या संबंध है, और बेनाजी को इस उपाय का आश्रय क्यों लेना पड़ा? क्या किसी अन्य रीति से वह अपने अधिकारों की रक्षा नहीं कर सकता था? इन सब बातों के समाधान के लिये एक और भी ऐतिहासिक वर्णन नीचे लिखा जाता है।

मरहटों के साथ बुंदेलों का संबंध वर्णन

पाठकों को सबसे पहले यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि जिस समय पन्ना राज के मूल व्यवस्थापक महाराज छत्रसाल ने मुगल साम्राज्य के विरुद्ध बगावत करने के लिये तलवार उठाई थी उस समय उन्होंने सबसे पहले महाराष्ट्रपति श्री शिवाजी के दरबार से ही सहायता पाई थी। होते होते छत्रसालजी ने फिर अपने बाहु-बल से करीब डेढ़ करोड़ की आय का देश अपने अधीन कर लिया और इसके बीच में फिर कभी उनको महाराष्ट्र शक्ति से सहायता लेने की आवश्यकता नहीं पड़ी। छत्रसालजी की ऐन वृद्धावस्था में जब फर्रुखाबाद के हाकिम नवाब बंगस खान ने पन्ना पर चढ़ाई की तब छत्रसालजी ने बाजीराव पेशवा को सहायता के लिये पत्र लिखा। इस पर बाजीराव ने केवल सत्रह दिन में पूना से जैतपूर पहुँचकर नवाब बंगस को उलटे पैरों भगा दिया। इस सहायता के उपलक्ष में महाराज छत्रसाल ने बाजीराव को अपना बेटा मानकर उसे अपने राज में तीसरा हिस्सा दिया (जैसा कि सागर के इतिहास में लिखा जा चुका है), साथ ही उन्होंने अपने औरस से उत्पन्न एक खवासवाल लड़की भी पेशवा को समर्पण की जिसके विषय में मुंशी श्यामलाल की तवारीख हिस्सा चहारम (चौथा) पन्ना ६१ में इस प्रकार लेख है—

"हम इस किताब में लिख चुके हैं कि जब बाजीराव पेशवा ब वक्त फौजकशी नवाब, महम्मद बंगस बानी फर्रुखाबाद राजा जगत-राज की मदद को आया उस वक्त एक औरत मस्तानी नाम की इस मुल्क से ले गया था। उसके वतन से जो लड़का पैदा हुआ नाम उसका शमशेरबहादुर रक्खा गया। अगर्चे यह बात ऐसी मशहूर व जबान जद आवाम है कि वह कौम से मुसलमान थी करीब ब मंजिल यकीन, नहीं मगर हमको मातवर जरिये से मालूम हुआ कि वाकई में वह औरत कौम हिंदू के किसी फिरके से थी। बाद लड़का पैदा होने के पेशवा साहब ने खयालात मजहबी अपने व

सलाह वेद ख्वानान (वेदविद् पंडितों) व दीगर मशीरान उसको मुसलमान कर दिया ताकि औलाद उसकी अपने तई हिंदू समझकर फरायज़ मजहबी अदा न कर सके जिसको पेशवा बमूजिब अकायद मज़हबी नाजाइज व बाइस खराबी मिल्लत खुद जानता था। नवाब शमशेरबहादुर हमेशा पूना में रहा। इसके सिवा और कुछ हाल उसका मालूम नहीं।''

जिन दिनों सागर पर बेनाजी ने अधिकार पाया ठीक उन्हीं दिनों बाँदा पर गुसाईं हिम्मतगिरि ने कब्जा करके पूर्वी बुंदेलखंड के सब बुंदेले राजाओं को अपने अधीन कर लिया था जैसा कि बाँदा के इतिहास से प्रमाणित है—

''हिम्मतबहादुर जिसका असली नाम अनूपगिर व खिताब राजा हिम्मतबहादुर कौम गुसाईं मर्द आली हिम्मत साहबे हौसला अहद नवाब शुजाउद्दौला वजीर अवध बजमई सरदारान फौज मुलाजिम या मुमताज था और जब कि हम बयान कर चुके हैं राजा गुमानसिंह (बुंदेले) के वक्त में नवाब की तरफ से व इत्तफाक करामत खान वास्ते तसखीर सूबा बुंदेलखंड के आया था जब कि सन् १७६३ मुताबिक संवत् १८२० में नवाब शुजाउद्दौला और सरकार अँगरेज बहादुर से ब मुकाम बक्सर मशहूर लड़ाई हुई हिम्मतबहादुर को टाँग में जखम शदीद आया था और पिछली लड़ाई में जब नवाब अँगरेजों से शिकस्त खाकर जानिब फर्रुखाबाद भागा उस वक्त में हिम्मतबहादुर बुंदेलखंड की तरफ चला आया चूँकि यहाँ ना इत्तिफाकी का दरख्त सर सब्ज व शाद था यह काबू पाकर साहबे ताकत हो गया।

इस जमाने में बालाजी बाजीराव व नाना फड़नवीस ने, कि मर्द अकील व दूरंदेश था, बुंदेलखंड की हालत जईफ और निफाक बाहमी पर मुब्तला होकर नवाब अलीबहादुर को सेंधिया के लशकर में इस गरज से भेजा कि जब मौका पावे बुंदेलखंड को बिलकुल अपने तहत हुकूमत कर ले।

(इधर) हिम्मतबहादुर का यह इरादा था कि अपनी हुकूमत को तरक्की दे मगर इस कदर काफी फौज उसके पास न थी कि बिला शरकतगीरी कामयाब हो सके इसलिये (उसने) नवाब अलीबहादुर से इस्तदा की कि आप यहाँ कदमरंजा करें, मैं हर तरह पर आपकी मदद करूँगा और यह मुल्क ब आसानी कबजे में आ जायगा। चुनांचे सन् १७९० ई० मुताबिक संवत् १८४७ में नवाब यहाँ आन पहुँचा। कहते हैं कि उस वक्त तादाद उसके लशकर की सवार या प्यादा नवाब व हिम्मतबहादुर के करीब चालीस हजार थी। सबसे पहले नवाब अलीबहादुर ने नौने अर्जुनसिंह पर हुकूमत जमाना चाही। नौने अर्जुनसिंह ने अलीबहादुर की बात न मानकर लड़ाई की और अजैगढ़ के पास वह मारा गया।"

यहाँ नवाब अलीबहादुर और हिम्मतबहादुर के विषय में जो कुछ वर्णन किया जा चुका है उससे यह आशय निकलता है कि पेशवाओं को बुंदेला राज्यों पर अधिकार करना या उनका किसी प्रकार अनिष्ट करना स्वीकार न था, परंतु पेशवा लोग यह अवश्य चाहते थे कि उनका लौंड़ाजाइदा भाई शमशेरबहादुर या उसका पुत्र बुंदेलों से हिस्से में पाये हुए राज पर स्वतंत्र आधिपत्य जमा ले। पेशवा के सरदार और सलाहकार पेशवा की इस नीति के विरोधी थे इस कारण शमशेरबहादुर की सारी उमर पूना में बीती। उसका पुत्र अली-बहादुर जब नर्मदा के इस पार सेंधिया के लशकर में भेजा गया तब भी वह उचित सहायता का मुहताज था। अत: जब हिम्मतबहादुर ने उसे सहायता दी तब उसने जोर पकड़ा। संभव है कि ऐसी ही किसी प्रकार की सहायता चँदेरी से माँगी गई हो और उसमें बाधा देने के लिये सागर के हाकिम ने कोई षडयंत्र रचा हो।

इसी सिलसिले में एक यह शंका उत्पन्न होती है कि पेशवाओं ने अलीबहादुर को तो एक बड़े लशकर के साथ बुंदेलखंड पर कबजा करने भेजा परंतु उसके पिता शमशेरबहादुर को कभी कोई सैनिक अधिकार न दिया गया इसका क्या कारण है? क्या वह

इन अधिकारों के योग्य न था ? अथवा कोई अन्य राजनीतिक भेद इसके भीतर छिपा हुआ है।

इन शंकाओं के समाधान के संबंध में कुछ भी कहने के पूर्व हम यहाँ महाराज छत्रसालजी के बाबत कुछ चुनिंदा बातें लिखना चाहते हैं। यद्यपि ये छत्रसालजी के संबंध की बातें पाठकों को यहाँ विषयविरुद्ध सी मालूम होंगी परंतु अंत में आप देखेंगे कि सारे पँवारे की जड़ येही दो चार बातें हैं जो यहाँ लिखी जा रही हैं—

महाराज छत्रसाल एक कट्टर सनातनधर्मावलंबी निंबार्क मतांतर्गत वल्लभाचार्य्य संप्रदाय के शिष्य होते हुए भी मूर्तिपूजा के विरोधी, समयोचित शुद्धि और हिंदू मुसलमान एकता के समर्थक थे। मरहटों का सरताज पेशवा भी उनका सहायक या शिष्य था परंतु समाज ने इन लोगों का साथ नहीं दिया। जिन लोगों के कंधों पर इनके सब कामों का भार था वे ही इनके धार्मिक विचारों के बाधक थे। यही कारण है कि वे लोग शुद्धि और एकता के विस्तार में यथेच्छ सफलमनोरथ न हो सके। हमारे इस अनुमान के प्रमाण स्वरूप इतिहास से पाठकों को भली भाँति विदित होगा कि महाराज छत्रसालजी परिणामी मत के प्रधान शिष्य थे यहाँ तक कि इस मतवाले महाराज को साकुंडल सखी का अवतार मानते हैं और उन लोगों की यह धारणा है कि महाराज छत्रसाल की भक्ति के बिना कोई स्वर्ग की सीढ़ी पर पैर नहीं रख सकता। परिणामी मत एक ऐसा मत है कि जिसमें पुरान कुरान दोनों के वाक्य उद्धृत करके एक तीसरे मार्ग को हिंदू साँचे में ढाला गया है।

इसके सिवाय महाराज छत्रसाल ने बावन औरस पुत्र होते हुए भी बारह मुँहबोले बेटे बनाये थे। इन मुँहबोले बेटों में दो तीन ऐसे थे कि जिनको संन्यास या वानप्रस्थ से फेरकर फिर गृहस्थ बनाकर हथियार पकड़ाये थे। एक और भी बात इतिहास में स्पष्ट लिखी है कि महाराज छत्रसाल के औरस से और एक गड़ेरिन के गर्भ से मोहनसिंह नाम का एक पुत्र था। ओनगर उसकी जागीर में था।

छत्रसालजी ने मोहनसिंह को अपने ही थाल में भोजन कराकर अपने समवर्ग में मिला लिया था। उक्त चौसठ बेटों में से एक का नाम शमशेरबहादुर था और एक का नाम मिरजा राजा था। ये दोनों मुगलानी रानी के पेट से पैदा हुए थे। संभवतः मस्तानी, जो बाजीराव पेशवा को दी गई थी, मिरजा राजा की बहिन थी जिसके पेट से बाँदा के नवाबों का मूल पुरुष शमशेरबहादुर जन्मा था और वास्तव में जो इस लेख का नायक है।

अब तक हम जिस कदर ऐतिहासिक वृत्तांतों को लिख चुके हैं उन सबको खिलत मिलत करके एक खिचड़ी बना लेते हैं और फिर सागर में पाये हुए शिलालेख को सामने रखकर अपने अनुमान के सूत्र पर एक मनोरंजक गल्प की रचना करते हैं। संभव है कि इस गल्प से शिलालेख के लेखक और इसके लिखे जाने का कारण दोनों का पता पाने में कुछ सहायता मिल सके।

(१)

महाराज छत्रसाल अत्यंत वृद्ध हो गये हैं, उन्होंने हथियार बाँधना और राजकाज के कामों में भाग लेना सर्वथा त्याग दिया है। वे अहर्निश भगवत्भजन और योगाभ्यास में लवलीन रहते हैं और उनके दो पुत्र हिरदेशाह और जगतराज राजकार्य करते हैं। हिरदेशाह पन्ना में रहकर राज के पूर्वीय भाग का निरीक्षण करते हैं और जगतराज जैतपुर में रहते हुए पश्चिमी भाग पर शासन करते हैं। इन दोनों भाइयों में कोई जाहिरा वैमनस्य या विषमता नहीं है परंतु जैसी चाहिए वैसी समता भी नहीं है। वास्तव में दोनों एक दूसरे से उदासीन, अपनी अपनी राह के पथिक हैं। जब कोई राजकर्मचारी महाराज छत्रसाल से इन दोनों भाइयों के आचरण के विषय में चरचा करता है तो वे यही उत्तर देते हैं कि "जो करेगा सो भरेगा" अपना तो बेड़ा पार है।

एक दिन महाराज छत्रसालजी अपने नित्य नियम से निवृत्त होकर एकांत में बैठे योगाभ्यास के विषय को मनन कर रहे थे।

उसी समय प्रधान कर्मचारी ने वहाँ उपस्थित होकर प्रार्थना की कि "महाराज! फर्रुखाबाद के हाकिम नवाब बंगसखान ने जैतपुर के किले को घेर लिया है। अभी एक शुतर सवार ने आकर समाचार दिया है कि यद्यपि राजकुमार जगतराज जी बड़ी वीरता से उसके मुकाबले में किले में घिरे हुए आत्मरक्षा कर रहे हैं परंतु किले में रसद की कमी होने पर नवाब का सामना करना कठिन हो जायगा।

यह सुनकर वयोवृद्ध महाराज ने एक दीर्घ निःश्वासपूर्वक आप ही आप कहा—

दोहा

बारे सें पालो हतो, फोहन दूध पिवाय।
जगत अकेलौ लरत है जौ दुख सहो न जाय॥

क्षणेक शांत रहकर फिर उन्होंने प्रधान को आज्ञा दी—

अच्छा! जगतराज को वापसी डाक से लिखो कि घबड़ाना नहीं। तुम मेरे हो तो शत्रु को पीठ दिखाकर मुझको मुख न दिखाना, विश्वास रक्खो कि मेरे जीते जी तुम्हारा कोई बाल बाँका नहीं कर सकता। एक पत्र हिरदेशाह को लिखो कि रीवाँ का मोरचा छोड़कर वह तुरंत भाई की सहायता के लिये जैतपुर जावें और एक पत्र बाजीराव पेशवा को सहायता के लिये लिखो (कुछ सोचकर वह फिर बोले) हाँ अंत में यह दोहा भी लिख देना।

"जो बीती गज ग्राह पर सो बीती है आय।
बाजी जात बुँदेल की राखो बाजीराय॥"

फौरन महाराज के हुक्म की तामील हुई। पूना को जानेवाला शुतर ठीक नौ दिन में ठिकाने पर पहुँच गया। बाजीराव पेशवा ने महाराज छत्रसाल का पत्र पाते ही साठ हजार मरहटे वीर लेकर तुरंत बुंदेलखंड की तरफ प्रस्थान किया। डेढ़ महीने का रास्ता सत्रह दिन में तय करके बाजीराव ससैन्य सीधा जैतपुर जा पहुँचा

एक ओर से बुंदेला दल और दूसरी ओर से महाराष्ट्र-सेना-समुद्र को उमड़ा देखकर नवाब बंगस ने किले का घेरा छोड़ दिया। वह चुपचाप वहाँ से भाग गया। कुँवर जगतराज ने किले से बाहर निकलकर सादर पेशवा का स्वागत किया और भाई को गले लगा लिया। तीन चार दिन जैतपुर में रहकर फिर सबने महाराज छत्रसाल के दर्शनों के लिये पन्ना को प्रस्थान किया।

(२)

आज कई वर्ष के बाद महाराज छत्रसाल जी संपूर्ण राजसी ठाट बाट से सुसज्जित होकर दरबार में बैठे हैं। सूर सावंत सगे सरदार सिपाही पासवान करता कामदार सब लोग यथानियम दरबार में उपस्थित हैं। हिरदेशाह और जगतराज दोनों राजकुमार महाराज की गद्दी के बायें सटे बैठे हैं और गद्दी के दहने पार्श्व में एक आसन खाली छोड़कर सजातीय सरदार यथास्थान श्रेणीबद्ध बैठे हैं।

चोबदार ने आवाज लगाई "महालज्जादा पेश निगाह महिरबान सलामत" महाराज ने देखा कि बाजीराव पेशवा सामने आ रहे हैं। महाराज ने तुरंत खड़े होकर आगंतुक का स्वागत किया। पेशवा ने नम्र भाव से महाराज को प्रणाम किया। नजर पेश की, न्यौछावर की। महाराज ने खाली आसन की तरफ इशारा करते हुए पेशवा से कहा "आओ बेटा, बैठो। तुमने इस बूढ़े के लिये बड़ा श्रम उठाया है"। इसके उत्तर में बाजीराव ने नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर कहा—काकाजी, बेटे का जो कर्तव्य था सो बेटे ने पालन किया। अब पिता को भी सदैव इसका ध्यान रहे, अधिक क्या निवेदन करूँ।

"अवश्य" महाराज ने गंभीरतापूर्वक उत्तर दिया "जैसे दो बेटे ये हैं वैसे ही एक तुम हो इसमें अंतर न समझना।"

इसके बाद कुछ देर के लिये दरबार में सन्नाटा छा गया। नृत्य गान वालों समाजें मौजूद थीं। उन्होंने अपना काम आरंभ किया। इधर महाराज छत्रसाल और पेशवा में परस्पर कुछ साधारण बातें होने लगीं। नृत्य गान का कोलाहल शांत होते ही महाराज ने

कहा 'तिवारी को बुलाओ।'' फौरन बलभद्र तिवारी दरबार में हाजिर हुए और महाराज का कुछ इशारा पाते ही वे चुपचाप वहाँ से चले गये। इधर फिर गाना बजाना शुरू हुआ, थोड़ी देर बाद बलभद्र ने फिर से सामने आकर हाथ जोड़े। बस महाराज का इशारा पाते ही गाना बजाना बंद हो गया। जाबते का इतर पात्र होकर दरबार बरखास्त हुआ और महाराज छत्रसाल, बाजीराव पेशवा तथा उपर्युक्त दोनों राजकुमारों समेत, खास रहाइस के महलों को चले गये। एक छोटे से कमरे में बैठकर चार पंचों की गुप्त गोष्ठी होने लगी। इस गोष्ठी में तत्कालीन राजनीति, समाज-नीति और आचार-व्यवहार संबंधी अनेक बातें हुईं जिनसे हमको कोई प्रयोजन नहीं है। यहाँ केवल वे ही प्रश्नोत्तर लिखे जाते हैं जिनसे शिलालेख से कुछ भी संबंध संभव है।

"धन्य हो बेटा बाजीराव धन्य हो" महाराज छत्रसाल ने कहा "आपके योग्य विचारों को जानकर मेरा चित्त अत्यंत प्रसन्न हुआ। बस इसी उदार नीति के बल हम अपनी खोई हुई सत्ता को पुनः प्राप्त कर सकते हैं अन्यथा नहीं।"

"यह सब आप बड़ों की कृपा-दृष्टि है" बाजीराव ने नीचा सर करते हुए कहा "मैं किस योग्य हूँ, काकाजी साहब इस पंथ में समाज का विरोध बहुत खटकता है।"

"हाँ यह तो कहिए" छत्रसालजी ने सहसा पूछा "धर्म-बंधन के विषय में आपका क्या मत है ?"

"क्षमा कीजिएगा" बाजीराव ने कहा "धर्म दो तरह के होते हैं। एक तो व्यक्तिगत मानसिक धर्म, दूसरा सामाजिक धर्म। यहाँ आपका किस धर्म से प्रयोजन है ?"

"मेरा अभिप्राय है व्यक्तिगत धर्म से" छत्रसाल जी ने उत्तर दिया "सामाजिक धर्म तो व्यक्तिगत संपत्ति नहीं हो सकता क्योंकि वह समय की गति से संबंध रखता है।"

"तब श्रीमंत तो सब जानते हैं" बाजीराव मुस्कराकर बोले "जो धर्म पिता का है वही पुत्र का समझिए, अधिक क्या निवेदन करूँ ?"

"हाँ ठीक है प्रत्यक्षं किं प्रमाणम्" जगतराज ने समर्थन किया "मानसिक धर्म की एकता के बिना वास्तविक सद्व्यवहार तो सर्वथा असंभव है।"

"सो भी प्राण पत का" हिरदेशाह बोले।

"बस मैं समझ गया। तुम वास्तव में मेरे सुयोग्य पुत्र हो, छत्रसाल जी ने दृढ़ स्वर से समझाया "पुत्र दो प्रकार के होते हैं। एक वह जो अपने रक्त से उत्पन्न होता है और दूसरा वह जो बेटी दे बेटा लिया जाता है।"

बाजीराव नीची गरदन किये सुनते रहे।

"परंतु एक बात अवश्य ध्यान में रखनी होगी" छत्रसाल ने जोर देकर संबोधन किया "मैं जो सजीव रत्न तुमको देता हूँ उसकी संतान को तुम्हें वही अधिकार देने होंगे जो उचित हो।"

"आपकी कृपा से मुझे धन और धरती की भूख नहीं है और न मैं इस लोभ से आपकी सेवा करने आया हूँ। मैं तो आपको महाराज शिवाजी की बराबरी का समझकर आपकी कृपा मात्र चाहता हूँ। आपने जो संपत्ति मुझे संकल्प करने की इच्छा की है वह मैं तो उचित अधिकारी को ही दूँगा आगे की प्रभु जाने। मेरे ये दोनों भाई ही आगे जैसा करेंगे सो होगा, मैं अपने जीते जी उसमें हाथ भी नहीं लगाऊँगा।"

"परंतु ये बातें गुप्त रहें" छत्रसाल ने समझाया "ऐसा न होने से हमारे तुम्हारे दोनों समाजों में हलचल मच जायगा।"

"जो आज्ञा श्रीमान् की" यह कहकर बाजीराव उठ खड़े हुए। छत्रसाल जी ने गले मिलकर उन्हें बिदा किया। हिरदेशाह और जगतराज दोनों भाई पेशवा साहब को महल के दरवाजे तक पहुँचाने गये।

(३)

अपने एक सहकारी सरदार पंडित गोविंदराव को सागर के किले में छोड़कर बाजीराव पूना को चले गये। बाजीराव ने गोविंद-राव से बिदा होते समय समझाया कि बुंदेलखंड के बुंदेले सरदारों की सहायता और रक्षा करना महाराष्ट्र शक्ति का मुख्य उद्देश है। इसके विरुद्ध उनको किसी प्रकार सताना हमको प्रिय नहीं है। इसलिये हाल में महाराज छत्रसालजी फौज खर्च की तरह जो कुछ नगदी तुमको दें लेते जाना। भूमि के हिस्से बाँट के लिये उनसे कभी किसी प्रकार झगड़ा या आग्रह न करना। पेशवा साहब का हुकम मान-कर पंडित गोविंदराव कभी सागर में तो कभी कालपी और जालौन में रहने लगा। महाराज छत्रसाल जो कुछ नगद रकम उसको देते उसे लेकर वह संतुष्ट रहता था।

बाजीराव को पूना को वापस गये हुए दो वर्ष से भी अधिक व्यतीत हो गये। बाजीराव पन्ना से जो स्त्री ले गये थे उसके गर्भ से एक बालक जन्मा। पंडित गोविंदराव द्वारा यह समाचार महाराज छत्रसाल के पास पहुँचा तब उन्होंने अपने राज के—जिसकी आमदनी उस समय डेढ़ करोड़ के लगभग थी—तीन भाग करके परगनेवार तीन फर्दें बनवाईं। उनमें से एक फर्द पाटवी राजकुमार हिरदेशाह को दी गई। दूसरी महाराजकुमार जगत-राज को मिली और तीसरी फर्द पंडित गोविंदराव के पास भेज दी गई। फर्द के लिखे हुए कुछ गाँवों पर तो पंडित ने उसी समय अपना दखल जमा लिया परंतु शेष (अधिकांश) भाग पहले की भाँति पन्नाराज के ही अधिकार में रहा। उसकी नगद आय तहसील वसूल होकर पन्ना से ही पंडित को मिलती रही।

यद्यपि पंडित गोविंदराव ने अपने बाहुबल से गंगा यमुना की मध्यवर्ती द्वाब की भूमि का बहुत सा भाग अपने अधिकार में कर लिया परंतु उसने पन्ना से भाग में मिले हुए सब गाँवों पर दखल जमाने का प्रयत्न कुछ भी नहीं किया। वह स्वयं ऐसा नहीं चाहता था

परंतु मालूम होता है कि स्वामी की आज्ञा पालन करने के लिये विवश था। यदि बाजीराव चाहता तो गोविंदराव सारे बुंदेलखंड पर अधिकार कर लेता।

जब मस्तानी के गर्भ से जन्मा हुआ बाजीराव का पुत्र नौ वर्ष का हो गया तब यह प्रश्न उठा कि इसका यज्ञोपवीत करके इसे हिंदू बनाया जाय या मुसलमानी कर के मुसलमान बनाया जाय। बाजीराव स्वयं उसे हिंदू बनाकर और नीची पाँत के क्षत्रिय वर्ग में मिलाकर उसी तरह से एक अलग जागीरदार (पतिकदार) बनाया चाहता था जैसे औरछे के महाराज उदेतसिंह ने अमरेश को जागीर दे दी थी या महाराज छत्रसाल ने मिरजा राजा, शमशेरबहादुर, मोहनसिंह आदि को जागीरें लगा दी थीं, परंतु यह बात सर्वथा बाजीराव के वश की न थी। उसके मंत्री मुसाहबों और धार्मिक सलाहकारों ने जो राय दी उसे विवश माननी ही पड़ी और संवत् १७९५ में उक्त पुत्र की मुसलमानी करके उसका नाम शमशेरबहादुर रखा गया। इस समय महाराज छत्रसाल और उनके पुत्र हिरदेशाह दोनों का देहांत हो चुका था। हिरदेशाह के पुत्र सभासिंह पन्ना के राजसिंहासन पर सुशोभित थे। पन्ना के अधीनस्थ भाई बेटे और सरदारों में अपनी अपनी ढाई चावल की खिचड़ी पकना आरंभ हो गया था। अस्तु पेशवा के आज्ञानुसार पंडित गोविंदराव ने उस संपूर्ण भूभाग पर अपना पूरा अधिकार जमा लिया जिसका उल्लेख पन्ना से मिली हुई फर्द में था।

संवत् १७९७ मुताबिक सन् १७४० में बाजीराव पेशवा का देहांत होने पर उसका ज्येष्ठ पुत्र राघोबा पूना का पेशवा हुआ। अपने पिता के अंतिम आज्ञानुसार राघोबा अपने खवासवाल भाई शमशेरबहादुर को उसकी माता के साथ अधिकार में आया हुआ भूभाग उसे दे देना चाहता था परंतु अपनी शक्ति के विपक्षी एक मुसलमान को एक बृहत् भूभाग का शासनाधिकार दे देना नीति के विरुद्ध था इस कारण राघोबा ऐसे प्रयत्न में तत्पर हुआ कि 'जामें रहै

प्रभु की प्रभुता अरु मोर पतिव्रत भंग न होई' अर्थात् शमशेरबहादुर स्वतंत्र शासनाधिकारी हो जाय और निरा मुसलमान होकर अपना अनिष्टकारक न हो।

अस्तु। जब शमशेरबहादुर की अवस्था अट्ठारह बीस वर्ष की हुई तब पूना की राजसभा में यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि शमशेरबहादुर का विवाह कहाँ किया जाय और किस तरह से इसको ठिकाने लगाया जाय। अर्थात् यह कि पन्ना से जितना भूभाग मिला है उसका स्वतंत्र शासनाधिकार देकर इसको यहाँ से बिलकुल अलग कर दिया जाय या हाजिरबासी सरदारों में रखकर इससे समयोचित काम लिया जाय। बहुत कुछ वाद-विवाद के पश्चात् यह निश्चय हुआ कि यदि कोई बुंदेला राजा इसको क्षत्रिय-दास वर्ग में मिला लेना स्वीकार करे तो इसे सागर की बैठक देकर उस देश की सूबेदारी भी दे दी जाय। पन्नावाले इस बात पर सहज ही सहमत हो जायँगे परंतु उनसे शमशेरबहादुर को, समस्पर्द्धी होने के कारण, सहायता के स्थान में हानि पहुँचने की अधिक संभावना है इसलिये चंदेरी के राजा अनुरुद्धसिंह से पूछा जाय। यदि वे इस बात पर राजी हो जायँ तो सारा काम बन जाय।

उपर्युक्त निश्चय के अनुसार चंदेरी के राजा अनुरुद्धसिंह को नीचे लिखे हुए आशय का पत्र लिखा गया—

पेशवा दरबार यह चाहता है 'कि यहाँ के राजभाई शमशेर बहादुर को आप अपना ही भाई समझकर इसकी मुनासिब उचित सहायता मदद करना स्वीकार करें तो इसको सागर की बैठक देकर बुंदेलखंड का सूबेदार कर दिया जाय। यह आपको अपना बड़ा समझकर सदैव आपका आज्ञाकारी रहेगा। संभव है कि पन्ना और जैतपुर के राजा शमशेरबहादुर को अपने में मिला लेने में बहुत जल्द राजी हो जायँ परंतु यह उनका एक खास हिस्सेदार है इस कारण किसी प्रकार दगा की संभावना है। खेद है कि शमशेरबहादुर नाम मात्र मुसलमान होकर भी अब हमारी जाति ब्राह्मणों में नहीं मिल सकता

परंतु राजपूतों में इस बात का चलन है इसलिये आपको लिखा गया है। आशा है कि आप इस बात पर विशेष ध्यान देंगे।

(४)

नर्मदा इस पार के राजा महाराजाओं से और पेशवा से जो पत्र व्यवहार होता था वह सब पंडित गोविंदराव के मारफत होता था अतः पेशवा का उपर्युक्त पत्र भी पूना दरबार से चलकर पहले गोविंदराव के पास आया। साथ ही उसके सहायक मित्रों के पत्र भी पहुँचे कि सरकारी पत्र में क्या मजमून है। पंडित गोविंदराव ने समझ लिया कि इस पत्र की पुष्टि करना आप अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारना है। ज्योंही शमशेरबहादुर सागर पर दखल करेगा त्योंही वह सबसे पहले मेरे ऊपर हाथ साफ करेगा। एक तो पेशवा का भाई दूसरे एक देशस्थ राजा की सहायता पाई फिर उसके सामने मेरी कौन सुनता है। हो न हो इस विषवृक्ष का अंकुर ही न जमने दो। इसी में भला है अस्तु। अपने निश्चय के अनुसार उसने चंदेरी को खरीता ले जानेवाले सरदार को भली भाँति समझा दिया कि उसको राजा से कैसी बात करनी चाहिए।

गोविंदराव के सरदार ने चँदेरी के दरबार में खरीता पेश किया और छरे में मिलने की प्रार्थना की। जब वह छरे (एकांत) में राजा से मिला तब उसने कहा "आप इस पत्र के विषय में कोई ऊहापोह या संकोच न करें; आपको महान् धार्मिक समझकर ही पेशवा साहब ने यह पत्र आपको लिखा है। पेशवा साहब की खुद ऐसी इच्छा नहीं है जैसा कि पत्र में लिखा है। यह तो एक राजनैतिक कौतुक मात्र है। यदि आप इस पत्र के विरोध में कुछ उत्तर देंगे तो पेशवा साहब को कदापि अप्रिय न होगा। भला आप ही विचारिए कि हिंदू मुसलमान का सनातन वैरभाव चला आता है। माना कि आज आप शमशेरबहादुर को सहायता देकर उससे सहायता की आशा करें परंतु कल ही वह दिल्ली के सूबेदारों की मदद लेकर आप की लड़कियाँ माँगने लगेगा तब क्या होगा?"

एक तो राजा अनरुद्धसिंह स्वत: कट्टर वैष्णव थे, दूसरे मरहटे सरदार ने इस प्रकार कुंजी भरी कि उनके मिजाज का पारा एक सौ तीस डिगरी पर पहुँच गया। उन्होंने पेशवा के उक्त पत्र का बड़े कड़े शब्दों में उत्तर दिया। उन्होंने लिखा—

हम राजपूतों में अनेक विवाहिता या रखेल स्त्रियाँ महल में रखने की प्रथा अवश्य है परंतु रखेल स्त्रियों की संतान को जाति में नहीं मिलाते, न पाँत में ले बैठते हैं। इस कारण हम आपके मुसलमान भाई की अपेक्षित सहायता करने में विवश हैं। हमारे मंत्री मुसाहब पंडित पुरोहित सब इस बात के विरोधी हैं। आप एक ओरछे की मिसाल देते हैं सो उन्होंने जो राह चलाई सो पाप की राह है, हम ऐसा नहीं कर सकते। हमारे बड़ों की यह शपथ है कि जो कोई बुंदेला राजा इस गद्दी पर हो लौंडाजाइदा को जाति में न मिलावे न पाँत में बैठाले इस कारण हम आपकी आज्ञा मानने में लाचार हैं इत्यादि—

जब चँदेरी से कोरा उत्तर पाया तब पेशवा को विवश अपने पूर्व विचार स्थगित करके शमशेरबहादुर का विवाह बीजापुर के शाही घराने में कर देना पड़ा। तब से शमशेरबहादुर पेशवा के सरदारों में परिगणित होकर यावज्जीवन पूना में ही रहा।

संवत् १८१७ मुताबिक सन् १७६० ई० में जब गोविंद पंत का देहांत हो गया और पानीपत की लड़ाई में मरहटों का निशान झुक गया तब फिर से एक बार शमशेरबहादुर के स्वतंत्र अधिकार की चरचा ने जोर पकड़ा—परंतु हिंदू मुसलमान के सनातन वैमनस्य के प्रश्न ने फिर से उस बात को दबा दिया और गोविंदराव का भतीजा बालाजी बाबा अपने चचा का उत्तराधिकारी हो गया। परंतु इस समय इतना अवश्य हुआ कि सागर और जालौन खालसा होकर उसकी आमदनी शमशेरबहादुर के पुत्र अलीबहादुर के खर्च को लगा दी गई। अलग रकम वसूल होने में अनेक असुविधाएँ थीं इस कारण संवत् १८२१ में सागर और जालौन फिर से बुंदेलखंड के सूबेदार गंगाधर के अधीन कर दिये गये और बालाजी बाबा ने अपने बहनोई

बेनाजी राव को सागर का हाकिम नियत कर दिया। बेनाजी राव ने अपने बाहुबल से जबलपुर के आस पास का बहुत सा मुल्क दबा लिया।

तवारीखों में स्पष्ट लिखा है कि सागर और नवीन अधिकृत देश पर बेनाजी का अधिकार संवत् १८२६ तक रहा। कारण यह हुआ कि इस समय शमशेरबहादुर का पुत्र अलीबहादुर जवान हो आया था। वह एक होनहार और तेज तर्रार सिपाही था। इधर नवाब वजीर अवध ने जोर पकड़ा और बुंदेलखंड को हड़प कर जाने के लिये मुँह बाया। तब पेशवा दरबार में यह राय तय पाई कि अब इस वक्त काँटे से काँटे को भिड़ा देना उचित है। अर्थात् अलीबहादुर को सागर की जागीर देकर कुल बुंदेलखंड की रक्षा का भार दे दिया जाय। इसी लिये नवाब अलीबहादुर को सेंधिया की फौज के साथ नर्मदा इस पार भेज दिया गया। सागर में आते ही चंदेरी के राजा ने उसका यथोचित स्वागत किया, कारण कि लौंड़ीजाइदा हुआ तो क्या आखिर फिर भी पेशवाओं का भाई भतीजा था। बेनाजी ने इस बात में बहुत कुछ बाधा दी कि चंदेरी के राजा अलीबहादुर से मित्रता न करें परंतु रामचंद्र ने उसकी इस बात पर ध्यान नहीं दिया।

(५)

सागर में रहता हुआ अलीबहादुर चँदेरी के सिवाय ओरछा राज्य से भी राव रसम बढ़ाने लगा। यह बात बेनाजी राव को और भी खटकी। उसने ओरछा के तत्कालीन महाराज विक्रमाजीत को अलीबहादुर के विरुद्ध उभाड़ने की बहुत कुछ कोशिश की परंतु वहाँ से बड़ा ही कड़ा और मुँहतोड़ जवाब पाया।

ओरछा दरबार ने लिखा कि "हमारे नजदीक जैसे अलीबहादुर वैसे तुम। अगर अलीबहादुर हमसे अपना खूनी संबंध मानकर उस तरह से मिलता है तो हमें उसको अपना मानने में कोई आपत्ति नहीं है। हिंदू हो या मुसलमान, जो अपना है सो अपना ही है।"

ओरछा से भी कोरा जवाब पाकर उसने समझ लिया कि अब तो दो दुश्मन एक हो गये। अब यहाँ हमारे पैर नहीं थम सकते। एक तो बुंदेलों की यह आदि भूमि है दूसरे अलीबहादुर इसको अपनी पैतृक संपत्ति समझता है। हम लोग मरहटे अब भी यहाँ विदेशी समझे जाते हैं। यदि दोनों दुशमन मिलकर जोर पकड़ गये तो यहाँ की संपूर्ण प्रजा भी हमारी विरोधिनी हो जायगी और यह भूमि सर्वथा हमारे अधिकार से चली जायगी। इसी सोच विचार में बेनाजी दिन दिन दुबला होने लगा। नींद और भूख ने उसका साथ छोड़ दिया। वह पांडुरोग के बीमार की तरह दिन दूना रात चौगुना पीला पड़ने लगा। उसके हितमित्र अधीनस्थ कर्मचारी घर के लोग इत्यादि कोई भी इस भेद को न जानते थे कि उसे क्या बीमारी है।

कुछ दिनों के बाद बेनाजी के मन की लगी सामने आ गई। पेशवा दरबार से परवाना आ गया कि तुम अपने अधिकार की सब भूमि अलीबहादुर को सौंपकर सेंधिया के लशकर में काम दो। यह पत्र पाते ही बेनाजीरांव अचेत सा हो गया। तब खंडेराव नामक उसके एक वृद्ध खिदमतगार ने कहा "महाराज, आप ऐसे विकल क्यों होते हैं। यह भूमि कभी किसी की नहीं हुई। यह तो वीरों के हाथ का मैल है। आज इतनी भूमि अधिकार से निकल गई तो कल इससे दूनी अधिकार में आ जायगी"। यह सुनकर बेनाजी बोला, 'मुझे भूमि के हाथ से निकलने का दुःख नहीं है, दुःख तो इस बात का है कि जो बुंदेले राजा मेरे इशारे पर बंदर की तरह नाचते थे उन्होंने मेरी बात न मानी, अलीबहादुर को अपना लिया और मुझको कुत्ते की तरह दुतकार दिया। मुझे इस बात की आशंका है कि एक न एक दिन महाराष्ट्र सत्ता यहाँ से सर्वथा उठ जायगी। मैं चाहता हूँ कि येन केन प्रकारेण अलीबहादुर और बुंदेला राजों में खटपट हो जाय तो मेरा हृदय शांत हो!" "बस, इतनी सी बात के लिये इतनी चिंता" खंडेराव ने लापरवाही दिखाते हुए कहा, "आपने पहले से यह बात मुझसे

कही होती तो अब तक न जाने क्या होता। खैर, अब भी कोई चिंता नहीं। देखिए मैं अभी एक तीर से दोनों लक्ष बेधता हूँ"।

"असंभव" बेनाजी ने उत्तर दिया "अच्छा बताओ ऐसा तुमने कौन सा उपाय विचारा है"।

खंडेराव चुपचाप वहाँ से उठकर चला गया। वह दो घंटे बाद एक परचा लिये हुए बेनाजी के पास आया। बेनाजी ने परचे को पढ़कर पूछा "इससे क्या होगा?" खंडेराव बोला "इसी लेख को एक पत्थर पर खुदाकर ऐसी जगह गड़वा देता हूँ कि जहाँ सब लोग देखेंगे। इसका समाचार पाकर चँदेरी का राजा और उसके सलाहकार, कड़ी सौगंद का खयाल करके अली बहादुर से तरह देने लगेंगे। इधर अलीबहादुर इसको चँदेरी के राजा की ही गुप्त कार्रवाई समझकर उसका दुश्मन हो जायगा। इस समय चँदेरी और ओरछे के राजाओं में परस्पर मित्रता का सूत्रपात हो रहा है वह भी नष्ट हो जायगा।"

बेनाजी ने मुस्कराकर कहा "किसी प्रकार संभव है"।

(६)

बेनाजी राव अपने लशकर को लेकर सेंधिया के पास उज्जैन को चला गया। इधर सागर के किले में अलीबहादुर को राज तिलक होने की तैयारियाँ होने लगीं। सारे देश में यह समाचार फैल गया कि बुंदेला कुल शिरोमणि चँदेरी के राजा रामचंद्र अली-बहादुर को राजतिलक करेंगे और अलीबहादुर सागर का राजा होकर अलीराजसिंह के नाम से प्रसिद्ध होगा। कोई कहते थे अब वह मुसलमान से बुंदेला हो जायगा, कोई कहते ऐसा नहीं हो सकता। वह रहेगा तो मुसलमान ही, परंतु नवाब के स्थान में राजा कहलायेगा, इत्यादि इत्यादि जितने मुँह उतनी बातें थीं।

होते होते राजतिलक का मुहूर्त समीप आ पहुँचा। केवल तीन दिन शेष रह गये तब सागर के शहर बाहर एक आम चौरस्ते पर

एक पत्थर गड़ा हुआ देखा गया। उसमें हिंदी अक्षरों में कुछ लिखा हुआ था। जो उस पत्थर को पढ़ता वही चुपचाप आश्चर्य्यान्वित होकर रह जाता। उक्त शिलालेख की चरचा नवाब अलीबहादुर के कानों तक पहुँची। उसने मौके पर आकर और खुद पत्थर के लेख को पढ़कर उसी जगह गड़वा दिया परंतु चँदेरी के राजा रामचंद्र के पास भी शिलालेख संबंधी समाचार पहुँच चुके थे, इसलिये उसने फिर नवाब को तिलक करने का साहस न किया। (देखो शिलालेख पंक्ति ११-१२) अलीबहादुर और चँदेरी के महाराज दोनों में परस्पर इस बात का समझौता हो गया कि यह सब बेनाजी की चाल है इसी से उनमें परस्पर वैमनस्य या झगड़ा तो नहीं हुआ परंतु शुद्धि संस्कार का जो एक नामी निशान खड़ा होनेवाला था वह नहीं हो सका।

आज डेढ़ सौ बरस के बाद उक्त शिलालेख सागर के स्वोडन मिशन के हाते में पाया गया है और वहाँ से ले जाकर अब वह नागपुर के अजायबघर में रखा है। उसी लेख का फोटो नागरीप्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित कराकर बाबू हीरालाल साहब ने अपनी राय दी है। जो कुछ उनकी समझ में आया उन्होंने अपनी राय कायम की और जो हमारी समझ में आया सो हमने लिख मारा। अब दो में से किसकी राय अधिक माननीय हो सकती है इसका निर्णय पाठकों की बुद्धि पर निर्भर है।

उक्त शिलालेख संबंधी चरचा यहाँ समाप्त हो चुका, परंतु इसी सिलसिले में अपनी राय कायम करते हुए बाबू हीरालाल साहब ने लिखा है कि...उदेतसिंह की दूसरी लड़की के लड़के को गद्दी न मिले......परंतु अनरुद्धसिंह का प्रयत्न निष्फल गया, हटेसिंह ने अपने मौसेरे भाई मानसिंह को गोद ले लिया" ये दोनों बातें इतिहास-विरुद्ध हैं। ओरछे की गद्दी पर कभी कोई लड़की का लड़का गोद नहीं लिया गया और न कभी कोई लौंड़ोबच्चे को गोद लेने का प्रयत्न किया गया है। अपने इस कथन की पुष्टि में हम संक्षेप में

ओरछे का इतिहास वर्णन करके यह बतला देना चाहते हैं कि चँदेरी और ओरछा राज में परस्पर क्या संबंध है तथा हटेसिंह और मानसिंह सावंतसिंह के कौन थे।

ओरछा और चँदेरी का परस्पर संबंध

यह तो बाबू हीरालाल साहब ने अपने लेख में लिखा ही है कि चँदेरी और ओरछा दोनों राज ओरछे के तीसरे राजा मधुकरशाह की संतान में हैं। अब बतलाना यह है कि एक राज के दो राज कैसे हुए ? इस प्रश्न का निर्णयकारक सही और निश्चित बात बतलानेवाला कोई भी प्रसंग अब तक के लिखे हुए किसी इतिहास में नहीं पाया जाता परंतु पटियों (बड़वा लोगों) और कवियों की जबानी इस विषय की जो किंवदंतियाँ सुनने में आई हैं वे इस प्रकार हैं,—

चँदेरीराज के मूल पुरुष राजा रामशाह के पक्ष का समर्थक प्रसंग यों है कि राजा मधुकरशाह के सात पुत्र थे। सब भाइयों में बड़पाटवी या टीकाई राजकुमार रामशाह थे। एक समय राजा मधुकरशाह शिकार खेलने गए हुए थे। अपने संगी साथियों से बिछुड़कर अकेले घोड़े पर सवार राजा एक गाँव में जा पहुँचे। जब कि राजा एक संकीर्ण गली में पहुँचे तो उन्होंने देखा कि सामने बीच रास्ते में दो भैंसे लड़ रहे हैं, राजा ने आगे बढ़ने का साहस न करके घोड़े की बाग थाम ली। उसी समय सामने से एक अत्यंत सुंदरी नौजवान लड़की आती हुई देख पड़ी। राजा ने चाहा कि उसे लड़ते हुए भैंसों के पास आने से रोकें परंतु इसके पहले ही वह दौड़कर भैंसों के पास आ गई और उसने दोनों लड़ते हुए भैंसों के सींग पकड़कर अलग अलग कर दिया।

युवती कन्या का रूप लावण्य देखकर राजा मधुकरशाह को जितना आनंद और मोह हुआ उसका बल पौरुष देखकर उन्हें उससे कहीं अधिक आश्चर्य हुआ। राजा ने राजधानी में पहुँचकर उस गाँव को कई गुप्तचर भेजे। उन्होंने समाचार दिया कि वह एक कुलीन बड़गूजर क्षत्रिय की बेटी है, अभी उसका विवाह भी नहीं हुआ है।

इतना आधार पाते ही राजा ने उक्त कन्या के पिता को बुलाया और उससे कहा कि तुम अपनी बेटी का विवाह हमारे साथ कर दो। वह यद्यपि एक साधारण किसान था परंतु उसने बड़े गौरव के साथ उत्तर दिया कि यदि आप मेरी कन्या के पुत्र को राजगद्दी का अधिकार देना स्वीकार करें तो मैं आपकी आज्ञा पालन कर सकता हूँ अन्यथा नहीं। राजा ने किसान की शर्तें पूरी करने का वचन दे दिया और विवाह हो गया। उस रानी के गर्भ से जो बालक जन्मा उसका नाम वीरसिंहदेव रखा गया।

महाराज मधुकरशाह की आंतरिक इच्छा यही थी कि वीरसिंहदेव को अपने अछत युवराज पद दे दिया जाय परंतु राज के संपूर्ण कर्मचारी और सगे संबंधी सरदार लोग रामशाह के पक्ष में थे इस कारण राजा अपनी इच्छा पूर्ण न कर सके। वीरसिंह का जन्म होते ही रामशाह पिता से फड़ते रहने लगे थे, उन्होंने ओरछा का रहना छोड़कर चँदेरी को अपना निवासस्थान नियत कर लिया था। राजा मधुकरशाह का देहांत होते ही रामशाह ने राज पर अधिकार कर लिया परंतु राजधानी चँदेरी में ही रखी।

इधर वीरसिंहदेव, जो अपने को ओरछा राज का सही उत्तराधिकारी समझता था, भाई के अधीन रहने में अपना अपमान समझकर बागी हो गया। उन्हीं दिनों अकबर के पुत्र शाहजादा सलीम ने बगावत का डंका बजाया था। अस्तु वीरसिंहदेव सलीम के लशकर में जा पहुँचा। जब सलीम जहाँगीर के नाम से दिल्ली के तख्त पर बैठा तो उसने रामशाह को चँदेरी की जागीर अलग कर दी और ओरछे की गद्दी पर वीरसिंहदेव को बिठा दिया।

अब वीरसिंहदेव को पाटवी कुमार समर्थन करनेवाली कहानी सुनिए।

राजा मधुकरशाह की पटरानी का नाम गणेश कुँवरि था। वह बड़ी भक्त और धर्मात्मा थीं यहाँ तक कि नाभा जी कृत भक्तमाल में जो १०८ भक्तों के चरित्र गाए गए हैं उनमें से एक श्रीमती रानी

गणेश कुँवरि भी हैं।* इनके सात पुत्र थे, सबसे बड़े यानी पाटवी राजकुमार का नाम वीरसिंहदेव था।

एक समय राजकुमार वीरसिंहदेव अपना शिकारी साज समाज लेकर शिकार खेलने के लिये चले। शिकारी लशकर में शिकारी कुत्तों का भी एक झुंड था। अकसर आबादी के बाहर जंगल के सिवाने (समीप) पहुँचकर शिकारी कुत्तों के बंधन खोल दिये जाते हैं कि वे जंगल में स्वतंत्र विचरते हुए जानवरों को शोध लें। अतः जिस समय वीरसिंहदेव के शिकारी कुत्तों को डोरियों ने छोड़ा उसी समय एक ब्राह्मण भोजन बना रहा था। कुत्तों ने दौड़कर एकदम उस ब्राह्मण को घेर लिया। उसने अपनी रोटियाँ उजड़ जाने के लोभ से कुत्तों को दुतकारा तो वे सब के सब उसी पर टूट पड़े और उन्होंने उस ब्राह्मण के शरीर को धज्जी धज्जी कर डाला। राजकुमार आगे निकल गये थे। उनको इस बात की कुछ भी खबर नहीं थी कि पीछे क्या हो रहा है।

इधर लोगों ने महाराज मधुकरशाह के कानों तक यह समाचार पहुँचाया कि राजकुमार के कुत्तों ने आज एक ब्राह्मण को फाड़ खाया है। यह सुनकर राजा को बड़ा खेद हुआ। वे इस सोच विचार में पड़ गए कि अब क्या करना चाहिए। बहुत कुछ सोच विचार करने पर भी जब राजा का चित्त स्थिर न हुआ तब वह रनिवास में दौड़े गए और रानी से बोले कि आज एक विचित्र बात सुनने में आई है! रानी ने पूछा वह क्या? राजा ने कहा कि किसी गाँव का ठाकुर शिकार खेलने गया था। उसके कुत्तों ने एक ब्राह्मण को जीते जी चोंथ खाया है। भला कहिए तो उस शिकारी की क्या सजा होनी चाहिए? रानी ने उत्तर दिया कि यदि यह पाप-कार्य्य कुत्तों के मालिक की मरजी से हुआ है तो उसके ऊपर भी शिकारी कुत्ते छुड़वाकर उसे चिथवा डालना चाहिए और यदि मालिक के अनजाने उसके नौकरों की गफलत से ऐसा हुआ है तो उसे देशनिकाले की सजा देनी चाहिए।

राजा ने फिर दृढ़ाया—देखो रानी, सोच समझकर कहो। यदि वह ठाकुर तुम्हारा ही कोई सगा संबंधी हो तब ?

सगा संबंधी क्या मेरा पुत्र भी हो तो क्या ? रानी ने गंभीर स्वर में उत्तर दिया। न्याय तो सबके लिये एक ही होता है, जो कह चुकी सो कह चुकी।

तब राजा ने सच्ची कथा कह सुनाई जिसे सुनकर रानी ने कुछ भी पश्चात्ताप प्रगट नहीं किया। कहा, बस मैंने समझ लिया कि मेरे सात नहीं छः ही पुत्र हैं। अब मेरी विनय मानकर वीरसिंह के स्थान में रामशाह को युवराज पद दीजिए और उसे निकाल बाहर कीजिए।

राजा ने उसी समय वीरसिंहदेव के पास आज्ञा भेजी कि अमुक अपराध के कारण तुमको देशनिकाले का दंड दिया गया है। पिता की आज्ञा स्वीकार करके फिर वीर वीरसिंहदेव लौटकर ओरछे को न आए। उलटे पैरों प्रयागराज को गंगास्नान करने चले गए। उसी समय अकबर के पुत्र सलीम ने बागी होकर प्रयाग के किले पर अधिकार कर लिया था। वीरसिंहदेव ने सलीम के पास जाकर अपना हाल सुनाया। सलीम ने वीरसिंह को आश्वासन देते हुए कहा कि यदि तुम वजीर आजम अबुल-फजल का सर काटकर मेरे पास लाओ तो मैं तुमको ओड़छे की गद्दी पर बिठा दूँगा। वीरसिंहदेव ने सलीम की आज्ञा पालन की। दक्षिण से दिल्ली को जाते हुए आंतरी मुकाम पर अबुल फजल को मारा और उसका सर उतारकर सलीम को नज़र किया। कुछ दिनों के बाद जब अकबर दूसरी दुनिया का मुसाफिर हुआ तब सलीम ने दिल्ली के तख्त पर बैठकर सबसे पहले वीरसिंहदेव को ओरछे की गद्दी पर बिठाया।

दो में से कौन बड़ा है ? रामशाह या वीरसिंह सो तो भगवान् जाने परंतु यह बात सर्वसिद्ध प्रमाणित है कि चँदेरी राज का मूल पुरुष रामशाह पहले ओरछे की गद्दी पर बैठा और फिर पदच्युत होकर

और चँदेरी के राज का स्वामी हुआ। इस दशा में चँदेरी के राजाओं का ओरछे की गद्दी के लिये दावेदार होना एक स्वाभाविक बात है परंतु राजा रामशाह ने अपने जीते जी कभी ओरछे की गद्दी के लिये दावा नहीं किया। रामशाह के पंती देवीसिंह ने शाहजहाँ बादशाह के राजकाल में मौका पाकर अवश्य ऐसा जोर मारा कि वह कुछ दिनों के लिये ओरछे की गद्दी पर बैठ गया। परंतु ओरछा राज के भाई बेटे तथा राजकर्मचारियों ने उसे स्वीकार नहीं किया। इसके बाद चँदेरी के राजा रामचंद्र ने परोक्ष आक्रमण करके मरहटों को ओरछा राज पर चढ़ा दिया जिससे ओरछा राज को बहुत हानि पहुँची।

इस प्रकार चँदेरीवालों ने ओरछे पर दो तीन बार आक्रमण किये परंतु शिलालेख से संबंध रखनेवाले नीच उपाय के अवलंबन का कोई प्रमाण इतिहास में नहीं पाया जाता। इस बात की पुष्टि के लिये ओरछे का इतिहास देखिए।

ओरछे का इतिहास

रियासत ओरछा यां टेहरी, जिसे अब टीकमगढ़ कहते हैं, संपूर्ण बुंदेला वंश की मूल भूमिका है और अन्य सब रियासतें इसी की शाखा प्रशाखा मात्र हैं। ओरछा राजधानी होने के पूर्व गढ़ कुँडार में बुँदेलों की राजधानी थी। संवत् १५३१ में महाराज प्रतापरुद्र ने नष्टप्राय प्राचीन ओरछा नगर का पुनरुद्धार करके इसे अपनी राजधानी बनाया। राजा प्रतापरुद्र के बारह बेटे थे जिनमें से तीन निःसंतान रहे, शेष नौ की संतान सारे बुँदेलखंड में फैली हुई है। प्रतापरुद्र के बाद उनका आठवाँ राजकुमार भारथीचंद ओरछे का राजा हुआ। वह निःसंतान स्वर्गवासी हुआ तब उसका छोटा भाई मधुकरशाह गद्दी पर बैठा। राजा मधुकरशाह के सात पुत्र हुए। पहले ज्येष्ठ कुमार रामशाह ओरछे की गद्दी पर बैठे, तत्पश्चात्, जैसा कि पहले वर्णन हो चुका है, दिल्ली के बादशाह जहाँगीर की कृपा से वीरसिंहदेव ओरछे के राजा हुए और रामशाह

चँदेरी के राजा होकर अलग राज करने लगे। राजा वीरसिंहदेव अपनी दानवीरता के लिये प्रसिद्ध हैं। इन्होंने मथुरा जी में विश्राम घाट पर ८१ मन स्वर्णदान किया था। इनके दान के विषय में यह दोहा कहा जाता है—

बलि बोई कीरति जमी करन किये दो पात।
सींचो बिरसिंह देव ने जब देखी कुम्हलात॥

राजा वीरसिंहदेव के बारह पुत्र थे। इन्होंने अपने जीते जी पाटवी राजकुमार जुझारसिंह को युवराज पद देकर बाकी सबको अलग अलग जागीरें लगा दीं। सबों ने अपनी अपनी जागीरों पर दखल किया परंतु सब भाइयों में छोटे कुँवर हरदौल ने जागीर लेने से नाहीं कर दी। उन्होंने पिता से सविनय प्रार्थना की कि सब भाई अपने अपने ठिकानों के मालिक हो गये हैं अंततः राजा की सेवा के लिये भी तो कोई चाहिए। मुझको मेरे बड़े भाई रोटी कपड़ा जो कुछ देंगे उसी में संतुष्ट रहकर उनकी सेवा करूँगा। राजा वीर-सिंहदेव ने कुँवर की इस विनीत प्रार्थना पर प्रसन्न होकर सिर्फ एक गाँव (बड़ा गाँव) उनको जेब खर्च के लिये दिया और यह कहा कि जब कभी राज की मूल शाखा निःसंतान हो तो तुम्हारी ही संतान को इस राज का उत्तराधिकार प्राप्त होगा।

निदान महाराज वीरसिंहदेव के स्वर्गवासी होने पर जुझार-सिंह ओरछा की गद्दी पर बैठे। कालांतर में जुझारसिंह को बाद-शाह के आज्ञानुसार दक्षिण देश की मुहिम पर जाना पड़ा। राजा की अनुपस्थिति में कुँवर हरदौल राजकाज करने लगे। कुँवर हरदौल का इतना कड़ा और सच्चा प्रबंध था कि अन्य राजकर्म-चारी राजा की अनुपस्थिति में अपेक्षित लाभ नहीं उठा सकते थे इस कारण वे सब प्राणपन से कुँवर हरदौल के विरोधी हो गये, राजकाज में तो उनको कोई ऐसी त्रुटि न मिली जिसके द्वारा वे भाइयों भाइयों में खटपट करा सकते पर उन लोगों ने एक नटखट षड्यंत्र रचकर जुझारसिंहजी को लिखा कि कुँवर हरदौल का

महारानी से कुछ अनुचित संबंध है। एक ने यह शिकायत लिखी। दूसरे उसके गवाह बन गये। राजा जुझारसिंह को इस बात पर सहसा विश्वास तो नहीं हुआ परंतु उन्होंने परीक्षा लेने की इच्छा से रानी को लिख भेजा कि तुम इस पत्र को देखते ही कुँवर हरदौल को विष दे दो। रानी ने बिना किसी संकल्प विकल्प के पति की आज्ञा पालन की और कुंवर हरदौल परिकर समेत विष-पान करके स्वर्ग-वासी हुए। उस समय कुँवर हरदौल की ठकुरानी की गोद में एक बालक था, उसे लेकर वह बड़ेगाँव में रहने लगी।

जुझारसिंह ने परीक्षा तो ले ली परंतु अंत में वह अपनी मूर्खता पर बहुत पछताये। जुझारसिंह पर इस घटना का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह पागल से हो गये, उनको उचित अनुचित का ज्ञान न रहा, इस समय दिल्ली से जो आज्ञापत्र उनके नाम आते वे उनकी अवहेलना करके बादशाह को ऊटपटांग उत्तर देने लगे, परिणाम यह हुआ कि बादशाही सेना ओरछे पर चढ़ आई। यथासंभव जुझारसिंह ने शाही सेना का मुकाबला किया परंतु अंत में वे सपरिवार दक्षिण की ओर भाग गये। ओरछे पर बादशाही सेना का अधिकार हो गया।

यह सुअवसर पाकर चँदेरी के राजा देवीसिंह ने शाही दरबार में ओरछे की गद्दी के लिये अपना दावा पेश किया। उन दिनों दिल्ली के सिंहासन पर शाहजहाँ था। उसने देवीसिंह की प्रार्थना पर ध्यान देकर उसे ओरछे का राजा बना दिया परंतु यह राजसी नाम मात्र के लिये थी क्योंकि एक तो ओरछा राज की प्रजा और भाई बेटे किसी ने भी देवीसिंह को अपना राजा होना स्वीकार नहीं किया, दूसरे राजा देवीसिंह तो कठपुतली की तरह किले में बैठा रहता था और शाही सेना-पति राजमहलों में रहकर पूरे राजसी ठाटबाट से हुकूमत करता था।

ओरछा राज की यह दुर्दशा होते देख जुझारसिंह के छोटे भाई पहाड़सिंह ने ओरछे की गद्दी के लिये अपना दावा पेश किया।

पहाड़सिंह से छोटे भाई भगवानदास (जो दतिया राज के मूल व्यवस्थापक हैं) पहले से ही देहली के दरबार में रहते थे। वे बादशाह के कृपापात्र भी थे इसी वसीले और सिफारिश से पहाड़सिंह की पहुँच शाहजहाँ के दरबार तक हो गई।

इधर छत्रसाल के पिता राव चंपतराय ने शाही सेनापति को परेशान करना प्रारंभ किया। इन्होंने एक तरफ से रैयत को देवीसिंह के विरुद्ध उभाड़ा, दूसरी ओर से रात को छापे मार मारकर सेनापति की सेना और सामग्री को वे हानि पहुँचाने लगे। इसी सिलसिले में एक बड़ी विचित्र घटना हुई जो प्रसंग-विहित होने पर भी केवल मनोरंजन के लिये यहाँ लिखते हैं।

ओरछा में उन दिनों इस बात की चरचा बड़े जोरों से थी कि कुँवर हरदौल प्रेत होकर महलों में ही रहते हैं, परंतु शाही सेनापति को इस बात पर किंचित् विश्वास नहीं था। वह निर्भीकता के साथ संपूर्ण राजसी वस्तुओं को अपने बर्ताव में लाता था। उससे बहुत कुछ कहा गया कि इसमें राज का अपमान होता है, आपको ऐसा न करना चाहिए पर वह किसी की कब सुनता था। उसके जी में जो कुछ आता वही करता था।

एक दिन की बात है कि शाही सेनापति एक कमरे में अकेला पड़ा सो रहा था। सबेरे जब वह जागा तो एक कागज का टुकड़ा उसने अपने सरहाने रखा पाया। उस परचे में लिखा था—

"यह महल हम प्रेतों का निवासस्थान है। तुम इस जगह को छोड़कर चले जाओ नहीं तो तुम्हारे प्राण नहीं बचेंगे। सावधान!!" सूबेदार ने उस परचे को फाड़कर फेक दिया। दूसरे दिन ठीक आधी रात के समय, जब कि सूबेदार गहरी नींद में सो रहा था, सत्रह भयानक-भेष पिशाच नंगी तलवारें लिये हुए सूबेदार के शयनागार में घुस आये। एक ने तलवार की नोक सूबेदार की छाती पर रखकर ललकारा "होशियार हो जा, हम आ गये, तूने हमारा हुक्म नहीं माना। देख अब तुझको जीते जी निगल जाते हैं।"

सूबेदार घबड़ाकर जागा तो उसने देखा कि बहुत से पिशाच, जिनके काले पीले लाल अनेक रंग के चेहरे हैं और बड़े बड़े बाल एड़ियां तक लटक रहे हैं, उसे चारों ओर से घेरे हुए क्रूर दृष्टि से उसकी ओर देख रहे हैं। सूबेदार ने उठकर कमरे से बाहर भागना चाहा परंतु बाहर जाने के सब रास्ते बंद थे। उसने पहरेवालों को पुकारा चिल्लाया परंतु कहीं किसी ने नहीं सुना। अंत में वह पिशाच नेता के पैरों पर गिर पड़ा और प्रार्थना की "अब की जान माफ पाऊँ। जो हुकम हो सो बजा लाऊँ"। इसके उत्तर में पिशाच-प्रधान ने कहा "तुम सबेरा होते ही यहाँ से दिल्ली को चले जाओ और यहाँ के उचित उत्तराधिकारी पहाड़सिंह को गद्दी दिलाने की सिफारिश करो। यदि तुमने इसके विरुद्ध किया तो याद रक्खो दिल्ली में भी तुम्हारी कुशल नहीं है।" सूबेदार ने पिशाच नेता की आज्ञा शिरोधार्य्य की। सब पिशाचों ने सूबेदार पर एक दम फूकें मारीं जिससे वह बेहोश हो गया और सब पिशाच उसी जगह अंतर्ध्यान हो गये।

वास्तव में ये प्रेत पिशाच कोई नहीं थे। राव चंपतराय अपने अंतरंग मित्र कई बुंदेले सरदारों समेत पिशाच बनकर महलों में पैठ गये थे। उनको वे गुप्त मार्ग मालूम थे जो मुसलमान सूबेदार नहीं जानता था। सबेरा होते ही सूबेदार दिल्ली को चला गया और उसने पहाड़सिंहजी को ओरछे की गद्दी दिलाने में यथासाध्य सहायता दी।

तात्पर्य यह कि ऐसी कई बातें इकट्ठी होने से उन सबके परिणाम में पहाड़सिंहजी ओरछा के राजा हो गये। संवत् १७१० मुताबिक सन् १६५३ ई० में पहाड़सिंहजी का देहांत होने पर उनके पुत्र सुजानसिंह गद्दी पर बैठे। सुजानसिंह १९ वर्ष राज करके निःसंतान स्वर्गवासी हुए तब उनके छोटे भाई इंद्रमणि ओरछे के राजा हुए किंतु केवल तीन वर्ष राज करके जब वे भी निःसंतान चल बसे तब इनकी रानी ने कुँवर हरदौल के पंती कुँवर उदेतसिंह को गोद लेकर ओरछे की गद्दी पर बिठाया। उदेतसिंह छः भाई थे जिनमें उदेतसिंह के दो पुत्र थे, एक पाटवी राजकुमार पृथ्वीसिंह

दूसरे दासी-पुत्र दिवान अमरेस। उदेतसिंह के छोटे भाई रायसिंह के आठ पुत्र थे। इन सबको उदेतसिंहजी ने अलग अलग जागीरें लगा दी थीं। वे जागीरें अब भी आबाद हैं और वे जागीरदार लोग अठगढ़िया जागीरदार कहे जाते हैं। उदेतसिंह ने शाही दरबार में अच्छी इज्जत पाई थी। इन्होंने राज का भी बहुत कुछ सुधार किया था। संवत् १७९३ मुताबिक सन् १७३६ में उदेतसिंह का देवलोक होने पर इनके पाटवी राजकुमार पृथ्वीसिंह ओरछे के राजा हुए। इनके राजकाल में शाही सलतनत बहुत कमजोर पड़ गई। मरहटों का उदय हुआ। संवत् १८०२ मुताबिक सन् १७४५ में मरहटों ने ओरछा राज के कुछ परगने दबाकर झाँसी की एक रियासत अलग कायम कर ली।'

ध्यान रहे कि इस समय शिलालेख में लिखे हुए अनरुद्धसिंह के पिता मानसिंह चँदेरी के राजा थे। चँदेरीराज मरहटों का पूर्ण मित्र था। यह मित्रता यहाँ तक निभी कि सन् १८५७ में मरहटों का साथ देते हुए चँदेरी राज नष्ट हो गया। मरहटों द्वारा झाँसी की रियासत कायम होने के एक ही वर्ष बाद अनरुद्धसिंह चँदेरी की गद्दी पर बैठे और एक वर्ष राज करके ही वे स्वर्गवासी हुए।

ओरछे के राजा पृथ्वीसिंह के पुत्र का नाम गंधर्वसिंह था। ये पिता के ही सामने मर गये। इस कारण संवत् १८०९ में पृथ्वीसिंह का देहांत होने पर गंधर्वसिंह के पुत्र सावंतसिंह ओरछे की गद्दी पर बैठे। सावंतसिंह तेरह वर्ष राज करके निःसंतान स्वर्गवासी हुए। तब पृथ्वीसिंह की रानी हरवंस कुँवरि ने उदेतसिंह के भाई रायसिंह की संतान में विजना के जागीरदार जगतराज के कुँवर भारतीचंद को गोद लिया। ये संवत् १८२२ में ओरछे की गद्दी पर बैठे और ग्यारह वर्ष राज करने के बाद यह भी पुत्रहीन अवस्था में स्वर्गवासी हुए। तब इनके सगे भाई विक्रमादित्य संवत् १८३३ में ओरछे की गद्दी पर बैठे। जिस समय कंपनी सरकार ने बुँदेलखंड में पदार्पण किया उस समय विक्रमादित्य ही ओरछे की गद्दी पर थे।

यहाँ यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि जिस समय संवत् १८२६ में उक्त शिलालेख लिखा गया उस समय ओरछा राज में उत्तराधिकार संबंधी कोई झगड़ा नहीं चल रहा था। यह अनुमान किसी प्रकार संभव है कि संवत् १८३३ में जब भारतीचंद के बाद विक्रमाजीत गोद लिये गए उस समय का शिलालेख हो और गुमनाम या लापता करने के लिये पिछली तारीख डाल दी गई हो परंतु ओरछे में जो गोद आए उनमें से कभी कोई लड़की का लड़का अन्य गोत्रज नहीं था और न कभी किसी हजूरी या गुलामजाइदा ने राजगद्दी के लिये दावा पेश किया है।

विक्रमादित्य के पुत्र का नाम कुँवर धरमपाल था। यह कुँवर-पद में ही स्वर्गवासी हुए तब अपने अंतिम समय में उन्होंने अपने सगे भाई तेजसिंह को गोद लिया। तेजसिंह गद्दी पर बैठने के समय स्वयं वृद्ध थे। इनकी कोई संतान भी न थी इस कारण अपने अंतिम समय में उन्होंने अपने चचेरे भाई हृदेशाह के पुत्र सुजानसिंह को गोद लिया। परंतु सुजानसिंह से और कुँवर धरमपाल की विधवा रानी से विरोध हो गया। दैवात् सुजानसिंह भी ऐन जवानी में मर गये तब रानी ने उपर्युक्त उदेतसिंहजी के तीसरे भाई भगवंतसिंहजी की संतान में से कुँवर हमीरसिंह को गोद लिया। हमीरसिंहजी थोड़े ही दिनों राज करके स्वर्गवासी हुए तब उनके सगे भाई प्रतापसिंहजी ओरछे की गद्दी पर बैठे।

श्रीमान् महेंद्र महाराजा प्रतापसिंहजी साहब इस समय ओरछा राज के वर्तमान शासक हैं। इस लेख में बहुत सी ऐसी बातें पाई जायँगी जो अब तक किसी इतिहासज्ञ ने न देखी सुनी होंगी। वे रहस्यपूर्ण घटनायें श्रीमान् महेंद्र महाराजा साहब की ही बतलाई हुई हैं।

सागर में पाये गये शिलालेख के संबंध में जो कुछ भी हमारे स्वतंत्र विचार हैं वे सब हम इस लेख में व्यक्त कर चुके हैं। अब दो एक बातें विज्ञप्ति विशेष के तौर पर लिखकर हम इस लेख को पूर्ण

करना चाहते थे, परंतु इसी अवसर पर हमको कई ऐसी प्रामाणिक घटनाओं का वर्णन मिला है जिनसे लेख में प्रकाशित हमारा अनुमान कोरा अनुमान ही नहीं सर्वथा सत्य और प्रामाणिक सिद्ध होता है-किंतु लेख बढ़ जाने के भय से हमने अपनी कलम को यहीं रोक दिया है। यदि प्रस्तुत लेख विद्वानों के निकट कुछ भी प्रयोजनीय समझा जायगा तो किसी अन्य संख्या में इसी संबंध में और भी लेख पाठकों के सम्मुख पेश किया जायगा।

(७) हिंदी साहित्य का पूर्व मध्यकाल

[लेखक—पंडित रामचंद्र शुक्ल, काशी]

देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव, अभिमान और उत्साह के लिये वह अवकाश न रह गया। उनके सामने ही उनके देवमंदिर गिराए जाते थे, देवमूर्त्तियों और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। अपने पौरुष से हताश जाति के लिये भगवान् की शक्ति और करुणा को ध्यान में लाने के अतिरिक्त सांत्वना का दूसरा मार्ग ही क्या था? काल के प्रतिनिधि कवि जनता के हृदय को सँभालने और लीन रखने के लिये भक्ति का एक नया मैदान खोलने लगे। क्रमशः भक्ति का प्रवाह ऐसा विस्तृत और प्रबल होता गया कि उसकी लपेट में केवल हिंदू जनता ही नहीं, देश में बसनेवाले सहृदय मुसलमानों में से भी न जाने कितने आ गए। प्रेम-स्वरूप ईश्वर को सामने लाकर भक्त कवियों ने हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को मनुष्यता के एक सामान्य रूप में दिखाया और भेदभाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया।

भक्ति का जो सोता दक्षिण की ओर से धीरे धीरे उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्त्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय-क्षेत्र में फैलने के लिये पूरा स्थान मिला। रामानुजाचार्य्य (संवत् १०७३) ने शास्त्रीय पद्धति से जिस भक्ति का निरूपण किया था उसकी ओर जनता आकर्षित होती चली आ रही थी।

गुजरात में स्वामी माध्वाचार्य्य जी (संवत् १२५४-१३३३) ने अपना द्वैतवादी वैष्णव संप्रदाय चलाया जिसकी ओर बहुत से लोग झुके। देश के पूर्वभाग में जयदेव जी के कृष्णप्रेम-संगीत की गूँज चली आ रही थी जिसके सुर में मिथिला के कोकिल (विद्यापति) ने अपना सुर मिलाया। उत्तर या मध्यभारत में एक ओर तो ईसा की १५ वीं शताब्दी में रामानुजाचार्य्य की शिष्य-परंपरा में स्वामी रामानन्द हुए जिन्होंने विष्णु के अवतार राम की उपासना पर जोर दिया और एक बड़ा भारी संप्रदाय खड़ा किया, दूसरी ओर वल्लभाचार्य्य ने प्रेममूर्ति कृष्ण को लेकर जनता को रसमग्न किया। इस प्रकार रामोपासक और कृष्णोपासक भक्तों की परंपरा चली जिसमें आगे चलकर हिंदी काव्य को प्रौढ़ता पर पहुँचानेवाले जगमगाते रत्नों का विकास हुआ।

एक ओर तो प्राचीन सगुण उपासना का यह काव्य क्षेत्र तैयार हुआ, दूसरी ओर मुसलमानों के बस जाने से देश में जो नई परिस्थिति उत्पन्न हुई उसकी दृष्टि से हिंदू मुसलमान दोनों के लिए एक "सामान्य भक्तिमार्ग" का विकास भी होने लगा। यह सामान्य एकेश्वरवाद का एक अनिश्चित स्वरूप लेकर खड़ा हुआ, जो कभी ब्रह्मवाद की ओर ढलता था और कभी पैगंबरी खुदावाद की ओर। यह "निर्गुण पंथ" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसकी ओर ले जानेवाली सबसे पहली प्रवृत्ति जो लक्षित हुई वह ऊँच नीच और जाति पाँति के भाव का त्याग और ईश्वर की भक्ति के लिये मनुष्य मात्र के समान अधिकार का स्वीकार था। जिस प्रकार इस भाव का सूत्रपात वंगदेश में चैतन्य महाप्रभु द्वारा हुआ उसी प्रकार महाराष्ट्र और मध्यदेश में नामदेव और रामानंद जी द्वारा हुआ। यद्यपि महाराष्ट्र देश में नामदेव का जन्मकाल शक संवत् ११९२ प्रसिद्ध है पर उनकी रचनाओं को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे मुसलमानों के आकर बसने के बहुत दिन पीछे, रामानंदजी के समय में या उसके कुछ पहले, हुए। ये दक्षिण के नरसी

बमनी सतारा जिला नामक स्थान के रहनेवाले दरजी थे। इनकी भक्ति के अनेक चमत्कार भक्तमाल में लिखे हैं जैसे, ठाकुरजी का इनके हाथ से दूध पीना, अविंद नागनाथ के शिवमंदिर के द्वार का इनकी ओर घूम जाना इत्यादि। इनके माहात्म्य ने यह सिद्ध कर दिखाया कि भक्तिमार्ग में 'जाति पाँति पूछै नहिं कोई। हरि का भजै सो हरि का होई''। यद्यपि ये सगुणोपासक और मूर्त्तिपूजक थे, शिव आदि रूपों में भी ईश्वर की भक्ति करते, गणिका, गीध, अजामिल, शबरी, केवट आदि की सुगति के गीत गाते तथा अव-तारों की वंदना करते थे—

अंबरीष को दियो अभयपद, राज विभीषन अधिक करयो।
नव निधि ठाकुर दई सुदामहिं, ध्रुव जो अटल अजहूँ न टरयो॥
भगत हेत मारयो हरनाकुस नृसिंह रूप ह्वै देह धरयो।
नामा कहै भगति-बस केसव अजहूँ बलि के द्वार खरो॥

पर मुसलमानों के अत्याचार से पीड़ित होकर, उन्होंने स्थान स्थान पर मुसलमानों को 'राम रहीम' की एकता समझाने के लिये ब्रह्मज्ञान आदि भी कहा है जैसे—

आपुन देव, देहरा आपुहि आपु लगावै पूजा।
जल तें तरंग, तरंग ते है जल, कहन सुनन को दूजा॥
आपुहि गावै आपहि नाचै आपु बजावै तूरा।
कहत नामदेव तू मेरो ठाकुर जन ऊरा तू पूरा॥

इससे निर्गुणवादी भी अपनी परंपरा के आदि में इनका नाम लेते हैं। गुरु नानक ने अपने ग्रंथ साहब में इनके बहुत से पद उद्धृत किए हैं। नामदेव ने बड़ी भक्ति के साथ भगवान की अव-तार-लीला के पद गाए हैं।

दशरथ राय-नंद राजा मेरा रामचंद प्रणवै नामा तत्त्व रस
अमृत पीजै।

× × × × × × × ×

धनि धनि मेघा-रोमावली। धनि धनि कृष्ण ओढ़ काँवली॥

धनि धनि तू माता देवकी जिहि गृह रमैयां कँवलापती ॥
धनि धनि बनखंड बृंदाबना, जहँ खेलैं श्रीनारायना ॥
बेनु बजावैं, गोधन चारैं नामे का स्वामी आनंद करै ॥

पर कहीं कहीं अक्खड़ी बोली में ज्ञानचर्चा भी की है जिसका अनुकरण कबीर आदि निर्गुण-पंथियों ने किया।

माइ न होती बाप न होता, कर्म न होती काया।
हम नहिं होते, तुम नहिं होते कौन कहाँ तें आया ॥
चंद न होता सूर न होता पानी पवन मिलाया।
शास्त्र न होता वेद न होता करम कहाँ तें आया ॥

× × × × × × ×

पांडे तुम्हरी गायत्री लोधे का खेत खाती थी।
लै करि ठेंगा टँगरी तोरी लंगत लंगत आती थी ॥
पांडे तुम्हरा महादेव धौले बलद चढ़ा आवत देखा था।
पांडे तुम्हरा रामचंद सो भी आवत देखा था ॥
रावन सेंती सरबर होई घर की जोय गँवाई थी।
हिंदू अंधा, तुरुका काना दुहौ ते ज्ञानी सयाना ॥
हिंदू पूजै देहरा मुसलमान मसीत।
नामा सोई सेविया जहँ देहरा न मसीत ॥

इन्होंने फारसी शब्दों और वाक्यों से भरे पद भी कुछ कहे हैं जैसे—

दरियाव तू, दिहंद तू बिसियार तू धनी।
देहि लेहि एक तू दीगर कोई नहीं ॥

नामदेव की रचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'निर्गुण पंथ' के लिये मार्ग दिखानेवाले भी सगुणोपासक दो रंगी भक्त थे जो कभी कभी मौज में आकर ब्रह्मज्ञान का उपदेश भी करते थे। जहाँ तक पता चलता है 'निर्गुण मार्ग' के प्रधान प्रवर्त्तक कबीर-दास ही थे जिन्होंने एक ओर तो स्वामी रामानंद जी के शिष्य होकर भारतीय अद्वैतवाद की कुछ स्थूल बातें ग्रहण कीं और दूसरी ओर कुछ सूफ़ी फकीरों के संस्कार प्राप्त किए। इसी से इनके तथा 'निर्गुण-

वाद'वाले और दूसरे संतों के वचनों में कहीं भारतीय अद्वैतवाद की झलक मिलती है, कहीं सूफियों के प्रेमतत्त्व की और कहीं पैगंबरी कट्टर खुदावाद की। अतः तात्त्विक दृष्टि से न तो हम इन्हें पूरे अद्वैतवादी कह सकते हैं और न एकेश्वरवादी। दोनों का मिला जुला भाव इनकी बानी में मिलता है। इनका लक्ष्य एक ऐसी सामान्य भक्ति-पद्धति का प्रचार था जिसमें हिंदू और मुसलमान दोनों योग दे सकें और भेदभाव का कुछ परिहार हो। बहुदेवोपासना, अवतार और मूर्तिपूजा का खंडन ये मुसलमानी जोश के साथ करते थे और मुसलमानों की कुरबानी (हिंसा), नमाज, रोजा आदि की असारता दिखाते हुए ब्रह्म, माया, जीव, अनहद नाद, सृष्टि, प्रलय आदि की चर्चा पूरे हिंदू ब्रह्मज्ञानी के रूप में करते थे। सारांश यह कि ईश्वर-पूजा की उन भिन्न भिन्न बाह्य विधियों पर से ध्यान हटाकर, जिनके कारण धर्म में भेदभाव फैला हुआ था, ये शुद्ध ईश्वरप्रेम और सात्विक जीवन का प्रचार करना चाहते थे।

इस प्रकार देश में सगुण और निर्गुण के नाम से भक्तिकाव्य की दो धाराएँ विक्रम की १५ वीं शताब्दी के अंतिम भाग से लेकर १७ वीं शताब्दी के अंत तक समानांतर चलती रहीं। भक्ति के उत्थान-काल के भीतर हिंदी भाषा की कुछ विस्तृत रचना पहले पहल कबीर ही की मिलती है अतः पहले निर्गुण मत के संतों का उल्लेख उचित ठहरता है। यह निर्गुण धारा दो शाखाओं में विभक्त हुई—एक तो ज्ञानाश्रयी शाखा और दूसरी शुद्ध प्रेममार्गी शाखा (सूफियों की)।

पहली शाखा भारतीय ब्रह्मज्ञान को लेकर उपासना-क्षेत्र में अग्रसर हुई और सगुण के खंडन में उसी जोश के साथ तत्पर रही जिस जोश के साथ पैगंबरी मत बहुदेवोपासना और मूर्तिपूजा आदि के खंडन में रहता है। इस शाखा की रचनाएँ साहित्यिक नहीं हैं—स्फुट भजनों या पदों के रूप में हैं जिनकी भाषा और शैली अधिकतर अव्यवस्थित और ऊटपटाँग है। कबीर आदि दो एक प्रतिभासंपन्न संतों को छोड़ औरों में ज्ञानमार्ग की सुनी सुनाई बातों

का पिष्टपेषण भद्दी तुकबंदियों में है। भक्तिरस में मग्न करनेवाली सरसता भी बहुत कम पाई जाती है। बात यह है कि इस पंथ का प्रभाव शिष्ट और शिक्षित जनता पर नहीं पड़ा क्योंकि उसके लिये न तो इस पंथ में कोई नई बात थी, न नया आकर्षण। संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी का वह विकास इस शाखा में नहीं पाया जाता जो शिक्षित समाज को अपनी ओर आकर्षित करता। पर अशिक्षित और निम्न श्रेणी की जनता पर इन संत महात्माओं का बड़ा भारी उपकार है। उच्च विषयों का कुछ आभास देकर, आचरण की शुद्धता पर जोर देकर, आडंबरों का तिरस्कार करके, आत्मगौरव का भाव उत्पन्न कर इन्होंने इसे ऊपर उठाने का स्तुत्य प्रयत्न किया। पाश्चात्यों ने इन्हें जो "धर्मसुधारक" की उपाधि दी है वह इसी बात को ध्यान में रखकर।

दूसरी शाखा शुद्धप्रेममार्गी सूफी कवियों की है जिनकी प्रेम-गाथाएँ वास्तव में साहित्य-कोटि के भीतर आती हैं। इस शाखा के सब कवियों ने कल्पित कहानियों के द्वारा प्रेममार्ग का महत्त्व दिखाया है। इन साधक कवियों ने लौकिक प्रेम के बहाने उस 'प्रेमतत्त्व' का आभास दिया है जो प्रियतम ईश्वर से मिलानेवाला है। इन प्रेम-कहानियों का विषय तो वही साधारण होता है अर्थात् किसी राजकुमार का किसी राजकुमारी के अलौकिक सौंदर्य की बात सुनकर उसके प्रेम में पागल होना और घर बार छोड़कर निकल पड़ना तथा अनेक कष्ट और आपत्तियाँ झेलकर अंत में उस राजकुमारी को प्राप्त करना। पर "प्रेम की पीर" की जो व्यंजना होती है वह ऐसे विश्वव्यापक रूप में होती है कि वह प्रेम इस लोक से परे दिखाई पड़ता है। इन प्रेम-प्रबंधों में खंडन मंडन की बुद्धि को किनारे रखकर मनुष्य के हृदय को स्पर्श करने का ही प्रयत्न किया गया है जिससे इनका प्रभाव हिंदुओं और मुसलमानों पर समान रूप से पड़ता है। बीच बीच में रहस्यमय परोक्ष की ओर जो मधुर संकेत मिलते हैं वे अत्यंत हृदयग्राही हैं। कबीर में जो थोड़ा बहुत रहस्यवाद मिलता

है वह रूखा है। पर इन प्रेम-प्रबंधकारों में जिस रहस्यवाद का आभास बीच बीच में दिया है उसके संकेत अत्यंत सुंदर और मर्म-स्पर्शी हैं। इन्होंने प्रबंधरचना के लिये दो बहुत ही सीधे और साधारण छंद चुने हैं—चौपाई और दोहा। चौपाई-दोहे का यही क्रम आगे चलकर गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी अपने जगत्प्रसिद्ध रामचरितमानस के लिये चुना। शुद्धप्रेममार्गी सूफी कवियों की शाखा में सब से प्रसिद्ध जायसी हुए जिनकी पद्मावत हिंदी काव्य-क्षेत्र में एक अद्भुत रत्न है। इस संप्रदाय के सब कवियों ने पूरबी हिंदी अर्थात् अवधी का व्यवहार किया है जिसमें गोस्वामी तुलसी-दास जी ने अपना रामचरितमानस लिखा है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है; भक्ति के उत्थानकाल के भीतर हिंदी भाषा में कुछ विस्तृत रचना पहले पहल कबीर की ही मिलती है, अतः पहले निर्गुण संप्रदाय की ज्ञानाश्रयी शाखा का संक्षिप्त विव-रण नीचे दिया जाता है जिसमें सर्वप्रथम कबीरदास जी सामने आते हैं।

(क) निर्गुण धारा

(१) ज्ञानाश्रयी शाखा

(१) **कबीर**—इनकी उत्पत्ति के संबंध में अनेक प्रकार के प्रवाद प्रचलित हैं। कहते हैं, काशी में स्वामी रामानंद का एक भक्त ब्राह्मण था जिसकी विधवा कन्या को स्वामी जी ने पुत्रवती होने का आशीर्वाद भूल से दे दिया। फल यह हुआ कि उसे एक बालक उत्पन्न हुआ जिसे वह लहरतारा के ताल के पास फेंक आई। अली या नीरू नाम का एक जुलाहा उस बालक को अपने घर उठा लाया और पालने लगा। यही बालक आगे चलकर कबीरदास हुआ। कबीर का जन्म-काल जेठ सुदी पूर्णिमा सोमवार विक्रम संवत् १४५६ माना जाता है। कहते हैं कि आरंभ से ही कबीर में हिंदू भाव से भक्ति करने की प्रवृत्ति लक्षित होती थी जिसे उसके पालनेवाले माता पिता न दबा सके। वे 'राम राम' जपा करते थे और कभी कभी माथे में तिलक भी लगा लेते थे। इससे सिद्ध होता है कि उस

समय में स्वामी रामानंद के प्रभाव से रामभक्ति का प्रवाह खूब बढ़ रहा था जिससे छोटे बड़े, ऊँच नीच सब तृप्त हो रहे थे। अतः कबीर पर भी भक्ति का यह संस्कार बाल्यावस्था से ही यदि पड़ने लगा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। रामानंद जी के माहात्म्य को सुनकर कबीर के हृदय में उनके शिष्य होने की लालसा जगी। ऐसा प्रसिद्ध है कि एक दिन वे एक पहर रात रहते ही उस (पंचगंगा) घाट की सीढ़ियों पर जा पड़े जहाँ रामानंद जी स्नान करने के लिये उतरा करते थे। स्नान को जाते समय अँधेरे में रामानंद जी का पैर कबीर के ऊपर पड़ गया। रामानंद जी चट बोल उठे "राम राम कहु"। कबीर ने उसी को गुरुमंत्र मान लिया और वे अपने को रामानंद जी का शिष्य कहने लगे। वे साधुओं का सत्संग भी रखते थे और जुलाहे का काम भी करते थे।

कबीरपंथ में मुसलमान भी हैं। उनका कहना है कि कबीर ने प्रसिद्ध सूफी मुसलमान फकीर शेख तकी से दीक्षा ली थी। वे उस सूफी फकीर को ही कबीर का गुरु मानते हैं *। आरंभ से ही

* ऊँजी के पीर और शेख तकी चाहे कबीर के गुरु न रहे हों पर उन्होंने उनके सत्संग से बहुत सी बातें सीखीं इसमें कोई संदेह नहीं। कबीर ने शेख तकी का नाम लिया है पर उस आदर के साथ नहीं जिस आदर के साथ गुरु का नाम लिया जाता है, जैसे, "घट घट है अविनासी सुनहु तकी तुम शेख"। इस वचन में तो कबीर ही शेख तकी को उपदेश देते जान पड़ते हैं। कबीर ने मुसलमान फकीरों का भी सत्संग किया था, इसका उल्लेख उन्होंने किया है। वे झूसी, जौनपुर, मानिकपुर आदि गए थे जो मुसलमान फकीरों के प्रसिद्ध स्थान थे—

मानिकपुर हि कबीर बसेरी। मदहति सुनी सेख तकि केरी॥
ऊजी सुनी जौनपुर थाना। झूँसी सुनि पीरन के नामा॥

पर सबकी बातों का संचय करके भी अपने स्वभावानुसार वे किसी को भी ज्ञानी या बड़ा मानने के लिये तैयार नहीं थे, सबको अपना ही वचन मानने को कहते थे—

सेख अकरदिं सकरदिं तुम मानहु वचन हमार।
आदि अंत औ जुग जुग देखहु दृष्टि पसार॥

कबीर हिंदूभाव की उपासना की ओर आकर्षित हो रहे थे अत: उन दिनों, जब कि रामानंद जी की बड़ी धूम थी, अवश्य वे उनके सत्संग में भी सम्मिलित होते रहे होंगे। जैसा आगे कहा जायगा, रामानुज की शिष्य-परंपरा में होते हुए भी रामानंद जी भक्ति का एक अलग उदार मार्ग निकाल रहे थे जिसमें जातिपाँति का भेद और खानपान का आचार दूर कर दिया गया था। अत: इसमें कोई संदेह नहीं कि कबीर को 'राम नाम' रामानंद जी से ही प्राप्त हुआ। पर आगे चलकर कबीर के 'राम' रामानंद के 'राम' से भिन्न हो गए। अत: कबीर को वैष्णव संप्रदाय के अंतर्गत नहीं ले सकते। कबीर ने दूर दूर तक देशाटन किया और सूफी मुसलमान फकीरों का भी सत्संग किया जिससे उनकी प्रवृत्ति अद्वैतवाद की ओर दृढ़ हुई जिसके स्थूल रूप का कुछ परिज्ञान उन्हें रामानंद जी के सत्संग से पहले था। फल यह हुआ कि कबीर के राम धनुर्धर साकार राम नहीं रह गए, वे ब्रह्म के पर्य्याय हुए—

"दसरथ-सुत तिहुँ लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना"।

सारांश यह कि जो ब्रह्म हिंदुओं की विचार-पद्धति में ज्ञानमार्ग का निरूपण था वह सूफियों के प्रभाव से प्रेम और उपासना का विषय हुआ। यद्यपि कबीर की बानी 'निर्गुण बानी' कहलाती है पर उपासना-क्षेत्र में ब्रह्म निर्गुण नहीं बना रह सकता। सेव्य-सेवक भाव में स्वामी में कृपा, क्षमा, औदार्य्य आदि गुणों का आरोप हो ही जाता है। इसी लिये कबीर के वचनों में कहीं तो निरुपाधि निर्गुण ब्रह्मसत्ता का संकेत मिलता है, जैसे—

पंडित मिथ्या करहु विचारा। ना वह सृष्टि न सिरजनहारा॥
जोति सरूप काल नहिं उहँवा, बचन न आहि सरीरा।
थूल अथूल पवन नहिं पावक रवि ससि धरनि न नीरा॥

कहीं सर्ववाद की झलक मिलती है, जैसे—

आपुहि देवा आपुहि पाती। आपुहि कुल आपुहि है जाती॥

और कहीं भेदयुक्त सोपाधि ईश्वर की, जैसे—

साईं के सब जीव हैं कीरी कुंजर दोय।

सारांश यह कि कबीर में ज्ञानमार्ग की जहाँ तक बातें हैं वे सब हिंदू शास्त्रों की हैं जिनका संचय उन्होंने रामानंद जी के उपदेशों से किया। माया, जीव, ब्रह्म, तत्त्वमसि, आठ मैथुन (अष्ट मैथुन), त्रिकुटी, छः रिपु इत्यादि शब्दों का परिचय उन्हें अध्ययन द्वारा नहीं सत्संग द्वारा ही हुआ, क्योंकि वे जैसा कि प्रसिद्ध है, कुछ पढ़े लिखे न थे। उपनिषद् की ब्रह्मविद्या के संबंध में वे कहते हैं—

तत्त्वमसी इनके उपदेसा। ई उपनीषद कहैं सँदेसा।
जागबलिक औ जनक सँबादा। दत्तात्रेय वहै रस स्वादा॥

यहीं तक नहीं, वेदांतियों के कनक-कुंडल न्याय आदि का व्यवहार भी इनके वचनों में मिलता है—

गहना एक कनक तें, गहना, इन महँ भाव न दूजा।
कहन सुनन को दुइ करि थापिन, इक निमाज इक पूजा॥

इसी प्रकार वैष्णव संप्रदाय से उन्होंने अहिंसा का तत्त्व ग्रहण किया जो कि पीछे होनेवाले सूफी फकीरों को भी मान्य हुआ। हिंसा के लिये वे मुसलमानों को बराबर फटकारते रहे—

दिन भर रोजा रहत हैं राति हनत हैं गाय।
यह तो खून वह बंदगी कैसे खुसी खुदाय॥

अपनी देखि करत नहिं अहमक, कहत हमारे बड़न किया।
उसका खून तुम्हारी गरदन जिन तुमको उपदेस दिया॥

बकरी पाती खाति है ताकी काढ़ो खाल।
जो नर बकरी खात हैं तिनका कौन हवाल॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ज्ञानमार्ग की बातें कबीर ने हिंदू साधु-संन्यासियों से ग्रहण कीं जिसमें सूफियों के सत्संग से उन्होंने 'प्रेमतत्त्व' का मिश्रण किया और अपना एक अलग पंथ चलाया। उपासना के बाह्य-स्वरूप पर आग्रह करनेवाले और कर्मकांड को प्रधानता देनेवाले पंडितों और मुल्लाओं दोनों को उन्होंने खरी खरी

सुनाई और 'राम-रहीम' की एकता समझाकर हृदय को शुद्ध और प्रेममय करने का उपदेश दिया। देशाचार और उपासना-विधि के कारण मनुष्य मनुष्य में जो भेदभाव उत्पन्न हो जाता है उसे दूर करने का प्रयत्न उनकी वाणी बराबर करती रही। यद्यपि वे पढ़े लिखे न थे पर उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी जिससे उनके मुँह से बड़ी चुटीली और व्यंग्य-चमत्कारपूर्ण बातें निकलती थीं। इनकी उक्तियों में विरोध और असंभव का चमत्कार लोगों को बहुत आकर्षित करता था, जैसे,—

है कोउ गुरुज्ञानी जगत महँ उलटि बेद बूझै।
पानी महँ पावक बरै, अंधहि आँखिन्ह सूझै।
गाय तो नाहर को धरि खायो, हरना खायो चीता।

अथवा—

नैया बिच नदिया डूबति जाय।

अनेक प्रकार के रूपकों और अन्योक्तियों द्वारा ही इन्होंने ज्ञान की बातें कहीं हैं, जो नई न होने पर भी वाग्वैचित्र्य के कारण अपढ़ लोगों को चकित किया करती थीं। अनूठी अन्योक्तियों द्वारा ईश्वर-प्रेम की व्यंजना सूफियों में बहुत प्रचलित थी। जिस प्रकार कुछ वैष्णवों में 'माधुर्य' भाव से उपासना प्रचलित थी उसी प्रकार सूफियों में भी ब्रह्म को सर्वव्यापी प्रियतम या माशूक मानकर हृदय के उद्गार प्रदर्शित करने की प्रथा थी जिसको कबीरदास ने ग्रहण किया। कबीर की वाणी में स्थान स्थान पर रहस्यवाद की जो झलक मिलती है वह सूफियों के सत्संग का प्रसाद है। कहीं इन्होंने ब्रह्म को खसम या पति मानकर अन्योक्ति बाँधी है और कहीं स्वामी या मालिक जैसे,—

मुझको क्या तू ढूँढ़े बंदे मैं तो तेरे पास में।

अथवा—

साँई के संग सासुर आई।
संग न सूती, स्वाद न माना, गा जीवन सपने की नाईं।

जना चारि मिलि लगन सुधायो, जना पाँच मिलि माँड़ो छायो।
भयो बियाह चली बिनु दूलह बाट जात समधी समझाई ॥

कबीर अपने श्रोताओं पर यह अच्छी तरह भासित करना चाहते थे कि हमने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है, इसी से वे प्रभाव डालने के लिये बड़ी लंबी चौड़ी गर्वोक्तियाँ भी कभी कभी कहते थे। कबीर ने मगहर में जाकर शरीरत्याग किया जहाँ इनकी समाधि अब तक बनी है। इनका मृत्युकाल संवत् १५७५ माना जाता है जिसके अनुसार इनकी आयु १२० वर्ष की ठहरती है। कहते हैं कि कबीरजी की वाणी का संग्रह उनके शिष्य धर्मदास ने संवत् १५२१ में किया था जब कि उनके गुरु की आयु ६४ वर्ष की थी। कबीरजी की वचनावली की सबसे प्राचीन प्रति, जिसका अब तक पता लगा है, संवत् १५६१ की लिखी है।

कबीर की वाणी का संग्रह बीजक के नाम से प्रसिद्ध है जिसके तीन भाग किए गए हैं—रमैनी, सबद और साखी। इसमें वेदांत-तत्त्व, हिंदू मुसलमानों को फटकार, संसार की अनित्यता, हृदय की शुद्धि, माया, छूआछूत, साधारण उपदेश आदि अनेक फुटकर प्रसंग हैं। भाषा मिली जुली है—खड़ी बोली, अवधी, पूरबी (बिहारी) आदि कई बोलियों का मेल है। ब्रजभाषा का पुट भी कहीं कहीं मिलता है, पर बहुत ही कम। भाषा सुसंस्कृत और साहित्यिक न होने पर भी प्रतिभा का चमत्कार इनकी उक्तियों में स्पष्ट पाया जाता है।

(२) **धर्मदास**—ये बांधवगढ़ के रहनेवाले और जाति के बनिये थे। बाल्यावस्था से ही इनके हृदय में भक्ति का अंकुर था और ये साधुओं का सत्संग, दर्शन, पूजा, तीर्थाटन आदि किया करते थे। मथुरा से लौटते समय कबीरदास के साथ इनका साक्षात्कार हुआ। उन दिनों संत-समाज में कबीर की पूरी प्रसिद्धि हो चुकी थी। कबीर के मुख से मूर्त्तिपूजा, तीर्थाटन, देवार्चन आदि का खंडन सुनकर इनका झुकाव 'निर्गुण संत मत' की ओर हुआ। धीरे धीरे ये कबीर से सत्यनाम की दीक्षा लेकर उनके प्रधान शिष्यों

में हो गए और संवत् १५७५ में कबीरदास के परलोकवास पर उनकी गद्दी इन्हीं को मिली। कहते हैं कि कबीरदास के शिष्य होने पर इन्होंने अपनी सारी संपत्ति, जो बहुत अधिक थी, लुटा दी। ये कबीरदास की गद्दी पर बीस वर्ष के लगभग रहे और अत्यंत वृद्ध होकर इन्होंने शरीर छोड़ा। इनकी शब्दावली का भी संतों में बड़ा आदर है। इनकी रचना थोड़ी होने पर भी कबीर की अपेक्षा अधिक सहृदयतापूर्ण है, उसमें कठोरता और कर्कशता नहीं है। इन्होंने पूरबी भाषा का ही व्यवहार किया है। इनकी अन्योक्तियों के व्यंग-चित्र अधिक मार्मिक हैं क्योंकि इन्होंने खंडन मंडन से विशेष प्रयोजन न रख प्रेमतत्त्व को ही लेकर अपनी वाणी का प्रसार किया है। उदाहरण के लिये कुछ पद नीचे दिए जाते हैं—

झरि लागै महलिया गगन घहराय।
खन गरजै, खन बिजुली चमकै, लहरि उठै, सोभा बरनि न जाय।
सुन्न महल से अमृत बरसै, प्रेम अनंद ह्वै साधु नहाय॥
खुली केवरिया, मिटी अँधियरिया, धनि सतगुरु जिन दिया लखाय।
धरमदास बिनवै कर जोरी, सतगुरु चरन में रहत समाय॥

मितऊ मड़ैया सूनी करि गैलो।
अपन बलम परदेस निकरि गैलो, हमरा के किछुवो न गुन दै गैलो।
जोगिन होइके मैं बन ढूँढ़ौं, हमरा के बिरह-बैराग दै गैलो।
संग की सखी सब पार उतर गइलों, हम धनि ठाढ़ी अकेली रहि गैलों।
धरमदास यह अरज करतु है सार सबद सुमिरन दै गैलो।

(३) **गुरु नानक**—गुरु नानक का जन्म सं० १५२६ कार्त्तिकी पूर्णिमा के दिन तिलवंडी ग्राम जिला लाहौर में हुआ। इनके पिता कालूचंद खत्री जिला लाहौर तहसील शरकपुर के तिलवंडी नगर के सूबा बुलार पठान के कारिंदा थे। इनकी माता का नाम तृप्ता था। नानक जी बाल्यावस्था से ही अत्यंत साधु स्वभाव के थे। सं० १५४५ में इनका विवाह गुरदासपुर के मूलचंद खत्री की कन्या सुल-

चणो से हुआ। सुलचणी से इनके दो पुत्र श्रीचंद और लक्ष्मीचंद हुए। श्रीचंद आगे चलकर उदासी संप्रदाय के प्रवर्त्तक हुए।

नानक जी के पिता ने उन्हें व्यवसाय में लगाने का बहुत उद्योग किया पर वे सांसारिक व्यवहारों में दत्तचित्त न हुए। एक बार इनके पिता ने व्यवसाय के लिये कुछ धन दिया जिसको इन्होंने साधुओं और गरीबों को बाँट दिया। पंजाब में मुसलमान बहुत दिनों से बसे थे जिससे वहाँ उनके कट्टर एकेश्वरवाद का संस्कार धीरे धीरे प्रबल हो रहा था। लोग बहुत से देवी देवताओं की उपासना की अपेक्षा एक ईश्वर की उपासना को महत्त्व और सभ्यता का चिह्न समझने लगे थे। शास्त्रों के पठन-पाठन का क्रम मुसलमानों के प्रभाव से प्रायः उठ गया था जिससे धर्म और उपासना के गूढ़ तत्त्व समझने की शक्ति नहीं रह गई थी। अतः जहाँ बहुत से लोग जबरदस्ती मुसलमान बनाए जाते थे वहाँ कुछ लोग शौक से भी मुसलमान बनते थे। ऐसी दशा में कबीर द्वारा प्रवर्त्तित निर्गुण संत मत एक बड़ा भारी सहारा समझ पड़ा।

गुरु नानक आरंभ ही से भक्त थे अतः उनका ऐसे मत की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक था जिसकी उपासना का स्वरूप हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को समान रूप से ग्राह्य हो। उन्होंने घर-बार छोड़ बहुत दूर दूर के देशों में भ्रमण किया जिससे उपासना का सामान्य स्वरूप स्थिर करने में उन्हें बड़ी सहायता मिली। अंत में कबीरदास की निर्गुण उपासना का प्रचार उन्होंने पंजाब में आरंभ किया और वे सिख-संप्रदाय के आदि गुरु हुए। कबीरदास के समान वे भी कुछ विशेष पढ़े लिखे न थे; भक्तिभाव से पूर्ण होकर जो भजन गाया करते थे उनका संग्रह (संवत् १६६१) ग्रंथसाहब में किया गया है। ये भजन कुछ तो पंजाबी भाषा में हैं और कुछ देश की सामान्य काव्यभाषा हिंदी में हैं। यह हिंदी वही देश की काव्यभाषा या व्रजभाषा है अथवा खड़ी बोली जिसमें कहीं कहीं पंजाबी के रूप भी आ गए हैं जैसे, चल्या, रह्या। भक्ति या विनय

के सीधे सादे भाव सीधी सादी भाषा में कहे गए हैं, कबीर के समान अशिक्षितों पर प्रभाव डालने के लिये टेढ़े मेढ़े रूपकों में नहीं। इससे इनकी प्रकृति की सरलता और अहंभावशून्यता का परिचय मिलता है। संसार की अनित्यता, भगवद्भक्ति और संत-स्वभाव के संबंध में उदाहरण स्वरूप दो पद दिए जाते हैं--

इस दम दा मैंनू कीबे भरोसा, आया आया, न आया न आया।
यह संसार रैन दा सुपना कहीं देखा कहीं नाहिं दिखाया॥
सोच विचार करे मत मन में जिसने ढूँढ़ा उसने पाया।
नानक भक्तन के पद परसे निस दिन रामचरन चित लाया॥

जो नर दुख में दुख नहिं मानै।
सुख सनेह अरु भय नहिं जाके कंचन माटी जानै।
नहिं निंदा नहिं अस्तुति जाके लोभ मोह अभिमाना।
हरष सोक तें रहै नियारो नाहिं मान अपमाना।
आसा मनसा सकल त्यागि कै जगतें रहै निरासा।
काम क्रोध जेहि परसै नाहिंन तेहि घट ब्रह्म-निवासा।
गुरु किरपा जेहि नर पै कीन्हीं तिन यह जुगुति पिछानी।
नानक लीन भयो गोविंद सों ज्यों पानी सँग पानी।

इनका देहांत संवत् १५९६ में हुआ।

(४) **दादू दयाल**—यद्यपि सिद्धांत-दृष्टि से दादू कबीर के मार्ग के ही अनुयायी हैं पर उन्होंने अपना एक अलग पंथ चलाया जो दादू पंथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दादूपंथी लोग इनका जन्म संवत् १६०१ में गुजरात के अहमदाबाद नामक स्थान में मानते हैं। इनकी जाति के संबंध में भी मतभेद है। कुछ लोग इन्हें गुजराती ब्राह्मण मानते हैं और कुछ लोग मोची या धुनिया। कबीर साहब की उत्पत्ति-कथा से मिलती जुलती दादूदयाल की उत्पत्ति-कथा भी दादूपंथी लोग कहते हैं। उनके अनुसार दादू बच्चे के रूप में साबरमती नदी में बहते हुए लोदीराम नामक एक नागर

ब्राह्मण को मिले थे। चाहे जो हो, अधिकतर ये नीची जाति के ही माने जाते हैं। दादूदयाल का गुरु कौन था यह ज्ञात नहीं। पर कबीर का इनकी पदावली में बहुत जगह नाम आया है और इसमें कोई संदेह नहीं कि ये उन्हीं के मतानुयायी थे।

दादूदयाल १४ वर्ष तक आमेर में रहे। वहाँ से मारवाड़, बीकानेर आदि स्थानों में घूमते हुए संवत् १६५९ में नराना में (जयपुर से २० कोस दूर) आकर रह गए। वहाँ से तीन चार कोस पर भराने की पहाड़ी है। वहाँ भी ये अंतिम समय में कुछ दिनों तक रहे और वहीं संवत् १६६० में शरीर छोड़ा। वह स्थान दादूपंथियों का प्रधान अड्डा है और वहाँ उनके कपड़े और पोथियाँ अब तक रखी हैं। और निर्गुणपंथियों के समान दादूपंथी लोग भी अपने को निरंजन निराकार का उपासक बताते हैं। ये लोग न तिलक लगाते हैं न कंठी पहनते हैं, हाथ में एक सुमिरनी रखते हैं और 'सत्तराम' कहकर अभिवादन करते हैं।

इनकी बानी अधिकतर कबीर की साखी से मिलते जुलते दोहों में है, कहीं कहीं गाने के पद भी हैं। भाषा मिली जुली पच्छिमी हिंदी है जिसमें राजस्थानी का मेल भी है। इन्होंने कुछ पद गुजराती, राजस्थानी और पंजाबी में भी कहे हैं। कबीर के समान पूरबी हिंदी का व्यवहार इन्होंने नहीं किया है। इनकी रचना में अरबी फारसी के शब्द अधिक आए हैं। निर्गुण मत की बानियों में खड़ी बोली की क्रियाओं की ओर सामान्यतः अधिक झुकाव पाया जाता है। यह बात दादू की रचना में भी है। दादू की बानी में यद्यपि उक्तियों का वह चमत्कार नहीं है जो कबीर की बानी में मिलता है, पर प्रेम भाव का निरूपण अधिक सरस और गंभीर है। कबीर के समान खंडन और वादविवाद से इन्हें रुचि नहीं थी। इनकी बानी में भी वेही प्रसंग हैं जो निर्गुणमार्गियों की बानियों में साधारणतः आया करते हैं, जैसे, ईश्वर की व्यापकता, सतगुरु की महिमा, जाति पाँति का निराकरण, हिंदू मुसलमानों का अभेद, संसार की अनित्यता,

आत्मबोध इत्यादि। इनकी रचना का कुछ अनुमान नीचे उद्धृत पद्यों से हो सकता है—

घीव दूध में रमि रह्या व्यापक सब ही ठौर।
दादू बकता बहुत हैं मथि काढ़ैं ते और॥
यह मसीत यह देहरा सतगुरु दिया दिखाइ।
भीतर सेवा बंदगी बाहिर काहे जाइ॥
दादू देखु दयाल को सकल रहा भरपूर।
रोम रोम में रमि रह्या तू जनि जानै दूर॥
केते पारिख पचि मुए कीमति कही न जाइ।
दादू सब हैरान हैं गूँगे का गुड़ खाइ॥
जब मन लागे राम सों तब अनत काहे को जाइ।
दादू पाणी लूण ज्यों ऐसै रहै समाइ॥

भाई रे! ऐसा पंथ हमारा।
द्वै पख रहित पंथ गह पूरा अवरण एक अधारा।
बाद विवाद काहु सौं नाहीं मैं हूँ जग तें न्यारा।
सम दृष्टी सूं भाई सहज में आपहि आप बिचारा।
मैं, तैं, मेरी, यह मति नाहीं निरबैरी निरबिकारा।
काम कलपना कदे न कीजे पूरण ब्रह्म पियारा।
एहि पथ पहुँचि पार गहि दादू, सो तत सहज सँभारा॥

(५) **सुंदरदास**—ये खंडेलवाल बनिए थे और चैत्र शुक्ल ९ संवत् १६५३ में द्यौसा नामक स्थान में (जयपुर राज्य) उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम परमानंद और माता का सती था। जब ये ६ वर्ष के थे तब दादूदयाल द्यौसा में गए थे। तभी से ये दादूदयाल के शिष्य हो गये और उनके साथ रहने लगे। संवत् १६६० में दादूदयाल का देहांत हुआ। तब तक ये नराना में रहे। फिर जगजीवन साधु के साथ अपने जन्मस्थान द्यौसा में आ गए। वहाँ संवत् १६६३ तक रहकर फिर जगजीवन के साथ काशी चले आए।

वहाँ तीस वर्ष की अवस्था तक ये संस्कृत व्याकरण, वेदांत और पुराण आदि पढ़ते रहे। संस्कृत के अतिरिक्त ये फारसी भी जानते थे। काशी से लौटने पर ये राजपुताने के फतहपुर (शेखावाटी) नामक स्थान में आ रहे। वहाँ के नवाब अलिफखाँ इन्हें बहुत मानते थे। इनका देहांत कार्त्तिक शुक्ल ८ संवत् १७४६ में साँगानेर में हुआ।

इनका डील डौल बहुत अच्छा, रंग गोरा और रूप बहुत सुंदर था। स्वभाव अत्यंत कोमल और मृदुल था। ये बाल ब्रह्मचारी थे और स्त्री की चर्चा से सदा दूर रहते थे। निर्गुण पंथियों में ये ही एक ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिन्हें समुचित शिक्षा मिली थी और जो काव्यकला की रीति आदि से अच्छी तरह परिचित थे। अतः इनकी रचना साहित्यिक और सरस है। भाषा भी काव्य की मँजी हुई ब्रजभाषा है। भक्ति और ज्ञानचर्चा के अतिरिक्त नीति और देशाचार आदि पर भी इन्होंने बड़े सुंदर पद्य कहे हैं। और संतों ने केवल गाने के पद और दोहे कहे हैं। पर इन्होंने और कवियों के समान बहुत से कवित्त और सवैये रचे हैं। यों तो छोटे मोटे इनके अनेक ग्रंथ हैं, पर "सुंदरविलास" ही सबसे अधिक प्रसिद्ध है जिसमें कवित्त, सवैये ही अधिक हैं। इन कवित्त-सवैयों में यमक अनुप्रास और अर्थालंकार आदि की योजना बराबर मिलती है। इनकी रचना काव्य-पद्धति के अनुसार होने के कारण और संतों से भिन्न प्रकार की दिखाई पड़ती है। संत तो ये थे ही पर कवि भी थे इससे समाज की रीति नीति और व्यवहार आदि पर भी पूरी दृष्टि रखते थे। भिन्न भिन्न प्रदेशों के आचार पर इनकी बड़ी विनोदपूर्ण उक्तियाँ हैं। जैसे, गुजरात पर—"आभड़ छोत अतीत सों होत बिलार औ कूकर चाटत हाँड़ी"। मारवाड़ पर—"बृच्छ न नीर न उत्तम चीर सुदेसन में गत देस है मारू"। दक्षिण पर—"राँधत प्याज, बिगारत नाज, न आवत लाज करैं सब भच्छन"। पूरब के देस पर—"बाम्हन क्षत्रिय बैसरु सूदर चारोइ बर्न के मच्छ बघारत"।

इनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

गेह तज्यो अरु नेह तज्यो पुनि खेह लगाय कै देह सँवारी।
मेह सहे सिर, सीत सहे तन, धूप समै जो पँचागिनि बारी॥
भूख सही रहि रूख तरे पर सुंदरदास सबै दुख भारी।
डासन छाँड़िकै कासन ऊपर आसन मारयौ पै आस न मारी॥

व्यर्थ की तुकबंदी और ऊटपटांग बानी इनको रुचिकर न थी इसका पता इनके इस कवित्त से लगता है—

बोलिए तौ तब जब बोलिबे की बुधि होय,
ना तौ मुख मौन गहि चुप होय रहिए।
जोरिए तौ तब जंब जोरिबे की रीति जानै,
तुक छंद अरथ अनूप जामें लहिए॥
गाइए तौ तब जब गायबे को कंठ होय,
श्रवण के सुनत ही मन जाय गहिए।
तुकभंग, छंदभंग, अरथ मिलै न कछु,
सुंदर कहत ऐसी बानी नहिं कहिए॥

सुशिक्षा द्वारा विस्तृत दृष्टि प्राप्त होने से इन्होंने और निर्गुण-वादियों के समान लोकधर्म की उपेक्षा नहीं की है। पातिव्रत्य का पालन करनेवाली स्त्रियां, रणक्षेत्र में कठिन कर्त्तव्य पालन करनेवाले शूरवीरों आदि के प्रति इनके विशाल हृदय में सम्मान के लिये पूरी जगह थी। दो उदाहरण अलम् हैं—

पति ही सूँ प्रेम होय, पति ही सूँ नेम होय,
पति ही सूँ छेम होय, पति ही सूँ रत है।
पति ही है जज्ञ जोग, पति ही है रस भोग,
पति ही सूँ मिटै सोग, पति ही को जत है॥
पति ही है ज्ञान ध्यान, पति ही है पुन्यदान,
पति ही है तीर्थ न्हान पति ही को मत है।

पति बिनु पति नाहिं, पति बिनु गति नाँहिं,
सुंदर सकल बिधि एक पतिव्रत है ॥
सुनत नगारे चोट बिगसै कमलमुख,
अधिक उछाह फूल्यो मात है न तन में ।
फेरै जब साँग तब कोऊ नहिं धीर धरै,
कायर कँपायमान होत देखि मन में ॥
कूदि कै पतंग जैसे परत पावक माहिं,
ऐसे टूटि परैं बहु सावंत के गन में ।
मारि घमसान करि सुंदर जुहारै स्याम,
सोई सूरबीर रुपि रहै जाय रन में ॥

इसी प्रकार इन्होंने जो सृष्टि तत्त्व आदि विषय कहे हैं वे भी औरों के समान मनमाने और ऊटपटांग नहीं हैं, शास्त्र के अनुकूल हैं। उदाहरण के लिये नीचे का पद्य लीजिए जिसमें ब्रह्म के आगे और सब क्रम सांख्य के अनुकूल है—

ब्रह्म तें पुरुष अरु प्रकृति प्रगट भई,
प्रकृति तें महत्तत्त्व पुनि अहंकार है ।
अहंकार हू तें तीन गुण सत रज तम,
तमहू तें महाभूत विषयप्रसार है ॥
रजहू तें इंद्री दस पृथक् पृथक् भईं,
सत्त हू तें मन आदि देवता विचार है ।
ऐसे अनुक्रम करि सिष्य सूँ कहत गुरु,
सुंदर सकल यह मिथ्या भ्रम जार है ॥

(६) **मलूकदास**—मलूकदास का जन्म लाला सुंदरदास खत्री के घर में वैशाख कृष्ण ५ संवत् १६३१ में कड़ा जिला इलाहाबाद में हुआ। इनकी मृत्यु १०८ वर्ष की अवस्था में संवत् १७३९ में हुई। ये औरंगजेब के समय में दिल के अंदर खोजनेवाले निर्गुण मत के नामी संतों में हुए हैं और इनकी गद्दियाँ कड़ा, जयपुर, गुजरात, मुलतान, पटना, नैपाल और काबुल तक में कायम हुईं। इनके

संबंध में बहुत से चमत्कार या करामातें प्रसिद्ध हैं। कहते हैं कि एक बार इन्होंने एक डूबते हुए शाही जहाज को पानी के ऊपर उठाकर बचा लिया था और रुपयों का तोड़ा गंगा जी में तैराकर कड़े से इलाहाबाद भेजा था।

आलसियों का यह मूल मंत्र—

अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम।
दास मलूका कहि गए सबके दाता राम॥

इन्हीं का है। इनकी दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं—रत्नखान और ज्ञान-बोध। हिंदुओं और मुसलमान दोनों को उपदेश देने में प्रवृत्त होने के कारण और निर्गुणमार्गी संतों के समान इनकी भाषा में भी फारसी और अरबी शब्दों का बहुत प्रयोग है। इसी दृष्टि से बोल-चाल की खड़ी बोली का पुट इन सब संतों की बानी में एक सा पाया जाता है। इन सब लक्षणों के होते हुए भी इनकी भाषा सुव्यवस्थित और सुंदर है। कहीं कहीं अच्छे कवियों का सा पद-विन्यास और कवित्त आदि छंद पाए जाते हैं। कुछ पद्य बिलकुल खड़ी बोली में हैं। आत्मबोध, वैराग्य, प्रेम आदि पर इनकी बानी बड़ी मनोहर है। दिग्दर्शन मात्र के लिये कुछ पद्य नीचे दिए जाते हैं—

अब तो अजपा जपु मन मेरे।
सुर नर असुर टहलुवा जाके मुनि गँधर्व जाके चेरे।
दस औतार देखि मत भूलौ, ऐसे रूप घनेरे।
अलख पुरुष के हाथ बिकाने जब तें नैननि हेरे।
कह मलूक तू चेत अचेता काल न आवै नेरे॥

नाम हमारा खाक है हम खाकी बंदे।
खाकहि से पैदा किए अति गाफिल गंदे॥
कबहूँ न करते बंदगी, दुनिया में भूले।
आसमान को ताकते घोड़े चढ़ फूले॥

सबहिन के हम सबै हमारे। जीव जंतु मोहिं लगैं पियारे॥

तीनों लोक हमारी माया । अंत कतहुँ से कोइ नहिं भाया ॥
छत्तिस पवन हमारी जाति । हमहीं दिन औ हमहीं राति ॥
हमहीं तरवर कीट पतंगा । हमहीं दुर्गा हमहीं गंगा ॥
हमहीं मुल्ला हमहीं काजी । तीरथ बरत हमारी बाजी ॥
हमहीं दसरथ हमहीं राम । हमरै क्रोध औ हमरै काम ॥
हमहीं रावन हमहीं कंस । हमहीं मारा अपना बंस ॥

(७) **अक्षर अनन्य**—संवत् १७१० में इनके वर्तमान रहने का पता लगता है। ये दतिया रियासत के अंतर्गत सेनुहरा के कायस्थ थे और कुछ दिनों तक दतिया के राजा पृथ्वीचंद के दीवान थे। पीछे ये विरक्त होकर पन्ना में रहने लगे। प्रसिद्ध छत्रसाल इनके शिष्य हुए। एक बार वे छत्रसाल से किसी बात पर अप्रसन्न होकर जंगल में चले गए। पता लगने पर जब महाराज छत्रसाल क्षमा-प्रार्थना के लिये इनके पास गए तब इन्हें एक झाड़ी के पास खूब पैर फैलाकर लेटे हुए पाया। महाराज ने पूछा "पाँव पसारा कब से ?" चट उत्तर मिला—"हाथ समेटा जब से"। ये विद्वान् थे और वेदांत के अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने योग और वेदांत पर कई ग्रंथ राजयोग, विज्ञानयोग, ध्यानयोग, सिद्धांतबोध, विवेक-दीपिका, ब्रह्मज्ञान, अनन्यप्रकाश आदि लिखे और दुर्गा सप्तशती का भी हिंदी पद्यों में अनुवाद किया। राजयोग के कुछ पद्य नीचे दिए जाते हैं—

यह भेद सुनौ प्रथिचंदराय । फल चारहु को साधन उपाय ॥
यह लोक सधै सुख पुत्र वाम । परलोक नसै बस नरकधाम ॥
परलोक लोक दोउ सधै जाय । सोइ राजजोग सिद्धांत आय ॥
निज राज जोग ज्ञानी करंत । हठ मूढ़ धर्म साधन अनंत ॥

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, निर्गुणमार्गी संत कवियों की परंपरा में थोड़े ही ऐसे हुए हैं जिनकी रचना साहित्य के अंतर्गत आ सकती है। शिक्षितों का समावेश कम होने से इनकी बानी

अधिकतर सांप्रदायिकों के ही काम की है। उसमें मानवजीवन की भावनाओं की वह विस्तृत व्यंजना नहीं है जो साधारण जनसमाज को आकर्षित कर सके। इस प्रकार के संतों की परंपरा यद्यपि बराबर चलती रही और नए नए पंथ भी निकलते रहे पर देश के सामान्य साहित्य पर उनका कोई प्रभाव न रहा। दादूदयाल की शिष्य-परंपरा में जगजीवनदास या जगजीवन साहब हुए जो संवत् १८१८ के लगभग वर्त्तमान थे। ये चंदेल ठाकुर थे और कोटवा (बाराबंकी) के निवासी थे। इन्होंने अपना एक अलग 'सत्यनामी' संप्रदाय चलाया। इनकी बानी में साधारण ज्ञान-चर्चा है। इनके शिष्य दूलमदास हुए जिन्होंने एक शब्दावली लिखी। उनके शिष्य तीर्थदास और पहलवानदास हुए। तुलसी साहब, गोविंद साहब, भीखा साहब, पलटू साहब आदि अनेक संत हुए हैं। प्रयाग के बलवेडियर प्रेस ने इस प्रकार के बहुत से संतों की बानियाँ प्रकाशित की हैं।

(८) हिंदी साहित्य का पूर्व मध्यकाल

[लेखक पंडित रामचंद्र शुक्ल, काशी]

(पत्रिका भाग ६ पृ० २३२ के आगे)

(क) निर्गुण-धारा

(२) प्रेममार्गी (सूफी) शाखा

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि इस काल के निर्गुणोपासक भक्तों की दूसरी शाखा उन सूफी कवियों की है जिन्होंने प्रेमगाथाओं के रूप में उस प्रेम तत्त्व का वर्णन किया है जो ईश्वर को मिलानेवाला है तथा जिसका आभास लौकिक प्रेम के रूप में मिलता है। इस संप्रदाय के साधु कवियों का अब वर्णन दिया जाता है—

(१) **कुतबन**—ये चिश्ती वंश के शेख बुरहान के शिष्य थे और शेरशाह के पिता हुसैनशाह के आश्रित थे. अतः इनका समय विक्रम की सोलहवीं शताब्दी का मध्यभाग (संवत् १५५०) था। इन्होंने 'मृगावती' नाम की एक कहानी चौपाई-दोहे के क्रम से सन् ९०९ हिजरी (संवत् १५५८) में लिखी जिसमें चंद्रनगर के राजा गणपति देव के राजकुमार और कंचनपुर के राजा रूपमुरारि की कन्या मृगावती की प्रेम-कथा का वर्णन है। इस कहानी के द्वारा कवि ने प्रेममार्ग के त्याग और कष्ट का निरूपण करके साधक के भगवत्प्रेम का स्वरूप दिखाया है। बीच बीच में सूफियों की शैली पर बड़े सुंदर रहस्यमय आध्यात्मिक आभास हैं।

कहानी का सारांश यह है। चंद्रगिरि के राजा गणपति देव का पुत्र कंचननगर के राजा रूपमुरारि की मृगावती नाम की राजकुमारी पर मोहित हुआ। यह राजकुमारी उड़ने की विद्या जानती थी। अनेक कष्ट झेलने के उपरांत राजकुमार उसके पास तक पहुँचा।

पर एक दिन मृगावती राजकुमार को धोखा देकर कहीं उड़ गई। राजकुमार उसकी खोज में योगी होकर निकल पड़ा। समुद्र से घिरी एक पहाड़ी पर पहुँचकर उसने रुकमिनी नाम की एक सुंदरी को एक राक्षस से बचाया। उस सुंदरी के पिता ने राजकुमार के साथ उसका विवाह कर दिया। अंत में राजकुमार उस नगर में पहुँचा जहाँ अपने पिता की मृत्यु पर राजसिंहासन पर बैठकर मृगावती राज्य कर रही थी। वहाँ वह १२ वर्ष रहा। पता लगने पर राजकुमार के पिता ने घर बुलाने के लिये दूत भेजा। राजकुमार पिता का सँदेसा पाकर मृगावती के साथ चल पड़ा और उसने मार्ग में रुकमिनी को भी ले लिया। राजकुमार बहुत दिनों तक आनंदपूर्वक रहा पर अंत में आखेट के समय हाथी से गिरकर मर गया। उसकी दोनों रानियाँ प्रिय के मिलने की उत्कंठा में बड़े आनंद के साथ सती हो गईं—

रुकमिनि कि पुनि वैसहि मरि गई। कुलवंती सत सों सति भई॥
बाहर वह, भीतर वह होई। घर बाहर को रहै न जोई॥
बिधि कर चरित न जानै आनू। जो सिरजा सो जाहि निआनू॥

(२) मंझन—इनके संबंध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। केवल इनकी रची मधुमालती की एक खंडित प्रति मिली है जिससे इनकी कोमल कल्पना और स्निग्ध सहृदयता का पता लगता है। मृगावती के समान मधुमालती में भी पाँच चौपाइयों (अर्द्धालियों) के उपरांत एक दोहे का क्रम रखा गया है। पर मृगावती की अपेक्षा इसकी कल्पना भी विशद है और वर्णन भी अधिक विस्तृत और हृदयग्राही हैं। आध्यात्मिक प्रेम-भाव की व्यंजना के लिये भी प्रकृति के अधिक दृश्यों का समावेश मंझन ने किया है। कहानी भी कुछ अधिक जटिल और लंबी है जो अत्यंत संक्षेप में नीचे दी जाती है।

कनेसर नगर के राजा सूरजभान के पुत्र मनोहर नामक एक सोए हुए राजकुमार को अप्सराएँ रातोरात महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती की चित्रसारी में रख आईं। वहाँ जागने पर दोनों का साक्षात्कार हुआ और दोनों एक दूसरे पर मोहित हो गए।

पूछने पर मनोहर ने अपना परिचय दिया और कहा—"मेरा अनुराग तुम्हारे ऊपर कई जन्मों का है इससे जिस दिन मैं इस संसार में आया उसी दिन से तुम्हारा प्रेम मेरे हृदय में उत्पन्न हुआ।" बातचीत करते करते दोनों एक साथ सो गए और अप्सराएँ राजकुमार को उठाकर फिर उसके घर पर रख आईं। दोनों जब अपने अपने स्थान पर जगे तब प्रेम में बहुत व्याकुल हुए। राजकुमार वियोग से विकल होकर घर से निकल पड़ा और उसने समुद्र के मार्ग से यात्रा की। मार्ग में तूफान आया जिसमें इष्ट मित्र इधर उधर बह गए। राजकुमार एक पटरे पर बहता हुआ एक जंगल में जा लगा जहाँ एक स्थान पर एक सुंदरी स्त्री पलँग पर लेटी दिखाई पड़ी। पूछने पर जान पड़ा कि वह चितबिसँरामपुर के राजा चित्रसेन की कुमारी प्रेमा थी जिसे एक राक्षस उठा लाया था। मनोहर कुमार ने उस राक्षस को मारकर प्रेमा का उद्धार किया। प्रेमा ने मधुमालती का पता बताकर कहा कि मेरी वह सखी है, मैं उसे तुझसे मिला दूँगी। मनोहर को लिए हुए प्रेमा अपने पिता के नगर में आई। मनोहर के उपकार को सुनकर प्रेमा का पिता उसका विवाह मनोहर के साथ करना चाहता है। पर प्रेमा यह कहकर अस्वीकार करती है कि मनोहर मेरा भाई है और मैंने उसे उसकी प्रेमपात्री मधुमालती से मिलाने का वचन दिया है।

दूसरे दिन मधुमालती अपनी माता रूपमंजरी के साथ प्रेमा के घर आई और प्रेमा ने उसके साथ मनोहर कुमार का मिलाप करा दिया। सबेरे रूपमंजरी ने चित्रसारी में जाकर मधुमालती को मनोहर के साथ पाया। जगने पर मनोहर ने तो अपने को दूसरे स्थान में पाया और रूपमंजरी अपनी कन्या को भला बुरा कहकर मनोहर का प्रेम छोड़ने को कहने लगी। जब उसने न माना तब माता ने शाप दिया कि तू पक्षी हो जा। जब वह पक्षी होकर उड़ गई तब माता बहुत पछताने और विलाप करने लगी, पर मधुमालती का कहीं पता न लगा। मधुमालती उड़ती उड़ती बहुत दूर निकल

गई। कुँवर ताराचंद नाम के एक राजकुमार ने उस पक्षी की सुंदरता देख उसे पकड़ना चाहा। मधुमालती को ताराचंद का रूप मनोहर से कुछ मिलता जुलता दिखाई दिया इससे वह कुछ रुक गई और पकड़ ली गई। ताराचंद ने उसे एक सोने के पिंजरे में रखा। एक दिन पक्षी—मधुमालती—ने अपने प्रेम की सारी कहानी ताराचंद से कह सुनाई जिसे सुनकर उसने प्रतिज्ञा की कि मैं तुझे तेरे प्रियतम मनोहर से अवश्य मिलाऊँगा। अंत में वह उस पिंजरे को लेकर महारस नगर में पहुँचा। मधुमालती की माता अपनी पुत्री को पाकर बहुत प्रसन्न हुई और मंत्र पढ़कर उसके ऊपर जल छिड़का। वह फिर पक्षी से मनुष्य हो गई। मधुमालती के माता-पिता ने ताराचंद के साथ मधुमालती का ब्याह करने का विचार प्रकट किया। पर ताराचंद ने कहा कि "मधुमालती मेरी बहिन है और मैंने उससे प्रतिज्ञा की है कि मैं जैसे होगा वैसे मनोहर से मिला-ऊँगा"। मधुमालती की माता सारा हाल लिखकर प्रेमा के पास भेजती है। मधुमालती भी उसे अपने चित्त की दशा लिखती है। वह दोनों पत्रों को लिए हुए दुःख कर रही थी कि इतने में उसकी एक सखी आकर संवाद देती है कि राजकुमार मनोहर योगी के वेश में आ पहुँचा है। मधुमालती का पिता अपनी रानी सहित दल बल के साथ राजा चित्रसेन (प्रेमा के पिता) के नगर में जाता है और वहाँ मधुमालती और मनोहर का विवाह हो जाता है। मनोहर, मधुमालती और ताराचंद तीनों बहुत दिनों तक प्रेमा के यहाँ अतिथि रहते हैं। एक दिन आखेट से लौटने पर ताराचंद प्रेमा और मधुमालती को एक साथ झूला झूलते देख प्रेमा पर मोहित होकर मूर्च्छित हो जाता है। मधुमालती और उसकी सखियाँ उपचार में लग जाती हैं।

इसके आगे प्रति खंडित है। पर कथा के झुकाव से अनुमान होता है कि प्रेमा और ताराचंद का भी विवाह हो गया होगा।

कवि ने नायक और नायिका के अतिरिक्त उपनायक और उप-नायिका की भी योजना करके कथा को तो विस्तृत किया ही है साथ

ही प्रेमा और ताराचंद के चरित्र द्वारा सच्ची सहानुभूति, अपूर्व संयम और निःस्वार्थ भाव का चित्र दिखाया है। जन्म-जन्मांतर और योन्यंतर के बीच प्रेम की अखंडता दिखाकर मंझन ने प्रेमतत्त्व की व्यापकता और नित्यता का आभास दिया है। सूफियों के अनुसार यह सारा जगत् एक ऐसे रहस्यमय प्रेम-सूत्र में बँधा है जिसका अवलंबन करके जीव उस प्रेममूर्त्ति तक पहुँचने का मार्ग पा सकता है। सूफी सब रूपों में उसकी छिपी ज्योति देखकर मुग्ध होते हैं जैसा कि मंझन कहते हैं—

देखत ही पहिचानेउँ तोहीं। एही रूप जेहि छंदरयो मोहीं॥
एही रूप बुत अहै छपाना। एही रूप रब सृष्टि समाना॥
एही रूप सकती औ सीऊ। एही रूप त्रिभुवन कर जीऊ॥
एही रूप प्रगटे बहु भेसा। एही रूप जग रंक नरेसा॥

ईश्वर का विरह सूफियों के यहाँ भक्त की प्रधान संपत्ति है जिसके बिना साधना के मार्ग में कोई प्रवृत्त नहीं हो सकता, किसी की आँखें नहीं खुल सकतीं—

विरह-अवधि अवगाह अपारा। कोटि माहिं एक परै त पारा॥
बिरह की जगत अबिरथा जाही? बिरह-रूप यह सृष्टि सबाही॥
नैन बिरह-अंजन जिन सारा। बिरह रूप दरपन संसारा॥
कोटि माहिं बिरला जग कोई। नाहिं सरीर बिरह दुख होई॥

रतन कि सागर सागरहि? गजमोती गज कोइ।
चंदन कि बन बन उपजै, बिरह कि तन तन होइ?

जिसके हृदय में यह विरह होता है उसके लिये यह संसार स्वच्छ दर्पण हो जाता है और इसमें परमात्मा के आभास अनेक रूपों में दिखाई पड़ते हैं। तब वह देखता है कि इस सृष्टि के सारे रूप सारे व्यापार उसी का विरह प्रकट कर रहे हैं। ये भाव प्रेम-मार्गी सूफी संप्रदाय के सब कवियों में पाए जाते हैं। मंझन की रचना का यद्यपि ठीक ठीक संवत् नहीं ज्ञात हो सका है पर यह निस्संदेह है कि इसकी रचना विक्रम संवत् १५५० और १५९५

(पद्मावत का रचना-काल) के बीच में और बहुत संभव है कि मृगावती के कुछ पीछे हुई। इस शैली के सबसे प्रसिद्ध और लोकप्रिय ग्रंथ "पद्मावत" में जायसी ने अपने पूर्व के बने हुए इस प्रकार के काव्यों का संक्षेप में उल्लेख किया है—

विक्रम धँसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गएउ पतारा ॥
मधूपाछ मुगधावति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी ॥
राजकुँवर कंचनपुर गयऊ। मिरगावति कहँ जोगी भयऊ ॥
साधे कुँवर खंडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह बियोगू ॥
प्रेमावति कहँ सुरपुर साधा। उषा लागि अनिरुध बर-बाँधा ॥

इन पद्यों में जायसी के पहले के चार काव्यों का उल्लेख है—मुग्धावती, मृगावती, मधुमालती और प्रेमावती। इनमें से मृगावती और मधुमालती का पता चल गया है, शेष दो अभी नहीं मिले हैं। जिस क्रम से ये नाम आए हैं, वह यदि रचना-काल के क्रम के अनुसार माना जाय तो मधुमालती की रचना कुतबन की मृगावती के पीछे की ठहरती है।

(३) **मलिक मुहम्मद जायसी**—ये प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख मोहिदी मुहीउद्दीन के शिष्य थे और जायस में रहते थे। इन्होंने शेरशाह के समय में अर्थात् संवत् १५९७ के लगभग अपने प्रसिद्ध ग्रंथ पदमावत की रचना की थी। इन्होंने पुस्तक के आरंभ में रचना-काल इस प्रकार दिया है—

सन् नौ सौ सैंतालिस अहा। कथा अरंभि बैन कबि कहा।

और शेरशाह सूर की बड़ी प्रशंसा की है—

शेरशाह दिल्ली सुलतानू। चारहु खंड तपै जस भानू ॥
ओही छाज राज औ पाटू। सब राजै भुइ धरा ललाटू ॥

'पदमावत' की हस्तलिखित प्रतियाँ अधिकतर फारसी अक्षरों में मिली हैं अतः बहुत से लोगों ने सन् ९४७ के स्थान पर ९२७ पढ़ा है, जो शेरशाह के राजत्वकाल से मेल नहीं खाता। 'पदमावत' का एक बहुत पुराना अनुवाद बंगभाषा में मिलता है, उसमें भी

९२७ ही दिया हुआ है। इससे कुछ लोग अनुमान करते हैं कि कदाचित् जायसी ने ग्रंथ ९२७ में आरंभ किया हो पर किसी कारण रह गया हो और पीछे शेरशाह के समय में पूरा किया गया हो। पर ऐसा अनुमान संगत नहीं प्रतीत होता। फारसी अक्षरों में "नौ सै सैंतालिस" का "नौसै सत्ताइस" पढ़ा जाना कोई असाधारण बात नहीं।

जायसी अपने समय के सिद्ध फकीरों में गिने जाते थे। अमेठी के राजघराने में इनका बहुत मान था क्योंकि इनकी दुआ से अमेठी के राजा को पुत्र हुआ था। इनकी कब्र अमेठी के राजा के कोट के सामने अब तक है, इससे जान पड़ता है कि इन्होंने वहीं शरीर छोड़ा था। ये काने और देखने में कुरूप थे। कोई राजा इनके रूप को देखकर हँसा। इस पर ये बोले "मोहिका हँससि कि कोहरहि ?" इनके समय में ही इनके शिष्य फकीर इनके बनाए भावपूर्ण दोहे चौपाइयाँ गाते फिरते थे। इन्होंने दो पुस्तकें लिखीं—एक तो प्रसिद्ध 'पदमावत' और दूसरी 'अखरावट'। 'अखरावट' में वर्णमाला के एक एक अक्षर को लेकर सिद्धांत-संबंधी तत्त्वों से भरी चौपाइयाँ कही गई हैं। इस छोटी सी पुस्तक में ईश्वर, सृष्टि, जीव, ईश्वर-प्रेम आदि विषयों पर विचार प्रकट किए गए हैं। पर जायसी की अक्षयकीर्ति का आधार है पदमावत जिसके पढ़ने से यह प्रकट हो जाता है कि जायसी का हृदय कैसा कोमल और "प्रेम की पीर" से भरा हुआ था। क्या लोकपक्ष में क्या अध्यात्म-पक्ष में दोनों ओर उसकी गूढ़ता, गंभीरता और सरसता विलक्षण दिखाई देती है।

कबीर ने अपनी झाड़ फटकार के द्वारा हिंदुओं और मुसलमानों का कट्टरपन दूर करने का जो प्रयत्न किया वह अधिकतर चिढ़ानेवाला सिद्ध हुआ, हृदय को स्पर्श करनेवाला नहीं। "मनुष्य मनुष्य के बीच जो रागात्मक संबंध है वह उसके द्वारा व्यक्त न हुआ। अपने नित्य के जीवन में जिस हृदय-साम्य का अनुभव मनुष्य कभी कभी किया करता है उसकी अभिव्यंजना उससे न हुई। कुतबन जायसी

आदि इन प्रेम-कहानी के कवियों ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन-दशाओं को सामने रखा जिनका मनुष्य मात्र के हृदय पर एक सा प्रभाव दिखाई पड़ता है। हिंदू-हृदय और मुसलमानहृदय आमने सामने करके अजनबीपन मिटानेवालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा। इन्होंने मुसलमान होकर हिंदुओं की कहानियाँ हिंदुओं ही की बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिणी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा दिया। कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्षसत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी। यह जायसी द्वारा पूरी हुई।''

'पदमावत' में प्रेमगाथा की परंपरा पूर्ण प्रौढ़ता को प्राप्त मिलती है। यह उस परंपरा में सब से अधिक प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसकी कहानी में भी विशेषता है। उसमें इतिहास और कल्पना का योग है। चित्तौर की महारानी पद्मिनी या पद्मावती का इतिहास हिंदू-हृदय के मर्म को स्पर्श करनेवाला है। जायसी ने यद्यपि इतिहास-प्रसिद्ध नायक और नायिका ली है पर उन्होंने अपनी कहानी का रूप वही रखा है जो कल्पना के उत्कर्ष द्वारा साधारण जनता के हृदय में प्रतिष्ठित था। इस रूप में इस कहानी का पूर्वार्द्ध तो बिल्कुल कल्पित है और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक आधार पर है। पदमावत की कथा संक्षेप में इस प्रकार है—

सिंहलद्वीप के राजा गंधर्वसेन की कन्या पद्मावती रूप और गुण में जगत् में अद्वितीय थी। उसके योग्य वर कहीं न मिलता था। उसके पास हीरामन नाम का एक सूआ था जिसका वर्ण सोने के समान था और जो पूरा वाचाल और पंडित था। एक दिन वह पद्मावती से उसके वर न मिलने के विषय में कुछ कह रहा था कि राजा ने सुन लिया और बहुत कोप किया। सूआ राजा के डर से एक दिन उड़ गया। पद्मावती ने सुनकर बहुत विलाप किया।

सूआ वन में उड़ते उड़ते एक बहेलिए के हाथ पड़ गया जिसने बाजार में लाकर उसे चित्तौर के एक ब्राह्मण के हाथ बेच दिया। उस ब्राह्मण को एक लाख देकर चित्तौर के राजा रतनसेन ने लिया। धीरे धीरे रतनसेन उसे बहुत चाहने लगे। एक दिन जब राजा शिकार को गए थे तब उनकी रानी नागमती ने, जिसे अपने रूप का बड़ा गर्व था, आकर सूए से पूछा कि "संसार में मेरे समान सुंदरी भी कहीं है?" इस पर सूआ हँसा और उसने सिंहल की पद्मिनी का वर्णन करके कहा कि उसमें तुममें दिन और अँधेरी रात का अंतर है। रानी ने इस भय से कि कहीं यह सूआ राजा से भी न पद्मिनी के रूप की प्रशंसा करे उसे मारने की आज्ञा दे दी। पर चेरी ने राजा के भय से उसे मारा नहीं; अपने घर छिपा रखा। लौटने पर जब सूए के बिना राजा रतनसेन बहुत व्याकुल और क्रुद्ध हुए तब सूआ लाया गया और उसने सारी व्यवस्था कह सुनाई। पद्मिनी के रूप का वर्णन सुनकर राजा मूर्च्छित हो गया और अंत में वियोग से व्याकुल होकर उसकी खोज में घर से जोगी होकर निकल पड़ा। उसके आगे आगे राह दिखानेवाला वही हीरामन सूआ था और साथ में सोलह हजार कुँवर जोगियों के वेश में थे।

कलिंग से जोगियों का यह दल बहुत से जहाजों में सवार होकर सिंहल की ओर चला और अनेक कष्ट झेलने के उपरांत सिंहल पहुँचा। वहाँ पहुँचने पर राजा तो शिव के एक मंदिर में जोगियों के साथ बैठकर पद्मावती का ध्यान और जप करने लगा और हीरामन सूए ने जाकर पद्मावती से यह सब हाल कहा। राजा के प्रेम की सत्यता के प्रभाव से पद्मावती प्रेम में विकल हुई। श्रीपंचमी के दिन पद्मावती शिवपूजन के लिये उस मंदिर में गई; पर राजा उसके रूप को देखते ही मूर्च्छित हो गया, उसका दर्शन अच्छी तरह न कर सका। जागने पर राजा बहुत अधीर हुआ, पर पद्मावती ने कहला भेजा कि समय पर तो तुम चूक गए; अब तो इस दुर्गम सिंहलगढ़ तक चढ़ो तभी मुझे देख

सकते हो। शिव से सिद्धि प्राप्त कर राजा रात को जोगियों सहित गढ़ में घुसने लगा, पर सबेरा हो गया और पकड़ा गया। राजा गंधर्वसेन की आज्ञा से रतनसेन को सूली देने ले जा रहे थे कि इतने में सोलह हजार जोगियों ने गढ़ को घेर लिया। महादेव, हनुमान आदि सारे देवता जोगियों की सहायता पर आ गए। गंधर्व-सेन की सारी सेना हार गई। अंत में जोगियों के बीच शिव को पहचानकर गंधर्वसेन पैरों पर गिर पड़ा और बोला कि "पद्मावती आपकी है, जि को चाहे दीजिए।" इस प्रकार रतनसेन के साथ पद्मावती का विवाह हो गया और कुछ दिनों के उपरांत दोनों चित्तौर गढ़ आ गए।

रतनसेन की सभा में राघव चेतन नामक एक पंडित था जिसे यक्षिणी सिद्ध थी। और पंडितों को नीचा दिखाने के लिये उसने एक दिन प्रतिपदा को द्वितीया कहकर यक्षिणी के बल से चंद्रमा दिखा दिया। जब राजा को यह कार्रवाई मालूम हुई तब उसने राघव चेतन को देश से निकाल दिया। राघव राजा से बदला लेने और भारी पुरस्कार की आशा से दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन के दरबार में पहुँचा और उसने दान में पाए हुए पद्मावती के एक कंगन को दिखाकर उसके रूप को संसार के ऊपर बताया। अलाउद्दीन ने पद्मिनी को भेज देने के लिये राजा रतनसेन को पत्र भेजा जिसे पढ़कर राजा अत्यंत क्रुद्ध हुआ और लड़ाई की तैयारी करने लगा। कई वर्ष तक अलाउद्दीन चित्तौरगढ़ घेरे रहा पर उसे तोड़ न सका। अंत में उसने छलपूर्वक संधि का प्रस्ताव भेजा। राजा ने स्वीकार करके बादशाह की दावत की। राजा के साथ शतरंज खेलते समय अलाउद्दीन ने पद्मिनी के रूप की एक झलक सामने रखे हुए एक दर्पण में देख पाई, जिसे देखते ही वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। प्रस्थान के दिन जब राजा बादशाह को बाहरी फाटक तक पहुँचाने गया, तब अलाउद्दीन के छिपे हुए सैनिकों के द्वारा पकड़ लिया गया और दिल्ली पहुँचाया गया।

पद्मिनी को जब यह समाचार मिला तब वह बहुत व्याकुल हुई पर तुरंत एक वीर क्षत्राणी के समान अपने पति के उद्धार का उपाय सोचने लगी। गोरा बादल नामक दो वीर क्षत्रिय सरदार ७०० पालकियों में सशस्त्र सैनिक छिपाकर दिल्ली पहुँचे और बादशाह के यहाँ संवाद भेजा कि पद्मिनी अपने पति से थोड़ी देर मिलकर तब आपके हरम में जायगी। आज्ञा मिलते ही एक ढकी पालकी राजा की कोठरी के पास रख दी गई और उसमें से एक लोहार ने निकल-कर राजा की बेड़ियाँ काट दीं। रतनसेन पहले से ही तैयार एक घोड़े पर सवार होकर निकल आए। शाही सेना पीछे आते देख वृद्ध गोरा तो कुछ सिपाहियों के साथ उस सेना को रोकता रहा और बादल रतनसेन को लेकर चित्तौर पहुँच गया। चित्तौर आने पर पद्मिनी ने रतनसेन से कुंभलनेर के राजा देवपाल द्वारा दूती भेजने की बात कही जिसे सुनते ही राजा रतनसेन ने कुंभलनेर जा घेरा। लड़ाई में देवपाल और रतनसेन दोनों मारे गए।

रतनसेन की मृत्यु का समाचार चित्तौर में पहुँचा। उसकी दोनों रानियाँ नागमती और पद्मावती हँसते हँसते पति के शव के साथ चिता में बैठ गईं। पीछे जब सेना सहित अलाउद्दीन चित्तौर में पहुँचा तब वहाँ राख के ढेर के सिवा और कुछ न मिला।

जैसा कहा जा चुका है, प्रेम-गाथा की परंपरा में पद्मावत सब से प्रौढ़ और सरस है। पहले तो प्रेममार्गी सूफी कवियों की और कथाओं से इस कथा में यह विशेषता है कि इसके ब्योरों से भी साधना के मार्ग, उसकी कठिनाइयों और सिद्धि के स्वरूप आदि की पूरी व्यंजना होती है जैसा कि कवि ने स्वयं ग्रंथ की समाप्ति पर कहा है—

तन चितउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरू सुआ जेइ पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोइ सैतानू। माया अलाउदीं सुलतानू॥

यद्यपि पदमावत की रचना संस्कृत प्रबंध काव्यों की सर्गबद्ध पद्धति पर नहीं है, फारसी की मसनवी-शैली पर है, पर शृंगार, वीर आदि के वर्णन चली आती हुई भारतीय काव्य परंपरा के अनुसार ही हैं। पद्मिनी के रूप का जो वर्णन जायसी ने किया है वह पाठक को सौंदर्य्य की लोकोत्तर भावना में मग्न करनेवाला है। अनेक प्रकार के अलंकारों की योजना उसमें पाई जाती है। कुछ पद्य देखिए—

सरवर-तीर पदमिनी आई। खोंपा छोरि केस मुकलाई ॥
ससि मुख, अंग मलयगिरि बासा। नागिनि झाँपि लीन्ह चहुँ पासा ॥
ओनई घटा परी जग छाँहा। ससि कै सरन लीन्ह जनु राहा ॥
भूलि चकोर दीठि मुख लावा। मेघ घटा महँ चंद देखावा ॥

पद्मिनी के रूप-वर्णन में जायसी ने कहीं कहीं उस अनंत सौंदर्य्य की ओर, जिसके विरह में यह सारी सृष्टि व्याकुल सी है, बड़े ही सुंदर संकेत किए हैं—

बरुनी का बरनौं इमि बनी। साधे बान जानु दुइ अनी ॥
उन बानन्ह अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरौ संसारा ॥
गगन नखत जो जाहिं न गने। वै सब बान ओहि के हने ॥
धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहिं सब साखी ॥
रोवँ रोवँ मानुस तन ठाढ़े। सूतहिं सूत बेध अस गाढ़े ॥
बरुनि-बान अस ओपहँ बेधे रन बन ढाँख।
सौजहिं तन सब रोवाँ पंखिहि तन सब पाँख ॥

इसी प्रकार जोगी रतनसेन के कठिन मार्ग के वर्णन में साधक के मार्ग के विघ्नों (काम, क्रोध आदि विकारों) की व्यंजना की है—

ओहि मिलान जौ पहुँचै कोई। तब हम कहब पुरुष भल सोई ॥
है आगे परबत कै बाटा। विषम पहार अगम सुठि घाटा ॥
बिच बिच नदी खोह औ नारा। ठावहिं ठावँ बैठ बटपारा ॥

(४) **उसमान**—ये जहाँगीर के समय में वर्तमान थे और गाजीपुर के रहनेवाले थे। इनके पिता का नाम शेख हुसेन था

और ये पाँच भाई थे। और चार भाइयों के नाम थे—शेख अजीज, शेख मानुल्लाह, शेख फैजुल्लाह, शेख हसन। इन्होंने अपना उपनाम "मान" लिखा है। ये शाह निजामुद्दीन चिश्ती की शिष्य-परंपरा में हाजी बाबा के शिष्य थे। उसमान ने सन् १०२२ हिजरी अर्थात् सन् १६१३ ईसवी में "चित्रावली" नाम की पुस्तक लिखी। पुस्तक के आरंभ में कवि ने स्तुति के उपरांत पैगंबर और चार खलीफों की, बादशाह (जहाँगीर) की तथा शाह निजामुद्दीन और हाजी बाबा की प्रशंसा लिखी है। उसके आगे गाजीपुर नगर का वर्णन करके कवि ने अपना परिचय देते हुए लिखा है कि—

आदि हुता बिधि माथे लिखा। अच्छर चारि पढ़ै हम सिखा॥
देखत जगत चला सब जाई। एक बचन पै अमर रहाई॥
बचन समान सुधा जग नाहीं। जेहि पाए कवि अमर रहाहीं॥
मोहूँ चाउ उठा पुनि हीए। होउँ अमर यह अमरित पीए॥

कवि ने "जोगी ढूँढन खंड" में काबुल, बदख्शाँ, खुरासान, रूम, साम, मिस्र; इस्तंबोल, गुजरात, सिंहलद्वीप आदि अनेक देशों का उल्लेख किया है। सबसे विलक्षण बात है जोगियों का अंगरेजों के द्वीप में पहुँचना—

बलंदीप देखा अँगरेजा। जहाँ जाइ जेहि कठिन करेजा॥
ऊँच नीच धन-संपति हेरा। मद बराह भोजन जिन्ह केरा॥

कवि ने इस रचना में जायसी का पूरा अनुकरण किया है। जो जो विषय जायसी ने अपनी पुस्तक में रखे हैं उन विषयों पर उसमान ने भी कुछ न कुछ कहा है। कहीं कहीं तो शब्द और वाक्य विन्यास भी वही है। पर विशेषता यह है कि कहानी बिलकुल कवि की कल्पित है जैसा कि कवि ने स्वयं कहा है—

कथा एक मैं हिये उपाई। कहत मीठ औ सुनत सोहाई॥

कथा का सारांश यह है—

नैपाल के राजा धरनीधर पँवार ने पुत्र के लिये कठिन व्रत पालन करके शिव पार्वती के प्रसाद से 'सुजान' नामक एक पुत्र प्राप्त

किया। सुजान कुमार एक दिन शिकार में मार्ग भूल देव (प्रेत) की एक मढ़ी में जा सोया। देव ने आकर उसकी रक्षा स्वीकार की। एक दिन वह देव अपने एक साथी के साथ रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली की वर्षगाँठ का उत्सव देखने के लिये गया और अपने साथ सुजान कुमार को भी लेता गया। और कोई उपयुक्त स्थान न देख देवों ने कुमार को राजकुमारी की चित्रसारी में ले जाकर रख दिया और आप उत्सव देखने लगे। कुमार राजकुमारी का चित्र टँगा देख इस पर आसक्त हो गया और अपना भी एक चित्र बनाकर उसी की बगल में टाँगकर सो रहा। देव लोग उसे उठाकर फिर उसी मढ़ी में रख आए। जागने पर कुमार को चित्रवाली घटना स्वप्न सी मालूम हुई पर हाथ में रंग लगा देख उसके मन में घटना के सत्य होने का निश्चय हुआ और वह चित्रा-वली के प्रेम में विकल हो गया। इसी बीच में उसके पिता के आदमी आकर उसको राजधानी में ले गए। पर वहाँ वह अत्यंत खिन्न और व्याकुल रहता। अंत में अपने सहपाठी सुबुद्धि नामक एक ब्राह्मण के साथ वह फिर उसी मढ़ी में गया और वहाँ बड़ा भारी अन्नसत्र खोल दिया।

राजकुमारी चित्रावली भी उसका चित्र देख प्रेम में विह्वल हुई और उसने अपने नपुंसक भृत्यों को जोगियों के वेश में राजकुमार का पता लगाने के लिये भेजा। इधर एक कुटीचर ने कुमारी की माँ हीरा से चुगली की और कुमार का वह चित्र धो डाला गया। कुमारी ने जब यह सुना तब उसने उस कुटीचर का सिर मुँड़ाकर उसे निकाल दिया। कुमारी के भेजे हुए जोगियों में से एक सुजान कुमार के उस अन्नसत्र तक पहुँचा और राजकुमार को अपने साथ रूपनगर ले आया। वहाँ एक शिवमंदिर में उसका कुमारी के साथ साक्षात्कार हुआ। पर ठीक इसी अवसर पर कुटीचर ने राजकुमार को अंधा कर दिया और एक गुफा में डाल दिया जहाँ उसे एक अजगर निगल गया। पर उसके विरह की ज्वाला से घबराकर

उसने उसे चट उगल दिया। वहीं पर एक बनमानुस ने उसे एक अंजन दिया जिससे उसकी दृष्टि फिर ज्यों की त्यों हो गई। वह जंगल में घूम रहा था कि उसे एक हाथी ने पकड़ा। पर उस हाथी को भी एक पक्षिराज ले उड़ा और उसने घबराकर कुमार को समुद्र-तट पर गिरा दिया। वहाँ से घूमता घूमता कुमार सागरगढ़ नामक नगर में पहुँचा और राजकुमारी कवँलावती की फुलवारी में विश्राम करने लगा। राजकुमारी जब सखियों के साथ वहाँ आई तब उसे देख मोहित हो गई और उसे अपने यहाँ भोजन के बहाने बुलवाया। भोजन में अपना हार रखवाकर कुमारी ने चोरी के अपराध में उसे कैद कर लिया। इसी बीच में सोहिल नाम का कोई राजा कँवलावती के रूप की प्रशंसा सुन उसे प्राप्त करने के लिये चढ़ आया। सुजान कुमार ने उसे मार भगाया। अंत में सुजान कुमार ने कँवलावती से चित्रावली के न मिलने तक समागम न करने की प्रतिज्ञा करके विवाह कर लिया। कँवलावती को लेकर कुमार गिरनार की यात्रा के लिये गया।

इधर चित्रावली के भेजे एक जोगी-दूत ने गिरनार में उसे पहचाना और चट चित्रावली को जाकर संवाद दिया। चित्रावली का पत्र लेकर वह दूत फिर लौटा। सागरगढ़ में धुईं लगाकर बैठा। कुमार सुजान उस जोगी की सिद्धि सुन उसके पास आया और उसे जानकर उसके साथ रूपनगर गया। इसी बीच वहाँ पर सागरगढ़ के एक कथक ने चित्रावली के पिता की सभा में जाकर सोहिल राजा के युद्ध के गीत सुनाए जिन्हें सुन राजा को चित्रावली के विवाह की चिंता हुई। राजा ने चार चित्रकारों को भिन्न भिन्न देशों के राजकुमारों के चित्र लाने को भेजा। इधर चित्रावली का भेजा हुआ वह जोगी-दूत सुजान कुमार को एक जगह बैठाकर उसके आने का समाचार कुमारी को देने आ रहा था। एक दासी ने यह समाचार द्वेषवश रानी से कह दिया और वह दूत मार्ग ही में कैद कर लिया गया। दूत के न लौटने पर सुजान

कुमार बहुत व्याकुल हुआ और चित्रावली का नाम ले लेकर पुकारने लगा। राजा ने उसे मारने के लिये मतवाला हाथी छोड़ा, पर उसने उसे मार डाला। इस पर राजा उस पर चढ़ाई करने जा रहा था कि इतने में भेजे हुए चार चित्रकारों में से एक चित्रकार सागरगढ़ से सोहिल के मारनेवाले पराक्रमी सुजान कुमार का चित्र लेकर आ पहुँचा। राजा ने जब देखा कि चित्रावली का प्रेमी वही सुजान कुमार है तब उसने अपनी कन्या चित्रावली के साथ उसका विवाह कर दिया।

कुछ दिनों में सागरगढ़ की कँवलावती ने विरह से व्याकुल होकर सुजान कुमार के पास हंस मिश्र को दूत बनाकर भेजा जिसने भ्रमर की अन्योक्ति द्वारा कुमार को कँवलावती के प्रेम का स्मरण कराया। इस पर सुजान कुमार ने चित्रावली को लेकर स्वदेश की ओर प्रस्थान किया और मार्ग में कँवलावती को भी साथ ले लिया। मार्ग में कवि ने समुद्र के तूफान का वर्णन किया है। अंत में राजकुमार अपने घर नैपाल पहुँचा और उसने वहाँ दोनों रानियों सहित बहुत दिनों तक राज्य किया।

जैसा कि कहा जा चुका है, उसमान ने जायसी का पूरा अनुकरण किया है। जायसी के पहले के कवियों ने पाँच पाँच चौपाइयों (अर्द्धालियों) के पीछे एक दोहा रखा है, पर जायसी ने सात सात चौपाइयों का क्रम रखा और यही क्रम उसमान ने भी रखा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस कहानी की रचना भी आध्यात्मिक दृष्टि से हुई है। कवि ने सुजान कुमार को एक साधक के रूप में चित्रित ही नहीं किया है बल्कि पौराणिक शैली का अवलंबन करके उसने उसे परम योगी शिव के अंश से उत्पन्न तक कहा है। महादेव जी राजा धरनीधर पर प्रसन्न होकर वर देते हैं कि—

देखु देत हौं आपन अंसा। अब तोरे होइहैं निज बंसा॥

कँवलावती और चित्रावली अविद्या और विद्या के रूप में कल्पित जान पड़ती हैं। सुजान का अर्थ ज्ञानवाद है। साधन काल में

अविद्या को बिना दूर रखे विद्या (सत्य ज्ञान) की प्राप्ति नहीं हो सकती इसी से सुजान ने चित्रावली के प्राप्त न होने तक कँवलावती के साथ समागम न करने प्रतिज्ञा की। जायसी की ही पद्धति पर नगर, सरोवर, यात्रा, दानमहिमा आदि का वर्णन चित्रावली में भी है। सरोवर-क्रीड़ा के वर्णन में एक दूसरे ढंग से कवि ने "ईश्वर की प्राप्ति" की साधना की ओर संकेत किया है। चित्रावली सरोवर के गहरे जल में यह कहकर छिप जाती है कि मुझे जो ढूँढ़ ले उसकी जीत समझी जायगी। सखियाँ ढूँढ़ती हैं और नहीं पाती हैं—

सरवर ढूँढ़ि सबै पचि रहीं। चित्रिनि खोज न पावा कहीं॥
निकसीं तीर भईं बैरागी। धरे ध्यान सब बिनवै लागीं॥
गुपुत तोहि पावहि का जानी। परगट महँ जो रहै छपानी॥
चतुरानन पढ़ि चारौ बेदू। रहा खोजि पै पाव न भेदू॥
हम अंधी जेहि आपु न सूझा। भेद तुम्हार कहाँ लौं बूझा॥
कौन सो ठाउँ जहाँ तुम नाहीं। हम चख जोति न देखहिं काहीं॥
पावै खोज तुम्हार से जेहि देखरावहु पंथ।
कहा होइ जोगी भए औ बहु पढ़े गरंथ॥

विरह-वर्णन के अंतर्गत षटऋतु का वर्णन सरस और मनोहर है—

ऋतु बसंत नौतन बन फूला। जहँ तहँ भौंर कुसुम-रँग भूला॥
आहि कहाँ सो भँवर हमारा। जेहि बिनु बसत बसंत उजारा॥
रात बरन पुनि देखि न जाई। मानहुँ दवा दहूँ दिसि लाई॥
रतिपति दुरद ऋतुपति बली। कान न देह आइ दलमली॥

(५) **शेख नबी**—ये जौनपुर जिले में दोसपुर के पास मऊ स्थान के रहनेवाले थे और संवत् १६७६ में जहाँगीर के समय में वर्त्तमान थे। इन्होंने 'ज्ञानदीप" नामक एक आख्यान-काव्य लिखा जिसमें राजा ज्ञानदीप और रानी देवजानी की कथा है।

यहीं से प्रेममार्गी सूफी कवियों की प्रचुरता की समाप्ति समझनी चाहिए। पर जैसा कहा जा चुका है, काव्यक्षेत्र में जब कोई परंपरा चल पड़ती है तब उसके प्राचुर्य-काल के पीछे भी कुछ दिनों तक

समय समय पर उस शैली की रचनाएँ थोड़ो बहुत होती रहती हैं पर उनके बीच कालांतर भी अधिक रहता है और जनता पर उनका प्रभाव भी वैसा नहीं रह जाता। 'ज्ञानदीप' के उपरांत सूफियों की पद्धति पर जो कहानियाँ लिखी गई उनका संक्षिप्त उल्लेख नीचे किया जाता है।

(६) **कासिम शाह**—ये दरियाबाद (बाराबंकी) के रहनेवाले थे और संवत् १७८८ के लगभग वर्त्तमान थे। इन्होंने "हंस जवाहिर" नाम की कहानी लिखी जिसमें राजा हंस और रानी जवाहिर की कथा है।

(७) **नूर मुहम्मद** ये दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के समय में थे और पूरब में 'सबरहद' नामक स्थान के रहनेवाले थे। इन्होंने सन ११५७ हिजरी (संवत् १८०१) में 'इंद्रावती' नामक एक सुंदर आख्यान-काव्य लिखा जिसमें कालिंजर के राजकुमार 'राजकुँवर' और आगमपुर की राजकुमारी इंद्रावती की प्रेम-कहानी है। कवि ने प्रथानुसार उस समय के शासक मुहम्मदशाह की प्रशंसा इस प्रकार की है—

करौं मुहम्मदसाह बखानू। है सूरज देहली सुलतानू॥
धरमपंथ जग बीच चलावा। निबर न सबरे सौं दुख पावा॥
बहुरै सलातीन जग केरे। आइ सुहास बने हैं चेरे॥
सब काहू पर दाया धरई। धरम सहित सुलतानी करई॥

कवि ने अपनी कहानी की भूमिका इस प्रकार बाँधी है कि—

मन दृग सों इक राति मझारा। सूझि परा मोहिं सब संसारा॥
देखेउँ एक नीक फुलवारी। देखेउँ तहाँ पुरुष औ नारी॥
दोउ मुख सोभा बरनि न जाई। चंद सुरुज उतरे भुइँ आई॥
तपी एक तेउँ तेहि ठाऊँ। पूछेउँ तासौं तिन्हकर नाऊँ॥
कहा अहैं राजा औ रानी। इंद्रावति औ कुँवर गियानी॥

आगमपुर इंद्रावती कुँवर कलिंजर राय।
प्रेम हुँते दोउन्ह कहँ दीन्हा अलख मिलाय॥

कवि ने जायसी के पहले के कवियों के अनुसार पाँच पाँच चौपाइयों के उपरांत दोहे का क्रम रखा है। इसी ग्रंथ को सूफी कवि-परंपरा का अंतिम ग्रंथ मानना चाहिए।

(८) **फाजिलशाह**—ये करम करीम के पौत्र और शाह करीम के पुत्र थे और छतरपुर-नरेश महाराज प्रतापसिंह (सं० १६०५) के आश्रित थे। इन्होंने 'प्रेम-रतन' नाम की एक कहानी लिखी जिसमें नूरशाह और माहेमुनीर का किस्सा है। यह कहानी सूफी कवि-परंपरा के ठीक ठीक अनुकूल नहीं है।

फुटकल

जिस प्रकार आश्रय-दाता राजाओं के चरित तथा पौराणिक या ऐतिहासिक आख्यान-काव्य लिखने की परंपरा हिंदुओं में बहुत पहले से चली आती थी उसी प्रकार पद्यबद्ध कल्पित कहानियाँ लिखने की भी प्रथा थी पर ये केवल लौकिक भाव से लिखी जाती थीं और इनमें किसी प्रकार के आध्यात्मिक रहस्य की व्यंजना का उद्देश्य नहीं रहता था। पर अच्छे साहित्यिकों और विद्वानों की प्रवृत्ति ऐतिहासिक या पौराणिक प्रबंधों की ओर ही अधिकतर रही, कल्पित कहानियों की ओर नहीं। कुछ कल्पित या प्रचलित कहानियाँ जो पद्य में लिखी गईं, ये हैं—

(१) लक्ष्मणसेन पद्मावती की कथा दामो कविकृत, सं० १५१६

(२) ढोला मारू री चउपदी। (राजस्थानी या मारवाड़ी भाषा) जयसलमेर नरेश के आश्रित हरराज कवि ने संवत् १६०७ में लिखी।

(३) रसरतन काव्य। प्रतापपुरा (मैनपुरी)-निवासी मोहनदास कायस्थ के पुत्र पुहकर कवि ने संवत् १६७३ में लिखा। इसकी रचना साहित्य के सब अंगों से पूर्ण प्रबंधकाव्य की पद्धति पर है। इसमें कुमार सूरसेन और रंभावती के प्रेम की कथा कवित्त, सवैया, छप्पय, दोहा आदि अनेक छंदों में तथा काव्य की परिष्कृत भाषा में लिखी गई है। स्वप्नदर्शन, चित्रदर्शन, पूर्वराग, संयोग

वियोग आदि शृंगार के सब विधान यथाक्रम रखे गए हैं। वीर-गाथा-काल के पीछे शुद्ध साहित्यिक पद्धति पर लिखा हुआ सबसे पहला कल्पित प्रबंधकाव्य यही मिलता है।

(४) कनकमंजरी—औरंगजेब के सूबेदार निजामत खाँ के आश्रित कवि काशीराम कृत जिनका जन्म संवत् १७१५ में हुआ था। इसमें धनधीरसाह और उनकी रानी कनकमंजरी की कथा है।

(५) कामरूप की कथा—ओड़छा नरेश महाराज पृथ्वीसिंह के आश्रित हरसेवक मिश्र कृत जो संवत् १८०८ में वर्त्तमान थे। इसमें राजकुमार कामरूप और राजकुमारी की प्रेम-कथा है।

(६) चन्द्रकला—(सं० १८५१) प्रेमचंद्र कृत।

(७) प्रेम पयोनिधि—(सं० १९१२) मृगेंद्र कवि कृत जो सिख धर्मावलंबी और पटियाला-नरेश महाराज महेंद्रसिंह के आश्रित थे। इसमें राजा जगतप्रभाकर और राजा सहपाल की कन्या की कथा है।

जैसा ऊपर कह आए हैं, हिंदू प्रबंधकारों की प्रवृत्ति अधिकतर पौराणिक या ऐतिहासिक आख्यानों की ओर ही रही। कवि नारायण देव ने संवत् १४५३ में 'हरिचंद पुराण'' लिखा जिसमें राजा हरिश्चन्द्र की कथा है। यह परंपरा भक्तिकाल और रीति-काल तक जारी रही और इसी की प्रवृत्ति के प्रभाव से रामचरित-मानस, रामचंद्रिका आदि प्रसिद्ध प्रबंधकाव्य लिखे गए।

(६) पतंजलि का समय

[लेखक—कविराज श्री अत्रिदेवजी गुप्त वि० ए० भिषग्रत्न, गुरुकुल, कांगड़ी]

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।
अपाकरोद्यः प्रवरो मुनीनां पतंजलिं तं शिरसा नमामः ॥

—विज्ञानभिक्षु

व्याकरण शास्त्र के सर्वमान्य ग्रंथ "महाभाष्य" का कर्त्ता एवं वैद्यक शास्त्र की नींव बने हुए "चरक" ग्रंथ का प्रतिसंस्कर्त्ता पतंजलि कहा जाता है* ।

चरक का कर्त्ता बौद्ध जातकों में प्रसिद्ध एवं तक्षशिला में आयुर्वेद का अध्यापक, तथा कुमारभृत्य जीवक का गुरु "आत्रेय" है, ऐसा हार्नले महोदय कल्पना करते हैं ।

उपर्युक्त महोदय की कल्पना को यदि सत्य मान लें तो चरक के निर्माण का समय वही है जो कि अजातशत्रु का है, क्योंकि जीवक भगवान् बुद्ध और अजातशत्रु समकालीन थे ।

(१) अजातशत्रु के पाटलिपुत्र नगर को बसाने के समय भगवान् बुद्धदेव ने भविष्यवाणी की थी ।

---

* (१) पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः ।
मनोवाक्कायदोषाणां हर्त्रेऽहिपतये नमः ॥—चक्रपाणि

(२) शब्दानामनुशासनं विदधता पातञ्जले कुर्वता
वृत्तिं राजमृगाङ्कसंज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके ॥
वाक्चेतोवपुषां मलं फणिभृतामत्रैव येनोद्धृता
तस्य श्रीरणरंगमल्ल नृपतेर्वाचो जयन्त्युज्ज्वलाः ॥

भोजकृत पातंजलसूत्रवृत्ति

(३) "इति चरके पतंजलि...—नागेशभट्ट

(४) यदा मत्स्यावतारेण हरिणा वेदमुद्धृतम् ।
तदा शेषश्च तत्रैव वेदं सांगमवाप्तवान् ॥
अथर्वान्तरगतं सम्यगायुर्वेदञ्च लब्धवान् ॥ —भावप्रकाश

(२) जीवक ने भगवान् बुद्ध की चिकित्सा की थी।

(३) भगवान् का निर्वाण अजातशत्रु के राज्याभिषेक के आठवें वर्ष में हुआ था।

परन्तु इस कल्पना को स्वीकार करने में आपत्ति यह है कि चरक में बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों के विरुद्ध बहुत सी बातें पाई जाती हैं। यथा—

(१) वेद आप्त हैं*।

(२) परमात्मा-जीवप्रकृति का निरूपण†।

अत: ऐसी अवस्था में उपर्युक्त महोदय की कल्पना को सत्य मानना युक्तिसंगत नहीं जँचता। हार्नले महोदय को भ्रान्ति हो गई है, क्योंकि चरक के कर्त्ता एवं तक्षशिला के अध्यापक का एक ही नाम (आत्रेय) है।

अन्य विद्वानों ने हार्नले महोदय की कल्पना के आधार पर पतंजलि के समय को निश्चित करने का प्रयत्न किया है। इस प्रयत्न में उन्होंने महाभाष्य से भी पर्य्याप्त लाभ उठाया है जैसा कि हम आगे देखेंगे।

चरक में ही तीन "आत्रेय" सुनाई पड़ते हैं। उनका परस्पर भेद करने के लिये प्रत्येक नाम के साथ दूसरा वाक्य जोड़ रखा है। यथा पुनर्वसुआत्रेय, कृष्णात्रेय और भिक्षुक आत्रेय।

कई विद्वान् इन तीनों को भिन्न-भिन्न मानते हैं;‡ दूसरे प्रथम दोनों नामों को पर्य्याय गिनते हैं। इनकी दृष्टि में दो ही आत्रेय हैं। तीसरे विचारक "भिक्षुक आत्रेय" नाम काल्पनिक मानते हैं। इनके विचार में न तो इस नाम का कोई व्यक्ति था और न रसनिर्णय या आयुर्वेद-प्रचार के लिये कोई सभा वास्तविक रूप में हुई थी। सभाओं का वर्णन इनकी कल्पना में काल्पनिक ही है।

* तत्राप्तस्तावद् वेदः।—चरक

† देखिए चरक शारीर अध्याय १; शरीर अध्याय ४

‡ देखिए महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन एम० ए०, एल० एम० एस० कर्तृक प्रत्यक्ष शरीर का उपोद्घात, पृष्ठ ३२

(१) जीवक के गुरु का नाम भी भिक्षुक आत्रेय ही था। चरक का भिक्षुक आत्रेय (यदि कोई है) बौद्धकालीन आत्रेय से सर्वथा भिन्न है; क्योंकि भिक्षुक आत्रेय का खंडन पुनर्वसुआत्रेय द्वारा किया जाता है* ।

यदि चरक का कर्ता हार्न्ले महोदय की कल्पनावाला भिक्षुक आत्रेय मान लिया जाय तो यह खण्डन संगत नहीं होता, न इसकी कल्पना ही संभव होती है। क्योंकि अपने ही ग्रंथ में अपने मत का खंडन, अपने ही नाम से कोई नहीं कर सकता।

(२) भाष्यकार को वैद्यकशास्त्र का परिचय पर्याप्त था। क्योंकि भाष्य में वैद्यक संबंधी बातों की चर्चा स्पष्ट शब्दों में देख पड़ती है† ।

(३) इसके अतिरिक्त योगशास्त्र के सूत्रों का कर्त्ता भी पतंजलि ही कहा जाता है‡ । यह भी कुछ असंगत नहीं दीखता, यदि चरक का प्रतिसंस्कर्त्ता एवं योगसूत्रों का कर्त्ता एक ही है। क्योंकि चरक में पर्याप्त रूप में योगशास्त्र का वर्णन आता है§ ।

इस प्रकार चरक का प्रतिसंस्कर्त्ता, योगसूत्रों का निर्माता एवं भाष्यकार एक ही व्यक्ति ठहरता है। एक दूसरी बात यह है कि पाणिनि के सूत्र में "चरक" नाम आता है|| । कुछ विद्वानों की दृष्टि में पाणिनि भी तक्षशिला में भिक्षुक आत्रेय के साथ ही अध्या-

* देखिए चरक सूत्रस्थान उस्यंजः पुरुषीय अध्याय ।

† (१) नड्वल दोदकः पादरोगः। (२) वातपित्तश्लेष्मसांनिपातिकमिति। (३) दधित्रपुसो प्रत्यक्षो ज्वरः। (४) आयुर्घृतम् (५) घृत भोजनमारोग्यस्यादिः ।—महाभाष्य

‡ सूत्राणि योगशास्त्रे वैद्यकशास्त्रे संहितामूलम् ।
कृत्वा पतंजलिः मुनिः प्रचारयामास जगदिदं त्रातुम् ॥—पतंजलिचरित

§ (१) इत्यष्टमाख्यातं, योगिनां बलमैश्वरम् । —चरक शरीर १म. अ.
(२) योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्त्तनम् ।
मोक्षे निवृत्तिरशेषः योगो मोक्षप्रवर्त्तकः ॥—चरक

|| "कठचरकाल्लुक्"

पन कार्य करते थे। यदि इसको सत्य मान लें तो यह भी सत्य है कि पाणिनि से पूर्व "चरक" नाम प्रसिद्ध था, अन्यथा पाणिनि को क्या आवश्यकता पड़ी थी कि वे इस नाम को भी अपने यहाँ आश्रय देते, क्योंकि भाष्यकार के वचनों में एक अक्षर की कमी से व्याकरणी को पुत्रोत्पत्ति का आनंद, मिलता है यहाँ तो तीन अक्षर घटते थे। अस्तु।

वास्तव में बात यह है कि यजुर्वेद की एक शाखा चरक है। इनमें से कुछ चरकों ने सम्भवतः आयुर्वेद पर प्रथम कुछ लिखा होगा। उनको चरक नाम दे दिया गया होगा। इसलिये चरक का प्रथम संस्करण तब हुआ होगा जब कि आयुर्वेद की घटती कला थी। चढ़ती कला में संस्करण की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

हार्नले महोदय की कल्पना का पल्ला पकड़कर एवं भाष्य का सहारा लेते हुए कुछ विद्वान् पतंजलि का समय ईसा से दूसरी शताब्दी पूर्व का मानते हैं। इनकी दृष्टि में भाष्यकार पतंजलि पुष्य-मित्र का समकालीन है। परन्तु इस कल्पना की पटरी पर से समय के निर्णय की रेल चलाने में निम्न रुकावटें आती हैं।

(१) जिस समय "अभिमन्यु" काश्मीर में राज्य करता था, उस समय चन्द्राचार्य आदि भाष्य की छिन्न प्रति को दक्षिण से लाए थे। उन्होंने उसको संस्कृत करके उसका प्रचार किया एवं अपना स्वतंत्र व्याकरण भी बनाया; यह बात राजतरंगिणी से स्पष्ट है*।

अभिमन्यु के राज्य काल में मत-भेद है। "विल्फोर्ड" की दृष्टि में अभिमन्यु का राज्यकाल ईसा से चार सौ तेईस वर्ष पूर्व (४२३ बी० सी०) समाप्त होता है। "प्रिंसिप" तिहत्तर वर्ष ईसा से पूर्व मानता है। "लूमन" ईसा की चौथी शताब्दी के पीछे अभिमन्यु के राज्यकाल का आरम्भ मानता है। "बोथलिंग" प्रथम शताब्दी से पूर्व राज्याभिषेक का होना स्वीकार करता है।

---

* चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वा तस्मात्तदाऽगतम्
प्रवर्त्तितं महाभाष्यं स्वयं च व्याकरणं कृतम् ॥ —राजतरंगिणी

इस प्रकार की विभिन्नता में भी बोथलिंग और प्रिंसेप एक ही सम्मति के हैं। राजतरंगिणी के अनुसार अभिमन्यु का राज्यकाल ईसा से ३५० वर्ष पूर्व है। यदि यह मान लें कि अभिमन्यु का राज्यकाल ७३ ई० पू० में समाप्त होता है, तो इसका आरंभ-समय १०५ ई० पू० है। अभिमन्यु ने ३२ साल राज्य किया था। राज्य-काल के इस समय से प्रिंसेप और बोथलिंग विरुद्ध नहीं जाते।

चन्द्राचार्य आदि के भाष्य की प्रति दक्षिण में मिली है और वह भी छिन्नावस्था में। इससे स्पष्ट है कि भाष्य का प्रचार विशेष रूप से एक समय में हो गया था। अन्यथा उसके पुनः छिन्न रूप को संस्कृत करने की आवश्यकता न होती। प्रचार होने के लिये पर्य्याप्त समय की आवश्यकता है, विशेषतः भाष्यकार के समय थी।

भाष्यकार का जन्म एवं निवासस्थान उत्तरीय भारत में था। इस स्थान का नाम भाष्यकार के समय गोनर्द एवं वर्त्तमान काल में गोंडा (अवध प्रांत में) है। यह बात भाष्यकार के 'गोनर्दीय' नाम से स्पष्ट है*। अतः उत्तर से दक्षिण तक प्रचार होने के लिये समय की आवश्यकता है। यह समय वर्त्तमान काल की अपेक्षा और भी अधिक बढ़ जाता है जब कि हम भाष्य में यह पढ़ते हैं कि घनघोर जंगल में से गुजरने के लिये सहायक को लेकर चलना होता था और पार होने पर उसको छोड़ दिया जाता था†।

अतः इतने बड़े ग्रंथ का उत्तर से दक्षिण तक, धूम्रयानों के अभाव में, पैदल के मार्ग से प्रचार होने के लिये कम से कम दो सौ पचास वर्ष का समय तो चाहिए ही।

* (१) गोनर्दीयस्त्वाह ... भाष्यकारस्त्वाह इति कैयटः।
(२) गोनर्दीयपदं व्याचष्टे इति भाष्यकारः। —नागेशभट्ट।

† कश्चित्कान्तारे समुपस्थिते सार्थमुपादत्ते। स यदा निष्क्रांतारि भवति तदा सार्थं जहाति।

(२) सिकन्दर के भारत में आने का समय तीन सौ सत्ताईस वर्ष ईसा से पूर्व है। इसने "सांकल" नगर को नष्ट किया था जो कि इरावती के पूर्वीय किनारे पर स्थित था।

भाष्यकार को ईरावती के पूर्वीय किनारे पर स्थित एवं सिकन्दर द्वारा नष्ट किए हुए "सांकल" का ज्ञान नहीं था। क्योंकि यदि उनको ज्ञान होता तो "संकलादिभ्यश्च" इस सूत्र में अवश्य ही लिखते कि "संकलेन निवृत्तः सांकलो जनपदः इदानीं ध्वस्तः"। परन्तु भाष्य में इस कथन का अभाव ही भाष्यकार को सिकंदर से पूर्व का सिद्ध करता है।

एक दूसरी बात यह है कि भाष्य में "शाकल" शब्द आता है। इसको ग्राम रूप में बताया है*। यही गाँव बढ़कर कालांतर में नगर बन जाता है जिसको ६२९ ई० पू० में आनेवाले चीनी यात्री ह्युन्त्संग ने देखा था। यह ग्राम इरावती के पश्चिमीय किनारे पर स्थित था।

यदि यह कल्पना कीजिए कि शाकल और सांकल एक ही थे तो सिकंदर द्वारा नष्ट किए जाने पर उसका दर्शन चीनी यात्री को नहीं होना चाहिए था। इसके अतिरिक्त दोनों के नामों में जहाँ भिन्नता है, वहाँ उनकी स्थिति में भी भिन्नता है। एक (सांकल) इरावती के पूर्वीय किनारे पर था और दूसरा (शाकल) पश्चिमीय किनारे पर। सिकंदर ने पूर्वीय किनारे के सांकल को नष्ट किया था और भाष्यकार ने पश्चिमीय किनारे के शाकल ग्राम का कथन अपने भाष्य में किया, जिसको कि चीनी यात्री ने नगर के रूप में देखा था। गाँव का शहर में बदल जाना कोई अनहोनी बात नहीं। वर्त्तमान कालीन बड़े नगर भी कभी गाँव ही थे।

(३) पाणिनीय व्याकरण का "षष्ठी चाऽऽक्रोशे" यह एक सूत्र है। इस पर कात्यायन ने कई वार्त्तिक बनाए हैं। उनमें से एक वार्त्तिक का अर्थ है कि "देवानां प्रिय" यह शब्द मूर्ख अर्थ में समझना चाहिए।†

---

* शाकलं नाम वाहीकग्रामः। —भाष्य

† देवानां प्रियः इति च मूर्खे।

"देवानां प्रिय" यह दोनों पृथक् पद यज्ञीय पशु के लिये आते थे। परन्तु "देवानांप्रिय" यह समस्त पद बौद्ध ग्रंथों में आदरणीय अर्थ में आता था। इसलिये भाष्यकार को यह आवश्यकता पड़ती है कि वे इस वार्त्तिक को बदलें*।

यदि बौद्ध "देवानां प्रियः" इस वाक्य को आदरणीय समझते हैं तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। क्योंकि वर्त्तमान हिंदू भी हीन अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले हिंदू शब्द को अपने लिये आदरणीय गिनते हैं†।

(४) महावंश में लिखा है कि अजातशत्रु के कहने से जिस समय भगवान् बुद्ध पाटलिपुत्र में रहते थे, उस समय अजातशत्रु ने शोण नदी के किनारे एक किला बनवाना आरंभ किया था। तब भगवान् ने भविष्यवाणी की थी—"भविष्य में किसी समय यह बड़ा भारी नगर होगा" कुछ दूर चलकर फिर आनन्द को संबोधन करते हुए भगवान् ने कहा था—"मनुष्य जिसको इतने परिश्रम से बना रहा है, वह नहीं जानता कि इसका क्या अन्त होगा। जल, वायु और अग्नि इस पाटलिपुत्र को नष्ट कर देंगे।"

भगवान् की वाणी फलती है। पाटलिपुत्र महान् नगर बनता है और यही तीनों शक्तियाँ इसका अन्त करती हैं। पहला पाटलिपुत्र शोण के किनारे या उसके आसपास था। परंतु दूसरा पाटलिपुत्र गंगा के किनारे पर था, जिसको अजातशत्रु के प्रपौत्र उदयाश्व ने बनवाया था।‡

भाष्य में शोण नदी के किनारेवाले पाटलिपुत्र का वर्णन है। गंगा के किनारेवाले पाटलिपुत्र का कथन सर्वथा नहीं है§।

अजातशत्रु के प्रपौत्र उदयाश्व ने ही गंगा के दक्षिण किनारे पर "कुसुमपुर" नाम का नगर बसाया था। इसी का दूसरा नाम

---

* देवानां प्रिय इति चोपसंख्यानं कर्त्तव्यम्।

† हीनं च दूषयंत्यस्मात् हिन्दुः।—मेरुतंत्र

‡ देखिए वायुपुराण।

§ अनुशोणं पाटलीपुत्रम्।

"पुष्पपुर" था। कुसुमपुर का नाम मुद्राराक्षस में मिलता है। गंगा के किनारे बसाए हुए पाटलिपुत्र का नाम हितोपदेश में आया है*।

मुद्राराक्षस का चाणक्य और हितोपदेश का कर्त्ता विष्णुमित्र शर्मा एक ही समय के व्यक्ति हैं, यह बात मुद्राराक्षस से स्पष्ट है†।

अतः यह स्पष्ट है कि भाष्य का शोण के किनारे बसा हुआ पाटलिपुत्र गंगा के किनारे बसे पाटलिपुत्र से प्राचीन है। पाटलिपुत्र भगवान् बुद्ध के निर्वाण-काल के पचास साल बाद उन्नत हुआ था, तभी भाष्य लिखा गया था।

(५) बौद्ध ग्रंथों में "निर्वाण" शब्द विशेष महत्त्व का है। यदि भाष्यकार पुष्यमित्र के समकालीन होते तो अवश्य "निर्वाणो गते" इस सूत्र के भाष्य में निर्वाण की गूँज सुनाते। इससे स्पष्ट है कि भाष्यकार के समय तक इसको विशेष महत्त्व नहीं मिला था।

(६) भाष्य में "पुष्यमित्र और चन्द्रगुप्त" नाम आते हैं‡। इसके साथ ही पतञ्जलि का पुष्यमित्र को यज्ञ कराना भी भाष्य में लिखा है। इसी वाक्य की नौका के द्वारा विचारक 'पुष्यमित्र का समकालीन पतंजलि था, इस निर्णय के किनारे पर पहुँचते हैं§।

परन्तु इस कल्पना में भी निम्न विकल्पनाएँ की जा सकती हैं।

(७) पुष्यमित्र और चन्द्रगुप्त का नाम क्यों न उसी प्रकार कल्पित माना जाय, जिस प्रकार भाष्य में विष्णुमित्र और देवदत्त के नाम कल्पित हैं||?

* (१) स्वयमेव सुगांगप्रासादशिखरगतेन देवेनावलोकितम्प्रवृत्त-कौमुदीमहोत्सवं कुसुमपुरम्।—मुद्राराक्षस

(२) अस्ति भागीरथीतीरे पाटलीपुत्रं नाम नगरम्।—हितोपदेश।

† अस्ति मम सहाध्यायी मित्रं विष्णुमित्रशर्मा नाम।—मुद्राराक्षस।

‡ पुष्यमित्रसभा चन्द्रगुप्तसभा।—भाष्य।

§ इह पुष्यमित्रं याजयामः।—भाष्य।

|| (१) यथा देवदत्त इह भुक्त्वा......

(२) स इहस्थं पाटलीपुत्रस्थं देवदत्तमुपादिशति⋯अंगदी कुण्डली ...ईदृशो देवदत्तः।

(ख) पुष्यमित्र और चन्द्रगुप्त नाम के व्यक्ति सम्भवत: उस समय में भी हों, जिस प्रकार आज कल सुनाई देते हैं।

(ग) यज्ञ कराने की बात भी उसी प्रकार कल्पित हो सकती है, जिस प्रकार विष्णुमित्र का गुरुकुल में कष्ट में रहना कल्पित है*।

(७) महाभाष्य में साकेत के यवनों द्वारा अवरोध होने तथा माध्यमिका के घिर जाने का वर्णन है†। विचारकों का कथन है कि चूँकि साकेत पर ग्रीक नृपति मिलिन्द ने आक्रमण किया था, अत: भाष्य में इसी का वर्णन है। परन्तु इस कल्पना में भी निम्न आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं—

(क) "माध्यमिक" शब्द बौद्धों के एक संप्रदाय का नाम है जिसका जन्मदाता अथवा अग्रणी नागार्जुन था। नागार्जुन के शास्त्रार्थ का वर्णन राजतरंगिणी में आता है‡ जो कि अभिमन्यु के राज्यकाल में होता है। और अभिमन्यु के समय में ही चंद्राचार्य आदि भाष्य की छिन्न प्रति को दक्षिण से लाए थे। ऐसी अवस्था में मिलिन्द के साकेत पर किए गए आक्रमण को भाष्य में से निकालना विलक्षण ही मालूम होता है।

(ख) माध्यमिक शब्द बृहत्संहिता और मनुस्मृति में भी आता है। इनके अनुसार मध्य देश का नाम माध्यमिक है§।

---

* पश्य देवदत्त कष्टं श्रितो विष्णुमित्रं गुरुकुलम्। —भाष्य।

† अरुणद्यवनः साकेतम्। अरुणद्यवनो माध्यमिकाम्।

‡ अथ निष्कण्टको राजा कटकोत्सागुदारदः।
आविर्बभूवऽभिमन्युः शतमन्युरिवापरः॥
स्वनामांक शशांक शेखरं विरचय्य सः।
परार्ध्यविभवं श्रीमानभिमन्युपुरं व्यधात्॥
चन्द्राचार्यादिभि···व्याकरणं कृतम्।
तस्मिन्नवसरे बौद्धा देशे प्रबलतां ययुः।
नागार्जुनेन सुधिया बोधिसत्त्वेन पालिता।
ते वादिनः पराजित्य वादेनिखिलान् बुधान्॥—राजतरंगिणी
१४७४-१४७९

§ (१) हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्य पुरानशनादपि।

(ग) यवन शब्द से मिलिन्द का अर्थ ग्रहण करना ठीक नहीं जान पड़ता। क्योंकि यवन शब्द महाभारत और हरिवंश पुराण में भी आया है*।

अत: यवन और साकेत या माध्यमिक शब्द से ही पतंजलि को ईसा की दूसरी शताब्दी से पूर्व का मानना युक्तिसंगत नहीं है।

(८) भाष्य में वासवदत्ता की आख्यायिका का वर्णन आता है†; अत: कुछ लोग भाष्यकार को और भी पीछे खींचना चाहते हैं। परंतु इनको स्मरण रखना चाहिए कि—

(क) वासवदत्ता में रामायण, हरिवंश और विक्रमादित्य का नाम आता है‡। । विक्रमादित्य अभिमन्यु के बहुत पीछे हुआ है। भाष्य की प्रति अभिमन्यु के राज्यकाल में मिली है; और सुबंधु विक्रमादित्य के पीछे हुआ है।

(ख) कालिदास विक्रम के नवरत्नों में गिना जाता है। ऐसी अवस्था में यदि भाष्य सुबंधु के पीछे—दूसरे शब्दों में विक्रमादित्य के पश्चात् (क्योंकि सुबंधु विक्रमादित्य के पीछे हुआ है) बना माना जाय तो भाष्य में भी सिद्धांतकौमुदी की भाँति कालिदास या भारवि के उन उदाहरणों का दर्शन होना चाहिए जिनको कि भट्टोजी दीक्षित ने चुना है§।

प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्त्तितः ॥ —मनु

(२) मद्रारि मंद माण्डव्य सात्वनि यां जिहासं ख्यातः।
मरुवत्सघोषायामनुसरस्वत्याः माध्यमिकाः ॥—बृहत्संहिता।

* जरासंध का प्रतिद्वंद्वी "कालयवन" था। देखिए हरिवंश।

† आख्यायिका वासवदत्तिकाः।

‡ रामायणेनैव सुंदरकांडचारुणा भारतेनैव सुपर्वहरिवंशैरिव पुष्कर-प्रादुर्भावरमणीयैः। सा रसवत्ता विहिता, नवका विलसंति चरति नो कंकः। सरसीव कीर्त्तिशेषे गतवति भुवि विक्रमादित्ये। वासवदत्ता

§ (१) शर्वरस्य तमसो निषिद्धये। (२) अवैहि—इत्यत्र बृहिरसाधुरेव (अवेहि मां किंकरमष्टमूर्त्तेः) रघुवंश।

(३) अनुदितैपसरामा, समानकालीनम्—प्राक्कालीनम्—भारवि

(ग) इसके अतिरिक्त कैयट ने भी भाष्यकार के वचनों को ही उदाहरण के लिये चुना है* ।

इससे स्पष्ट है कि पतंजलि तो सुबंधु से पीछे का नहीं। रही आख्यायिका की बात; सो सम्भवत: किसी सज्जन ने, जो कि सुबंधु की रचना पर मुग्ध थे, सुबंधु के पीछे या उसी के समय में अथवा संस्करण करते हुए यह पाठ जोड़ दिया होगा ।†

(६) एक और भी कल्पना है। इस कल्पना की दृष्टि से भाष्यकार पतंजलि और व्याकरण के कर्त्ता पाणिनि समकालीन हैं। उनकी युक्ति यह है कि—

पतंजलि का दूसरा नाम पिंगल है, अत: पतंजलि पाणिनि के समकालीन थे‡। परंतु इसमें निम्न कई विघ्न आ जाते हैं—

(क) भाष्यकार ने स्पष्ट रूप से आचार्य एवं अपने में भेद किया है§ ।

(ख) आचार्य (पाणिनि) की समकालीन बातों का निर्देश "पुराकल्प" शब्द से किया गया है|| ।

* (१) आदित्यश्चाभिप्राते सजाते। सजाते इति भाष्यकारवचनादात्मनेपदम् ।—कैयट

(२) भाष्यकारस्तु स्वकल्पितृको, मकल्पितृको इति रूपे इष्टापत्तिं कृत्वा इदं सूत्रं प्रत्याचख्यौ ।

† यह भी प्रसिद्ध कर दिया गया है कि पतंजलि सुबंधु की रचना पर मुग्ध थे—यथा "यत्र लालायितः फणी"

‡ भगवता पिंगलेन पाणिन्युजेत ।

§ एवं विप्रतिपन्नेभ्यो बुद्धिभ्योऽध्येतृभ्यः आचार्य सुहृद् भुक्त्वा इदं शास्त्रं व्याचष्टे ।—भाष्य

|| पुरा कल्प एतदासीत् षोडशमासा कार्षापणम्.

(ग) पिंगल शब्द छांदोग्य उपनिषद् में भी आता है* ।

(घ) पिंगल नाम अन्य कई वस्तुओं का भी है† ।

अतः नाम-सादृश्य देखकर एक के सिर पर दूसरे का सेहरा बाँधना उचित नहीं जँचता‡ ।

---

* या एता पिंगलस्य नाड्यस्ता पिंगलस्याणिम्नः तिष्ठति ।—छांदोग्य

† आदित्यःपिंगलः ।

‡ यह लेख बंबई के सुप्रसिद्ध वैद्य हरिप्रपन्नजी के रसयोगसागर के उपोद्घात के आधार पर लिखा गया है; अतः लेखक उनका आभारी है ।

(१०) सोलंकी राजा जयसिंह (सिद्धराज)

[लेखक—महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा; अजमेर]

गुजरात के सोलंकी (चौलुक्य) राजाओं में जयसिंह (सिद्ध-राज) बड़ा ही प्रतापी, वीर, धार्मिक, दानी, अनेकदेशविजयी और प्रजा-पालक हुआ। उसका देहांत हुए ७८६ वर्ष हो चुके हैं, तो भी गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, मालवा, राजपूताना आदि देशों में उसकी कीर्ति का सुवास अब तक विद्यमान है और गुजरात आदि के ग्रामीण लोग भी 'सधरा जैसिंग' (सिद्धराज जयसिंह) नाम से अब तक उसे याद करते हैं। ऐसे प्रतापी राजा का कोई जीवन-चरित्र अब तक प्रसिद्धि में नहीं आया, अतएव उससे संबंध रखने वाली मुख्य मुख्य घटनाओं का संग्रह, संस्कृत आदि भाषाओं के अनेक ग्रंथों तथा शिलालेखादि से, इस लेख द्वारा किया जाता है।

जयसिंह के विरुद 'महाराजाधिराज,' 'परमेश्वर,' 'परमभट्टारक,' 'त्रिभुवनगण्ड,'* 'बर्बरकजिष्णु,†' 'अवन्तीनाथ,'‡ 'सिद्धचक्रवर्ती'§ और 'सिद्धराज' मिलते हैं। उनमें से अंतिम विरुद तो इतना प्रसिद्ध है कि बहुधा उसके नाम के स्थान में प्रयुक्त होता है या उसके नाम के पूर्व लगाया जाता है।

जयसिंह की बाल्यावस्था

गुजरात के राजा चौलुक्य-राज कर्णदेव के पश्चात् उसका पुत्र जयसिंह (सिद्धराज) तीन वर्ष की छोटी अवस्था में विक्रम संवत् ११५० (ई० स० १०९३) में गद्दीनशीन हुआ। ऐसे समय में स्वार्थी लोगों की बन आवे, यह साधारण बात है। वैसा ही जयसिंह के समय में भी हुआ।

---

* त्रिभुवनवीर।

† बर्बरक को जीतनेवाला।

‡ मालवे का स्वामी।

§ सिद्धों में चक्रवर्ती के समान।

आचार्य हेमचंद्र ने लिखा है—"कर्ण के देहांत के बाद देवप्रसाद* ने भी शीघ्र ही सरस्वती के तट पर अग्निप्रवेश कर स्वर्ग का मार्ग लिया†।" इस प्रकार उसके जल मरने का कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए। संभव है उसने राजा को बालक देख उसका राज्य छीन लेने का यत्न किया हो और उसमें निष्फल हो जाने के कारण उसे ऐसा करना पड़ा हो। प्रबंध-चिंतामणि से पाया जाता है कि कर्ण के मरते ही उसके मामा, उदयमती के भाई, मदनपाल का जोर बढ़ा और वह अत्याचार करने लगा। एक दिन उसने लीला नामक राजवैद्य को, जिसकी नगर में बड़ी प्रतिष्ठा थी, अपने घर पर बुला भेजा और कैद करने का भय दिखाकर उससे ३२००० रुपए लिए, जिससे वह १३ दिन बाद मर गया। इस पर मंत्री साँतू ने उस अत्याचारी (मदनपाल) को मरवा डाला‡। फिर साँतू, उदयन, मुंजाल आदि मंत्रियों की सहायता से जयसिंह की माता मीनलदेवी राज्यकार्य चलाने लगी।

जयसिंह की माता (मीनलदेवी) बड़ी भेट लेकर सोमनाथ की यात्रा को चली और बाहुलोड़§ नगर में पहुँची, जहाँ पर यात्रियों से

जयसिंह की माता का सोमनाथ-यात्रा का कर छुड़ाना

यात्रा संबंधी राज का कर लिया जाता था। जो यात्री कर नहीं दे सकते उनको पंचकुल|| लोग सताते और बिना सोमनाथ की यात्रा किए ही लौटा देते थे, जिससे वे बहुत दुःखी होते थे। उनके दुःख से दुःखित होकर मीनलदेवी भी बिना यात्रा किए वहाँ

---

* देवप्रसाद कर्णदेव के भाई क्षेमराज का पुत्र और जयसिंह (सिद्धराज) का चचेरा भाई था।

† द्व्याश्रय महाकाव्य; सर्ग ११, श्लोक ११५।

‡ मेरुतुंग-रचित; प्रबंध-चिंतामणि; पृष्ठ १३४-३६।

§ यह आज कल 'भोलाड़' नाम से प्रसिद्ध है और गुजरात तथा काठियावाड़ की सीमा पर धोलका से २२ मील दूर नैऋत्य कोण में है।

|| राजकीय कर उगाहनेवाली राजसेवकों की संस्था। भाषा में पंचकुल से बिगड़कर "पंचोली" बना है। 'पंचोली' शब्द मेवाड़ और मारवाड़ में

से लौट आई। मार्ग में सिद्धराज उससे मिला और उसने उसके लौट आने का कारण पूछा, जिस पर मीनलदेवी ने कहा कि जब तक यात्रियों पर का कर मुक्त न कर दिया जायगा तब तक मैं न तो सोमनाथ को प्रणाम करूँगी और न भोजन ग्रहण करूँगी। यह सुनकर जयसिंह ने जब पंचकुल लोगों को बुलाकर उक्त कर का आज्ञापत्र देखा तब यह जान करके भी कि उक्त कर से राज्य की ७२०००००* वार्षिक आय होती है, उसने अपनी माता को प्रसन्न करने के लिये वह पत्र तत्क्षण फाड़ डाला और यात्रा का कर छोड़ दिया। फिर मीनलदेवी ने जयसिंह सहित सोमनाथ की यात्रा कर वहाँ सुवर्ण भेट किया और सोने की तुला† की।

जयसिंह उपर्युक्त यात्रा को गया हुआ था, उस समय मालवा के परमार राजा नरवर्मा ने गुजरात पर चढ़ाई की। मंत्री साँतू ने उससे पूछा—"किस शर्त पर आप यहाँ से लौट जायँगे?" राजा ने उत्तर दिया कि तुम अपने स्वामी की सोमनाथ की यात्रा का पुण्य‡ मुझे दे दो तो मैं लौट जाऊँ। इस पर मंत्री ने उसके चरण धोकर उक्त पुण्य के दान का जल राजा के हाथ में छोड़ उसे लौटा दिया। यह वृत्तांत सुनकर जब जयसिंह उस पर

मालवा के राजा नरवर्मा की गुजरात पर चढ़ाई

सामान्य रूप से कायस्थ जाति के लिये प्रयुक्त होता है, परंतु उसका किसी एक जाति से संबंध नहीं है। जिनके पूर्वज पंचकुल के पद पर रहे उनके वंशज अब तक पंचोली कहलाते हैं। कायस्थों के अतिरिक्त ब्राह्मण, गूजर, महाजन तथा दूसरी जातियों में भी अब तक पंचोली उपनामवाले पुरुष मिलते हैं। कायस्थ जाति के लोग राजपूताना आदि में बहुधा राजसेवा में ही रहते और उनमें से अधिकांश समय समय पर राजकर उगाहते थे, जिससे वे वहाँ पर 'पंचोली' कहलाने लगे।

* ७२००००० द्रम्म होने चाहिएँ। यह संख्या भी अतिशयोक्ति से खाली नहीं प्रतीत होती।

† प्रबंध-चिंतामणि; पृष्ठ १३९-४०

‡ वही; पृ० १४२।

क्रुद्ध हुआ तब उसने निवेदन किया कि महाराज यदि आप यह मानते हों कि मेरा दिया हुआ आपका पुण्य दूसरे को मिल सकता हो तो लीजिए मैं उस राजा तथा अन्य पुण्यवान् पुरुषों का पुण्य भी आपको अर्पण कर देता हूँ। अपने देश पर चढ़ आए हुए शत्रु-सैन्य को लौटाने का कोई न कोई उपाय करना ही चाहिए। यह कहकर उसने राजा का क्रोध शांत किया*।

नरवर्मा की इस चढ़ाई से क्रुद्ध होकर जयसिंह ने सहस्रलिंग नामक धर्मस्थान की, जो बन रहा था, निगरानी का भार मंत्रियों तथा शिल्पियों को सौंपकर मालवा को प्रस्थान किया। १२ बरस तक लड़ाई चलती रही, किन्तु धारा का किला विजय न हो सका, जिससे उसने वहाँ से लौट चलने का विचार अपने मंत्री मुंजाल को जताया। मंत्री ने अपने गुप्तचरों द्वारा यह भेद मालूम कर राजा

* प्र० चि०; पृ० १४२। प्रबंध-चिंतामणिकार ने गुजरात पर चढ़ाई करनेवाले मालवा के राजा का नाम यशोवर्मा लिखा है, जो भ्रम ही है। वस्तुतः यह चढ़ाई नरवर्मा की होनी चाहिए, क्योंकि नरवर्मा के राजत्व-काल के दो शिलालेख मिले हैं, जो वि० सं० ११६१ (ई० सन् ११०४) तथा वि० सं० ११६४ (ई० सन् ११०७) के हैं। वि० सं० ११९० कार्तिक सुदि ८ को नरवर्मा का देहांत हुआ। उसके पीछे उसका पुत्र यशोवर्मा मालवा का राजा हुआ। जयसिंह (सिद्धराज) का देहांत वि० सं० ११९९ में हुआ। उज्जैन से मिले हुए वि० सं० ११९५ ज्येष्ठ वदि १४ के जयसिंह के एक शिलालेख से पाया जाता है कि उसने मालवा के राजा यशोवर्मा को जीता था और उस समय उसकी ओर से वहाँ का शासक नागर महादेव था। इससे निश्चित है कि वि० सं० ११९५ से पूर्व लड़ाई समाप्त हो जाने से मालवा पर जयसिंह का अधिकार हो गया था। गुजरात के ऐतिहासिक संस्कृत ग्रंथों से पता चलता है कि मालवा के राजा की गुजरात पर की चढ़ाई का बदला लेने के लिये ही जयसिंह ने यह चढ़ाई की थी और १२ वर्ष तक लड़ने के बाद जयसिंह का अधिकार मालवा पर हुआ था। यशोवर्मा की गद्दीनशीनी के बाद १२ वर्ष तक जयसिंह जीवित भी नहीं रहा था। वास्तव में मालवा के युद्ध का प्रारंभ नरवर्मा के समय में हुआ और यशोवर्मा के समय उसकी समाप्ति होकर मालवा पर जयसिंह का अधिकार हो गया था।

की खबर दी कि दक्षिण की ओर से हमला करने से ही किला टूट सकता है अन्यथा नहीं। इस पर जयसिंह ने अपने सैन्य सहित उसी ओर से हमला शुरू किया। फिर यशःपटह नामक हाथी से उधर के त्रिपोलियों के दो किवाड़ तुड़वाकर उसने दुर्ग में प्रवेश किया और यशोवर्मा को पकड़ लिया। उक्त देश को अपने अधिकार में लाने के पश्चात् जयसिंह यशोवर्मारूपी प्रत्यक्ष जयध्वज सहित अनहिलवाड़े पहुँचा और उसने बड़े समारोह के साथ नगर में प्रवेश किया। उस समय वह हाथी पर सवार था और उसने अपने पीछे यशोवर्मा को बिठलाया था, जिसके हाथ में लकड़ी* की बनी हुई नंगी तलवार दी थी। फिर उसने यशोवर्मा को अपने यहाँ के सब राजमहल तथा सहस्रलिंग आदि धर्मस्थान दिखलाए†। इससे यह पाया जाता है कि यशोवर्मा बड़ी वीरता से लड़ा था और एक अरसे के बाद इस युद्ध में विजय प्राप्त होने का मुख्य कारण मंत्री मुंजाल का शत्रु के पक्षवालों को गुप्त रीति से अपने पक्ष में कर लेना ही था। जयसिंह ने यशोवर्मा को कैद तो किया पर उसके साथ अपने बड़प्पन के योग्य उदार बर्ताव भी किया।

उपर्युक्त चढ़ाई के विषय में अरिसिंह लिखता है—"जयसिंह ने धारापति यशोवर्मा को अपने यहाँ कैद रखा‡" और द्व्याश्रय काव्य से पाया जाता है—"जयसिंह ने मालवा पर चढ़ाई कर उज्जैन को विजय किया और धारा नगरी को छीनकर यशोवर्मा को कैद किया।"

* प्रबंध-चिंतामणि से पाया जाता है कि जयसिंह ने अपने पीछे हाथी पर बैठनेवाले अपने शत्रु यशोवर्मा के हाथ में नंगी तलवार देने का प्रण किया था, परंतु मंत्री मुंजाल ने उसमें खतरा देख उसका विरोध किया और अपने स्वामी की प्रतिज्ञा के पालन के निमित्त ही उसके हाथ में लकड़ी की बनी हुई तलवार दी थी (पृ० १४१—१४७)।

† प्र० चि०; पृ० १४२—४६।

‡ बभार भूभारमसौ जयश्रीनिकेतनं श्री जयसिंहदेवः।
भाले रराज प्रतिराजकस्य राज्यप्रतिष्ठातिलको यदंकः॥ २४॥
यदीयकारागृहमाप्य धारापतिर्यशोवर्मनृपः सिषेवे॥ ३४॥
अरिसिंह; सुकृतसंकीर्तन; सर्ग २।

सोमेश्वर अपनी कीर्तिकौमुदी में लिखता है—"जयसिंह ने परमार राजा नरवर्मा को तोते की तरह काठ के पिंजरे में कैद कर उससे धारा नगरी छीन ली *" और वही लेखक सुरथोत्सव काव्य में मालवा के राजा का उसकी रानियों सहित कैद किया जाना बतलाता है † ।

जिनमंडन-रचित कुमारपालप्रबंध ‡ से पाया जाता है कि सिद्ध-राज जयसिंह ने १२ वर्ष लड़कर मालव देश की राजधानी धारा नगरी को विजयकर राजा नरवर्मा को जिंदा पकड़ लिया। इस युद्ध में उसकी तलवार १२ बरस नंगी रही, जिससे क्रुद्ध होकर उसने यह प्रतिज्ञा की कि नरवर्मा की खाल से अपनी तलवार का म्यान मढ़ाऊँगा; इसलिए उसके कैद होने के बाद वह उसके पैर की खाल उखड़वाने लगा, जिस पर मंत्रियों ने निवेदन किया—'महा-राज! नीतिशास्त्र में राजा को मारने का निषेध है, इसलिए इसे मारना उचित नहीं।' इस पर उसने उसको काठ के पिंजरे में कैद कर दिया§ ।

---

* मालवस्वामिनः प्रौढलक्ष्मीपरिवृढः स्वयम् ।
समित्यपरमारो यः, परमारानमारयत् ॥ ३० ॥
क्षिप्त्वा धारापतिं राजशुकवत् काष्ठपञ्जरे ।
यः काष्ठपञ्जरे कीर्तिराजहंसीं न्यवीविशत् ॥ ३१ ॥
राकेव जगृहे धारा नगरी नरवर्मणः ।
दत्ता येनाश्रुधारास्तु तद्वधूनां सहस्रधा ॥ ३२ ॥

कीर्तिकौमुदी; सर्ग २ ।

इसमें नरवर्मा से धारा नगरी छीनना लिखा है; जो भ्रम ही है ।

† नीतः स्फीतबलोऽपि मालवपतिः कारां स दारान्वितः ।

सुरथोत्सव; सर्ग १५, श्लोक २२ ।

‡ सोमसुंदर सूरि के शिष्य जिनमंडन ने वि० सं० १४९२ में कुमार-पाल-प्रबंध की रचना की थी ।

§ कुमारपाल-प्रबंध; पत्र ८, पं० १। जिनमंडन ने वि० सं० १४९२ में कुमारपाल-प्रबंध की रचना की, जिससे १३० वर्ष पूर्व के लेखक मेरुतुंग ने, यशो-वर्मा की खाल से सिद्धराज की तलवार का म्यान मढ़ाने की उसकी प्रतिज्ञा का

जयसिंहसूरि के लेख से पाया जाता है कि "राजा जयसिंह ने १२ बरस तक लड़कर धारा नगरी को विजय किया और नरवर्मा को कैद कर लेने के बाद उसका चमड़ा अपनी तलवार की म्यान पर मढ़ाकर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की *"।

चारित्रसुंदरगणि का लिखना है कि आलिग † नामक मंत्री को राज्य-रक्षा का भार सौंपकर जयसिंह ने बड़ी सेना के साथ मालवा पर चढ़ाई की। १२ वर्ष तक लड़ने के बाद धारा का राजा भाग गया, पर कुछ दिनों के पीछे उसने सिद्धराज की अधीनता स्वीकार कर ली। इस पर उस (सिद्धराज) ने उसका राज्य उसे लौटा दिया ‡।

उल्लेख नहीं किया, किंतु इसके विरुद्ध उसका यशोवर्मा के साथ उदार व्यवहार करना बतलाता है, जो अधिक विश्वसनीय है। जयसिंह का इतिहास लिखनेवाले दूसरे किसी संस्कृत लेखक ने भी उसकी ऐसी प्रतिज्ञा का उल्लेख नहीं किया है। ऐसी दशा में जिनमंडन के उक्त कथन को हम कपोलकल्पित ही समझते हैं।

* कृत्वा विग्रहमुग्रसैन्यनिवहैर्यो द्वादशाब्दप्रयं
प्राग्द्वारं विदलय्य पट्टकरिणा भंक्त्वा च धारापुरीम्।
बध्वा श्रीनरवर्मभूधवमदः मादाग्र...जितं
कोषं स्वं परिधाय खड्गमभवत्तीर्णप्रतिज्ञाभरः॥ ४१॥

कुमारपालचरित; सर्ग १

† आलिग को चारित्रसुंदरगणि जयसिंह का मंत्री बतलाता है, परंतु आलिंग (आलिग) नामक पुरुष को कुमारपाल ने अपना मंत्री बनाया था। प्रबंधचिंतामणि की एक प्रति (पृ० १४५–१४६) में जयसिंह के समय में आलिग नामक पुरोहित का नाम मिलता है।

‡ श्रीआलिगाख्यं सचिवं विमुच्य
स्वदेशरक्षार्थमसौ कृतार्थः॥
नृपो विशालेन बलेन साकं।
स मालवं कालसमो जगाम॥ ३४॥
कृत्वा विग्रहमुग्रमाग्रहवशाज्जग्राह धारां धराधीशो द्वादशवत्सरैर्बहुतरं बिभ्रच्चिरं मत्सरम्।

उपर्युक्त लेखकों में से मेरुतुंग, अरिसिंह तथा हेमचंद्र उक्त लड़ाई का यशोवर्मा के साथ होना बतलाते हैं और सोमेश्वर, जिनमंडनगणि तथा जयसिंहसूरि नरवर्मा के साथ होना मानते हैं। उज्जैन से मिले हुए वि० सं० ११९५ के जयसिंह के समय के शिलालेख में उसका यशोवर्मा को विजय करना लिखा है और उसी के समय के तलवाड़े (बाँसवाड़ा राज्य में) से मिली हुई गणपति की एक मूर्ति के नीचे खुदे हुए लेख में, जिसका संवत् नष्ट हो गया है, नरवर्मा के मानमर्दन किए जाने का उल्लेख है। हम ऊपर बतला चुके हैं कि यह लड़ाई नरवर्मा के समय प्रारंभ हुई और यशोवर्मा के समय में समाप्त हुई। इसका वर्णन करनेवालों में से केवल हेमचंद्र ही उस (जयसिंह) का समकालीन था, जिसने लिखा है कि जयसिंह ने यशोवर्मा को जीतकर कैद किया था, जो माननीय है। पिछले

आलोक्यातुलविक्रमं बहुबलं श्री गुर्जरेशं पुन-
र्नंष्ट्वा मालवपालकः स समयाभिज्ञोऽभजन्मण्डपम् ॥ ३५ ॥
अथ निजमभिमानं मालवेन्द्रः स हित्वा
क्रमयुगमनमच्छ्रीसिद्धराजः समेत्य।
शरणमिह महांतो भूमितानां महद्भि-
र्धरणिनिपतितानां भूमिरेवावलंबः ॥ ३६ ॥
प्रादाद्राज्यं प्रणतजनतावत्सलः सिद्धराज-
स्तस्मै श्रीमानुचितचतुरो मुक्तगर्वाय सर्वम् ॥ ३७ ॥

जयसिंह १२ वर्ष तक मालवा की लड़ाई में लगा रहा यह निश्चित है, तो भी चारित्रसुंदर गणि लिखता है—"कर्णाट, लाट, मगध, अंग, कलिंग, वंग, काश्मीर, कीर, मरु, मालव, सिंधु आदि देशों को १२ वर्ष में जीतकर सिद्धाधिप (जयसिंह) अपने नगर को लौटा।"

कर्णाटलाटमगधांगकलिंगवंग-
काश्मीरकीरमरुमालवसिंधुमुख्यान् ॥
देशान् विजित्य तरणिप्रमितैः स वर्षैः
सिद्धाधिपो निजपुरं पुनराससाद ॥ ३८ ॥

कुमारपालचरित, सर्ग १, वर्ग २।

उक्त सूरि का यह लिखना कपोलकल्पना मात्र है क्योंकि इस चढ़ाई में जयसिंह ने केवल मालवा को ही विजय किया था।

लेखकों में से, जिन्होंने नरवर्मा के कैद होने का हाल लिखा है, उनका कथन मानने योग्य नहीं है।

इस लड़ाई में विजयी होने पर जयसिंह ने 'अवन्तीनाथ' विरुद धारण किया और मालवा पर गुजरात के सोलंकियों का अधिकार हो गया। इस लड़ाई के समय में नाडौल के चौहान राजा आशाराज* (आसराज) ने, जो जयसिंह का सामंत था, बड़ी वीरता दिखलाई, जिससे प्रसन्न होकर सिद्धाधिराज (जयसिंह) ने उसे सुवर्ण का कलश दिया, ऐसा सूँधा के लेख से पाया जाता है †।

इस विजय से प्रसिद्ध चित्तोड़ के किले तथा मालवा से मिले हुए उसके निकट के प्रदेश पर भी जयसिंह का अधिकार हो गया ‡। जयसिंह के पीछे उस किले पर कुमारपाल का अधिकार हुआ। चित्तोड़ से कुमारपाल के दो शिलालेख मिले हैं। उस (कुमारपाल) के पीछे उसके भाई महिपाल का पुत्र अजयपाल गुजरात के राज्य-सिंहासन पर बैठा। संभवतः सामंतसिंह के साथ की लड़ाई में

---

* आशाराज नाडोल के चौहान राजा अणहिल्ल का पौत्र, जेंद्रराज का पुत्र और जोजल का छोटा भाई तथा उत्तराधिकारी था। इसे अश्वराज और आसराज भी कहते थे।

† श्री आशाराजनामा समजनि वसुधानायकस्तस्य वं (बं) धुः
साहाय्यं मालवानां भुवि यदसिकृतं वीक्ष्य सिद्धाधिराजः।
तुष्टो धत्ते स्म कुंभं कनकमयमहो यस्य गुप्यद्गुरुस्थं
तं हंतुं नैव शक्तः कलुषितहृदयः शेषभूपालवाग्भिः ॥ २६ ॥

एपिग्राफिया इंडिका ; जि० ६, पृ० ७६।

‡ मेवाड़ के गुहिलवंशी राजा बापा (कालभोज) ने चित्तौड़ का किला मोरियों (मौर्यवंशियों) से लिया ऐसी प्रसिद्धि है। फिर मालवा के परमार राजा मुंज ने मेवाड़ पर चढ़ाई कर उसकी राजधानी आघाटपुर (आहाड़) को तोड़ा (एपिग्राफिया इंडिका; जिल्द १०, पृ० २०-२१ श्लोक १०)। उस समय से चित्तोड़ का किला तथा मालवा से मिला हुआ उसके आसपास का प्रदेश मुंज के अधिकार में आ गया है, ऐसा पाया जाता है। मुंज के छोटे भाई सिंधुराज के पुत्र भोज ने, जिसका उपनाम 'त्रिभुवननारायण' था, चित्तोड़ पर त्रिभुवननारायण नामक विशाल शिवालय बनवाया, जिसको 'भोजजगती' भी कहा है। उसका

अजयपाल के घायल* होने के पश्चात् चित्तौड़ पर मेवाड़ के राजाओं का फिर अधिकार हुआ हो।

यह लड़ाई किस साल समाप्त हुई, यह कहीं ठीक ठीक लिखा नहीं मिलता। वि० सं० ११९१ में मालवे पर जयसिंह का अधिकार था, ऐसा उसके उत्तराधिकारी महाकुमार लक्ष्मीवर्मदेव के दानपत्र से निश्चित है† और वि० सं० ११९५ के उज्जैन के उपर्युक्त शिलालेख में जयसिंह का उपनाम 'अवन्तीनाथ' मिलता है तथा यशोवर्मा की हार का भी उल्लेख है; अतएव उक्त दोनों संवतों के बीच में किसी वर्ष यह युद्ध समाप्त हुआ होगा।

जीर्णोद्धार महाराणा मोकल ने कराया था। आबू पर के प्रसिद्ध विमलशाह के जीर्णोद्धार की वि० सं० १३७८ की प्रशस्ति से पाया जाता है—"चंद्रावती का परमार राजा धंधुक वीरों का अग्रणी था। जब उसने राजा भीमदेव (सोलंकी) की सेवा स्वीकार न की तब राजा (भीमदेव) उस पर क्रुद्ध हुआ, जिससे वह मनस्वी धारा के राजा भोज के पास चला गया। फिर राजा भीम ने प्राग्वाट (पोरवाड) वंशी मंत्री विमल को अर्बुद (आबू) का दंडपति (सेनापति, हाकिम) बनाया। उसने वि० सं० १०८८ में आबू के शिखर पर आदिनाथ का मंदिर बनवाया। इसी प्रसंग में जिनप्रभ सूरि अपने 'तीर्थकल्प' में लिखता है—"जब गुर्जरेश्वर (भीमदेव) राजानक धांधुक (राजा धंधुक) पर क्रुद्ध हुआ तब मंत्री विमल उस (धंधुक) को चित्रकूट (चित्तोड़) से ले आया और भक्ति से उसे प्रसन्न कर उसकी आज्ञा से वि० सं० १०८८ में आबू पर उसने बड़े व्यय से विमलवसही नाम का मंदिर बनवाया" (नागरीप्रचारिणी पत्रिका; भाग ३, पृ० ४-६)। इन दोनों कथनों को साथ लेने से यही पाया जाता है कि गुजरात के सोलंकी (चौलुक्य) राजा भीमदेव से बिगाड़ हो जाने पर आबू का परमार राजा धंधुक मालवा के परमार राजा भोज के पास चला गया। उस समय वह चित्तोड़ में रहता था। भोज के पीछे यशोवर्मा तक चित्तोड़ पर मालवा के परमारों का अधिकार रहा। जब सोलंकी जयसिंह ने मालवा को अपने राज्य में मिलाया तब से गुजरात के सोलंकियों का अधिकार उस किले पर हुआ।

* राजपूताने का इतिहास; जिल्द १, पृ० ४४८-५०।

† इंडियन एंटिक्वेरी; जिल्द १९, पृ० ३५३।

चारित्रसुंदरगणि लिखता है—'मालवा का राजा अपना अभिमान छोड़कर जयसिंह के पैरों पड़ा, जिससे उसने उसका राज्य उसे वापस दे दिया'। कुछ समय तक कैद रहने के बाद यशोवर्मा के अधीनता स्वीकार कर लेने पर जयसिंह ने उसे उसके राज्य का कुछ अंश लौटा दिया हो, यह संभव है।

जयसिंह का सौराष्ट्र विजय करना।

जयसिंह की वीरता के कार्यों में दूसरा सोरठ (सौराष्ट्र) के चूड़ासमा (यादव) राजा खंगार पर चढ़ाई करना है। इस चढ़ाई के संबंध में गुर्जरेश्वर पुरोहित सोमेश्वर अपनी 'कीर्तिकौमुदी' में लिखता है—"जयसिंह ने बड़े पराक्रमी सौराष्ट्र के राजा खंगार को द्वेषवश पीस डाला*। प्रबंधचिंतामणिकार ने अपने ग्रंथ में इस स्थल पर कुछ गड़बड़ कर दिया है। पहले वह लिखता है कि † अभीर जाति के राणक‡ (राणा) नवघण से अपनी सेना के ११ बार परास्त किए जाने पर वर्धमान § आदि नगरों में गढ़ बनवाकर सिद्धराज ने, स्वयं उस पर चढ़ाई की और उस (नवघण) के भानजे|| के संकेत के अनुसार उसके किले में

---

* अपारपौरुषोद्गा खंगारं गुरुमत्सरः।
सौराष्ट्रं पिष्टवानाजौ करिणं केसरीव यः ॥२५॥

कीर्तिकौमुदी; सर्ग २।

† अहीर। प्रबंध-चिंतामणिकार ने जूनागढ़ के चूडासमा (यादव) राजा को अभीर लिखा है और हेमचंद्र ने उसी वंश के राजा ग्राहरिपु को भी, जो मूलराज से लड़ा था, अभीर बतलाया है, परंतु चूडासमा राजाओं के शिलालेखों में उन्हें यादव लिखा मिलता है और अन्य राजपूत भी उनका यादव होना स्वीकार करते हैं। अतएव संभव है कि हेमचंद्र और मेरुतुंग ने अभीरों को यादवों की शाखा मानकर ऐसा लिखा हो।

‡ राणा।

§ वढवाण (काठियावाड़ में)।

|| भाटों की ख्यातों के अनुसार जूनागढ़ (गिरनार) के राजा के दो भानजे देशल और वेशल जयसिंह (सिद्धराज) के ही कुटुंबी थे। वे युद्ध के समय अपने मामा को छोड़कर जयसिंह के सहायक हो गए हों ऐसा प्रतीत होता है।

प्रवेश कर उसे मार डाला। फिर आगे चलकर प्रबंध-चिंतामणिकार उसकी रानी के शोकोद्गार के दोहों में उक्त राजा का नाम नवघण नहीं, किंतु खंगार लिखता है, जो ठीक है। वास्तव में जयसिंह की चढ़ाई नवघण पर नहीं, किंतु खंगार पर होनी चाहिए, जैसा कि कीर्तिकौमुदीकार ने लिखा है।

काठियावाड़ की जनश्रुति के अनुसार एक से अधिक बार जयसिंह का काठियावाड़ पर चढ़ाई करना पाया जाता है। भाटों की ख्यातों में भी लिखा मिलता है—"सिद्धराज ने नवघण की तलवार छीन ली और उसके अपने मुहँ में घास रख लेने पर उसे छोड़ दिया। इस पर उस (नवघण) ने यह प्रतिज्ञा की कि इसका बदला मैं पाटण के दरवाजे को तोड़कर लूँगा। इस प्रतिज्ञा को वह जीते जी पूर्ण न कर सका, जिससे अंत समय में उसने अपने चारों पुत्रों को अपने पास बुलाया, जिनमें से सब से छोटे खंगार* ने उसकी प्रतिज्ञा पूर्ण करने का प्रण किया। इसपर नवघण ने उसे ही अपना उत्तराधिकारी नियत किया। खंगार बड़ा प्रतापी हुआ। वह राणक देवड़ी† नाम की एक सुंदर स्त्री को, जिससे जयसिंह विवाह करना चाहता था, जबरदस्ती उठा ले गया

---

* भाटों की ख्यातों में तो खंगार को नवघण का सबसे छोटा तथा चौथा पुत्र लिखा है पर गिरनार पर के नेमिनाथ के मंदिर की प्रशस्ति में उसे नवघण का पौत्र और महीपाल का पुत्र लिखा है।

† राणक देवड़ी (राणक देवी) को भाट लोग सिंध के परमार राजा की पुत्री बतलाते हैं। साथ ही यह भी लिखते हैं कि उसके ग्रह देखकर ज्योतिषियों ने कहा कि जिसके घर में यह लड़की रहेगी उसका राज्य नष्ट हो जायगा। इस पर उसके पिता ने उसे जंगल में रखवा दिया, जहाँ से एक कुम्हार उसको उठाकर अपने घर लाया और उसने उसका पालन पोषण किया। फिर वह कुम्हार उस लड़की को साथ लेकर सोरठ के मजेवड़ी गाँव में चला गया। राणक देवड़ी का नाम अब तक सोरठ में प्रसिद्ध है और उसके विषय की अनेक कथाएँ वहाँ के निवासियों में प्रचलित हैं।

और उसने उसके साथ विवाह कर लिया। इस पर क्रुद्ध होकर जयसिंह ने खंगार पर चढ़ाई की, परंतु १२ बरस तक लड़ने पर भी वह जूनागढ़ में प्रवेश न कर सका। इसके उपरांत खंगार के दो भानजे देहल और जेहल (देसल और जयसल), जो किसी कारण उससे अप्रसन्न हो गए थे, रात में किले से निकलकर सिद्धराज से मिले और उन्होंने उसे किले में दाखिल कर दिया। फिर युद्ध हुआ, जिसमें खंगार मारा गया। सिद्धराज राणक देवड़ी को लेकर बढ़वाण आया जहाँ पर वह सती हुई*।"

भाटों की इस कथा में कुछ सत्यता अवश्य है। इससे पता चलता है कि जयसिंह की पहली चढ़ाई तो नवघण पर और दूसरी उसके पौत्र खंगार पर हुई, जिसमें खंगार मारा गया। जयसिंह के समय के वि० सं० ११९६ (ई० सन् ११३९) के दोहद† के लेख में सुराष्ट्र (सोरठ) के राजा का कैद किया जाना लिखा है‡। यह राजा नवघण ही प्रतीत होता है। संभव है प्रबंध-चिंतामणिकार ने दो भिन्न भिन्न घटनाओं को भूल से एक मान लिया हो और कीर्तिकौमुदी में केवल पिछली चढ़ाई का ही उल्लेख किया गया हो। ये घटनाएँ कब हुईं यह ठीक ठीक बतलाया नहीं जा सकता।

मेरुतुंगाचार्य प्रबंध-चिंतामणि में लिखता है—"इस विजय के बाद जयसिंह ने जांब§ के वंशज सज्जन को सुराष्ट्र (सोरठ) का

---

* अहमदाबाद की छपी हुई (कृष्णकविकृत) रत्नमाला के ८ वें रत्न के बाद किन्लॉक फार्ब्स की एकत्र की हुई ऐतिहासिक कथाएँ और जनश्रुतियाँ। पृ० २४६—२७०।

† गुजरात के पंचमहाल तालुके के दोहद जिले का मुख्य स्थान।

‡ श्रीजयसिंहदेवोस्ति भूपो गुर्जरमंडले।
येन कारागृहे क्षिप्तौ सुराष्ट्रमालवेश्वरौ ॥ १ ॥

इंडियन एंटिक्वेरी; जिल्द १०, पृष्ठ १५९.

§ जांब अनहिलवाड़े को बसानेवाले चावड़ा वंश के संस्थापक वनराज का महामात्य था। यह बड़ा ही वीर प्रकृति का महाजन था। प्र० चिं० पृ० ३२—३४।

दंडाधिपति* नियत किया। उसने अपने स्वामी की आज्ञा बिना ही तीन वर्ष की उक्त देश की आमद लगाकर उज्जयंत† पर्वत पर नेमीश्वर‡ के लकड़ी के बने हुए मंदिर के स्थान पर पत्थर का मंदिर बनवा दिया। चौथे वर्ष राजा जयसिंह ने उस (सज्जन) को पाटन बुलवाकर तीन वर्ष की आमद मांगी। इस पर उसने निवेदन किया कि 'महाराज! या तो आप तीन वर्ष की आय लें या उज्जयंत पर्वत पर के मंदिर के जीर्णोद्धार का पुण्य ग्रहण करें'। उसकी इस चतुराई से चकित होकर जयसिंह ने मंदिर के उद्धार का पुण्य ही स्वीकारकर उसे फिर उसी देश के अधिकार पर नियत किया§।

इसी विषय में जिनमंडन अपने कुमारपाल-प्रबंध में लिखता है—"राजा कर्णदेव ने सौराष्ट्र देश को विजय करने के बाद वामनस्थली|| में जाकर सज्जन को वहाँ का दंडनायक नियत किया। इसके पीछे मदनपाल¶ नामक मांडलिक राजा के निवेदन करने पर वह धनेश्वरसूरि + के साथ रैवताचल × पर चढ़ा।' वहाँ उसने नेमि-

* शासक, हाकिम।

† गिरनार पर्वत, जो सोरठ में जूनागढ़ नगर से करीब २ मील पर है।

‡ जैनों के २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ।

§ प्रबंध-चिंतामणि; पृ० १५९-६०।

|| जूनागढ़ से ९ मील पश्चिम की वनस्थली।

¶ यह शायद कर्णदेव की माता उदयमति का भाई हो, जिसे जयसिंह के राज्य के प्रारंभकाल में मंत्री सांत ने मरवा डाला था। जिनमंडन ने यह घटना कर्णदेव के समय की मानकर मदनपाल का उस समय विद्यमान होना लिखा है।

\+ शायद शत्रुंजय माहात्म्य का कर्ता धनेश्वर यही हो। यदि ऐसा है तो यह मानना पड़ेगा कि यह जयसिंह (सिद्धराज) के देहांत तक विद्यमान था। उपर्युक्त पुस्तक में इसने कुमारपाल का हाल लिखा है। इससे स्पष्ट है कि वह पुस्तक यद्यपि बहुत पुरानी मानी जाती है तो भी वास्तव में कुमारपाल के समय के पूर्व की नहीं हो सकती।

× गिरनार पर्वत। सामान्यतः गिरनार ही रैवताचल माना जाता है, परंतु वास्तव में गिरनार के नीचे की एक पहाड़ी का वह नाम है।

नाथ के काष्ठमय मंदिर को जीर्णावस्था में देखा। भद्रेश्वरसूरि की प्रेरणा से सज्जन ने राजा से उक्त मंदिर के जीर्णोद्धार की प्रार्थना की। इस पर उस उदार राजा ने सौराष्ट्र (सोरठ) की आमद से उक्त मंदिर का जीर्णोद्धार कराने की आज्ञा दी, जिस पर सज्जन ने पाषाण का मंदिर बनवाना शुरू किया पर उसके तैयार होने के पूर्व ही उसका देहांत हो गया, जिससे उसके पुत्र परशुराम ने अपने पिता के आज्ञानुसार उसे तैयार करवाकर उसकी प्रतिष्ठा कराई*।

इस प्रकार मेरुतुंग तो सज्जन को सोरठ का दंडाधिपति नियत करनेवाला जयसिंह, और जिनमंडन कर्णदेव मानता है। इनमें से मेरुतुंग का लिखना ठीक प्रतीत होता है क्योंकि सौराष्ट्र को विजय करनेवाला जयसिंह (सिद्धराज) ही था। जिनमंडन जयसिंह का तीन वर्ष की अवस्था में अनहिलवाड़े की गद्दी पर बैठना और कर्णदेव का कर्णावती नगरी बसाकर वहाँ पर २९ वर्ष राज्य करना मानता है †। यह उसकी भूल है। कर्णदेव ने, जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, ३० वर्ष के करीब राज्य किया और उसके देहांत के समय जयसिंह तीन वर्ष का था।

जयसिंह ने अजमेर के चौहान राजा अर्णोराज‡ (आना) पर भी चढ़ाई की थी, पर इसका विशेष वृत्तांत कहीं नहीं मिलता। सोमेश्वर कवि अपनी कीर्तिकौमुदी में लिखता है—'जयसिंह ने

* जिनमंडन रचित कुमारपाल-प्रबंध में कर्णदेव का वृत्तांत।

† कुमारपाल-प्रबंध में दिए हुए कर्णदेव के वृत्तांत का अंतिम भाग।

‡ अजमेर नगर बसानेवाले चौहान राजा अजयदेव का पुत्र। संस्कृत ग्रंथकारों ने उसका नाम आनलदेव और आनाक भी लिखा है, परंतु लोकप्रसिद्ध नाम आना था। अजमेर के पास आना सागर तालाब, जो अब तक विद्यमान है, उसी ने बनवाया था। वह वि० सं० १२०७ और १२१० (ई० सन् ११५० और ११५३) के बीच अपने ज्येष्ठ पुत्र जगदेव के हाथ से मारा गया।

शाकंभरी* के राजा अर्णोराज को परास्त कर अपने आगे नमाया, परंतु पीछे से उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया†।

चौहान अर्णोराज पर चढ़ाई

उसी ने अपने सुरथोत्सव काव्य में भी लिखा है कि 'सपादलक्ष के अभिमानी राजा (अर्णोराज) को (जयसिंह ने) अपने पैरों के आगे झुकाया।‡'

इस चढ़ाई का कोई लिखा हुआ कारण तो नहीं मिलता, परंतु ऐसा जान पड़ता है कि जयसिंह ने साँभर के चौहान राजा दुर्लभराज (दूसल तीसरे) से, जिसने उसके पिता को किसी लड़ाई में हराया था § (हम्मीर महाकाव्य में मारना लिखा है, सर्ग २ श्लोक ३१), बदला लेने के लिये चौहान राज्य पर चढ़ाई की होगी

* राजपूताने में चौहानों की प्रथम राजधानी शाकंभरी (साँभर) थी, जिससे साँभर के चौहान राजा तथा सरदार शाकंभरीश्वर कहे जाने लगे और अब तक उनको भाट आदि "सँभरी राज" कहकर संबोधन करते हैं। अर्णोराज के समय अजमेर चौहानों की राजधानी का नगर था और साँभर भी उन्हीं के अधीन था।

† अमर्षणं मनः कुर्वन्विपक्षोर्वीभृदुन्नतौ।
अगस्त्य इव यस्तूर्णमर्णोराजमशोषयत् ॥ २७ ॥
गृहीता दुहिता तूर्णमर्णोराजस्य विष्णुना।
दत्तानेन पुनस्तस्मै भेदोभूदुभयोरयम् ॥ २८ ॥
छिन्नां शीर्षाणि लूनानि दृष्ट्वा तत्पादयोः पुरः।
चक्रे शाकंभरीशोपि शंकितः प्रणतं शिरः ॥ २९ ॥

कीर्तिकौमुदी, सर्ग २।

‡ दृप्तः सोऽपि सपादलक्षनृपतिः पादानतिं शिक्षितः,
श्री सिद्धक्षितिपेन सैष विभवः सर्वोऽपि यस्याशिषाम् ॥ २२ ॥

सुरथोत्सव काव्य; सर्ग १५, श्लोक २२।

§ प्रबंधकोष की हस्तलिखित पुस्तक के अंत में दी हुई सपादलक्ष के चौहान राजाओं की वंशावली, जो प्रबंध-चिंतामणि (पृ० ५२–५४) में प्रकाशित हुई है। पृथ्वीराज-विजय में दुर्लभराज (दूसल) के भाई और उत्तराधिकारी विग्रहराज के, गुजरात के राजा कर्ण को जीतनेवाले परमार उदयादित्य को अश्व से सहायता देने का उल्लेख है (पृथ्वीराजविजय; सर्ग ५, श्लोक ७६-७८)।

और विजय के बाद सुलह हो जाने पर अर्णोराज से अपनी पुत्री का विवाह कर दिया होगा।

सोमेश्वर का उपर्युक्त लेख सच्चा* अवश्य है क्योंकि कश्मीरी कवि जयानक रचित पृथ्वीराजविजय काव्य† से भी पाया जाता है कि गुजरात के राजा जयसिंह ने अपनी पुत्री कांचनदेवी का अर्णोराज के साथ विवाह किया था और उससे सोमेश्वर का जन्म हुआ‡ जिसे जयसिंह ने अपने पास रखकर पाला पोसा।

सिंध के राजा पर चढ़ाई

कीर्तिकौमुदी में लिखा है—"असंख्य अश्वसेना वाले तथा अनेक राजाओं को विजय करनेवाले जयसिंह ने रामचंद्र की तरह सिंधुपति§ (सिंध देश के राजा) को बाँधा||" और सुरथोत्सव काव्य में भी बड़े

---

* जयसिंह के ही समय के दोहद के लेख से विदित होता है कि उसकी आज्ञा को उत्तर के राजा शिरोधार्य करते थे। अज्ञां शिरसि शेषेव (?) वाहिता उत्तरे नृपाः ॥ २ ॥

इंडियन ऐंटिक्वेरी; जिल्द १० पृ० १५९।

यहाँ पर उत्तर के राजाओं से तात्पर्य, गुजरात के उत्तर के राजाओं अर्थात् चौहानों से होगा।

† यह काव्य शहाबुद्दीन गोरी से लड़नेवाले प्रसिद्ध चौहान राजा पृथ्वीराज के समय में लिखा गया था और चौहानों के प्राचीन इतिहास के लिये बहुत उपयोगी है, परंतु खेद है कि अब तक उसकी केवल एक ही प्रति मिली है जो अपूर्ण है और जिस पर द्वितीय राजतरंगिणी के कर्ता कश्मीरी पंडित जोनराज की टीका भी है।

‡ भोजपत्र पर लिखी हुई पृथ्वीराजविजय की उपलब्ध अपूर्ण प्रति में उक्त आशयवाला श्लोक तो नष्ट हो गया है पर उस टीका में, जो बच गई है, स्पष्ट लिखा है—

"गूर्जरेंद्रो जयसिंहस्तस्मै यां दत्तवान् सा कांचनदेवी रात्रौ च दिने च सोमं सोमेश्वरसंज्ञमजनयत्"—पृ० वि०; सर्ग ६, श्लोक ३४ की टीका।

§ रामचंद्र के संबंध में 'सिंधुपति' का अर्थ 'समुद्र' और जयसिंह के पक्ष में 'सिंध देश का राजा' है।

|| असंख्यहरिसैन्येन प्रचितानेकभूभृतः।
बद्धः सिंधुपतिर्येन वैदेहीदयितेन वा ॥ २६ ॥

कीर्तिकौमुदी; सर्ग २।

ही प्रतापवान् सिंधु (सिंध) देश के राजा को बाँधना लिखा है* ।

इस चढ़ाई के विषय में उक्त ग्रंथों में और कुछ भी लिखा हुआ नहीं मिलता, परंतु स्वयं जयसिंह के समय के वि० सं० ११९६ (ई० सन् ११३९) के दोहद के लेख में सिंधुराज (सिंध के राजा) को जीतना लिखा है† । इससे निश्चित है कि जयसिंह ने सिंध देश पर चढ़ाई की थी ।

राजशेखर‡ प्रणीत चतुर्विंशति प्रबंध से पाया जाता है कि जयसिंह की महोबे पर भी चढ़ाई हुई थी । इस चढ़ाई का वृत्तांत उक्त ग्रंथ में इस प्रकार दिया हुआ है—

महोबे के राजा मदनवर्मा पर चढ़ाई

"एक दिन संध्या समय गुजरात के राजा सिद्धराज (जयसिंह) की सभा में एक विदेशी भाट ने आकर उसे आशीर्वाद दिया और उसके ऐश्वर्य्य तथा सभा के अतुल वैभव से चकित होकर कहा—'अहो ! परमार वंश के धूमकेतु§ श्रीसिद्धराज की सभा मदनवर्मा|| की सभा के समान विस्मय उत्पन्न करानेवाली है ।' सिद्धराज के पूछने पर कि मदनवर्मा कहाँ

* बद्धः सिंधुवसुंधरापतिरतिप्रौढप्रतापोऽपि यत् ॥ २२ ॥
सुरथोत्सव काव्य; सर्ग १५ ।

† अन्येप्युत्सादिता येन सिंधुराजादयो नृपाः ॥ २ ॥
इं० ऐं०; जि० १०, पृ० १५९ ।

‡ प्रश्नवाहन कुल के कोटिक गण की मध्यम शाखा में हर्षपुरीयगच्छ बड़ा प्रसिद्ध हुआ । उसके प्रसिद्ध आचार्य अभयसूरि उपनाम मलधारी की शिष्यपरंपरा में तिलकाचार्य सूरि हुआ । राजशेखर इसी सूरि का शिष्य था । उसने दिल्ली में वि० सं० १४०५ (ई० सन् १३४८) में 'चतुर्विंशति प्रबंध' की रचना की ।

§ पुच्छल तारा । इसका उदय अशुभ माना जाता है ।

|| महोबे के चंदेल राजा पृथ्वीवर्मा का पुत्र तथा अजमेर के प्रसिद्ध चौहान राजा पृथ्वीराज से लड़नेवाले राजा परमर्दि (परमाल) का दादा ।

का राजा है उसने उत्तर दिया—'महाराज! पूर्व दिशा में महोबक*
(महोबा) नामक नगर है, जहाँ का राजा मदनवर्मा है। वह दानी,
भोगी, धर्मशील नैषध और नल पुरूरवा या वत्सराज के अवतार के
समान है। उसका तथा उसके नगर का यथार्थ वर्णन करना बहुत
कठिन है।' सिद्धराज ने अपने एक मंत्री को, उक्त भाट के कथन
की सत्यता की जाँच करने की आज्ञा देकर, उसके साथ महोबे
भेजा। मंत्री ने वहाँ पहुँचकर सारा नगर अच्छी तरह देखा।
फिर वहाँ से लौटकर अपने स्वामी से निवेदन किया कि 'महाराज!
मैं जिस समय महोबे में पहुँचा, उस समय वहाँ वसंतोत्सव मनाया
जा रहा था। वसंत, हिंडोल आदि राग गाए जाते थे। शृंगार-
भूषित सुंदरियाँ इधर उधर विचर रही थीं। कामदेव की भ्रांति
करानेवाले लाखों नवयुवक विलास में लीन दिखाई देते थे। प्रत्येक
मोहल्ले में रंग छिड़का जा रहा था तथा घर घर से संगीत-ध्वनि
सुनाई देती थी। वहाँ पर शासन की ऐसी सुव्यवस्था है कि
व्यापारी लोग रात को अपनी दुकानें खुली ही छोड़ जाते हैं और
प्रातःकाल जाकर उनको सँभालते हैं। राजा को मैंने देखा तो
नहीं, पर उसके संबंध में यह सुना है कि वह बड़ा विलासप्रिय
तथा विषयासक्त है। सभा में वह कभी नहीं बैठता, दिन रात
आमोद प्रमोद में मग्न रहता और साक्षात् इंद्र के से वैभव का उप-
भोग करता है।' यह सुनकर सिद्धराज ने तुरंत अपनी सेना सहित
महोबे को प्रयाण किया और उक्त नगर से ८ कोस की दूरी पर डेरा
डाला, जिससे नगर में खलबली मच गई। उस समय महोबे का
राजा १००० स्त्रियों सहित एक सुंदर बाग में सैर कर रहा था।
प्रधानों ने वहाँ जाकर उसे सिद्धराज के चढ़ आने की सूचना दी और
उससे उसके लौटाने का उपाय पूछा। उसने हँसकर कहा—
'यह तो वही सिद्धराज है न जो बारह बरस तक धारा नगरी के

* बुंदेलखंड का प्रसिद्ध नगर महोबा। यह नगर कलिंजर के चंदेलों
की राजधानी था। उनके बनवाए हुए मंदिर आदि अब तक वहाँ पाए जाते हैं।

पास पड़ा रहा था। उस कार्पटिक* राजा से कह दो कि यदि तुम हमारे नगर या भूमि पर अधिकार करना चाहते हो तो हम तुमसे युद्ध करने के लिए तैयार हैं पर यदि तुम्हें धन का लोभ यहाँ खींच लाया हो तो उसे लेकर वापस चले जाओ। यदि वह धन माँगे तो उसे दे देना, क्योंकि अपने पास प्रचुर द्रव्य है और वह द्रव्य के लिये बड़े बड़े कष्ट उठाता है।' सिद्धराज के दूत द्वारा दंड माँगने पर मंत्रियों ने उसके पास मदनवर्मा का संदेश कहला भेजा, जिसे सुनकर उसे बड़ा विस्मय हुआ और उसने ९६ करोड़† सुवर्ण-मुद्रा माँगी, जो उसे दे दी गई। इसके बाद उसे मदनवर्मा से मिलने की चाह हुई। मदनवर्मा ने अपने मंत्रियों द्वारा उसकी इच्छा जानकर उससे मिलना स्वीकार कर लिया। सिद्धराज ने अपने चार आदमियों को साथ लेकर उक्त उद्यान में मदनवर्मा से मिलने के लिए प्रवेश किया और वह सोने के तोरणवाले सात द्वार, चाँदी के जलस्थान, अनेक देशों की भाषा जाननेवाली सुंदरियाँ, नंदनोद्यान से भी अधिक सुंदर उद्यान, हंस, सारसादि पक्षी, सुवर्ण की सामग्री और मनोहर पुष्पों से भरी हुई टोकरियाँ आदि देखता हुआ आगे बढ़ा तब केवल मोतियों के थोड़े से आभूषण धारण कर सिंहासन पर बैठे हुए सर्वांगसुंदर युवा राजा मदनवर्मा पर उसकी दृष्टि पड़ी, जो उसको देखते ही उठ खड़ा हुआ और आगे बढ़कर उससे मिला। फिर उसको सुवर्ण के सिंहासन पर बिठलाकर उससे कहा—'सिद्धेंद्र (सिद्धराज)! आज का दिन बड़ा ही शुभ है कि आप हमारे अतिथि हुए।' सिद्धराज ने उत्तर दिया—'राजन्! आप मुझे कार्पटिक कहते हैं; अतः आपका यह भाव बनावटी है।'

* यहाँ पर इस शब्द का प्रयोग 'दरिद्र' के अर्थ में किया गया हो ऐसा प्रतीत होता है। इस शब्द का दूसरा अर्थ 'यात्री' है; पर यहाँ पर वह उपयुक्त नहीं है।

† यह संख्या कल्पित है, इसमें संदेह नहीं। मदनवर्मा ने या तो कुछ भी न दिया होगा या यदि कुछ दिया होगा तो भेट के तौर पर, न कि दंड के रूप में।

इस पर मदनवर्मा ने मुसकराकर पूछा—'सिद्धेश ! यह आपसे किसने कहा ?' सिद्धराज ने उत्तर दिया—'आपके मंत्रियों से मुझे यह बात मालूम हुई। इस प्रकार मुझे अपमानित करने में आपका क्या अभिप्राय है ?' मदनवर्मा ने कहा—'देव ! यह कलिकाल है, आयुष्य अल्प है, राज्यश्री परिमित है, बल तुच्छ है, यह जानकर भी आप राज्यश्री का उपभोग नहीं करते और विदेश में इधर उधर भटकते फिरते हैं; अतः आप कार्पटिक नहीं तो और क्या हैं ?' सिद्धराज ने उत्तर दिया— सच है, ऐसा कार्पटिक तो मैं हूँ। 'आप वास्तव में भाग्यशाली हैं, जो इस प्रकार सुखोपभोग कर रहे हैं। आज आपके दर्शन से मेरा जीवन सफल हुआ। आप चिर काल तक राज्य करें।' इतना कहकर सिद्धराज उठ खड़ा हुआ। इसके बाद मदनवर्मा ने अपना कोश देवालय आदि उसे दिखलाकर अपने खास सेवकों में से १२० सेवक* दिए, जिनको साथ लेकर वह अनहिलवाड़े को लौट गया†।" उपर्युक्त वर्णन अतिशयोक्ति से खाली नहीं है परंतु यह सच है कि मदनवर्मा बड़ा ही समृद्धिशाली तथा विलासप्रिय राजा था।

जयसिंह सूरि अपने कुमारपालचरित में लिखता है कि जयसिंह ने महोबा नगर के स्वामी मदनवर्मा को जीतकर उससे ९६ करोड़ सोने के सिक्के लिए‡ और सोमेश्वर लिखता है कि जयसिंह ने

* जिनमंडनगणि के कुमारपालप्रबंध में सेवकों की संख्या १२८ दी हुई है।

† चतुर्विंशति-प्रबंध का २१ वाँ मदनवर्मप्रबंध। जिनमंडन-रचित कुमारपाल-प्रबंध में भी इस चढ़ाई का वृत्तांत मिलता है, जो राजशेखर के चतुर्विंशति-प्रबंध में दिए हुए विवरण से बहुत कुछ मिलता जुलता है और उसी के आधार पर लिखा हुआ प्रतीत होता है।

‡ महोबकपुराधीशाज्जितान्मदनवर्मणः।
कोटीं षण्णवतिं हेम्नां यस्तन्मानमिवाददे ॥ ४२ ॥

कुमारपालचरित, सर्ग १।

जयसिंहसूरि ने कुमारपालचरित की रचना वि० सं० १४२२ (ई० सन् १३६५) में की और राजशेखर का चतुर्विंशति-प्रबंध उससे १७ वर्ष पूर्व बन

धारा नगर को ध्वंस किया, उस समय पड़ोसी राजा होने के कारण महोबकपुर के राजा ने आतिथ्य के मिस से उसे दंड दिया* परंतु कलिंजर† से इस प्रबंध का एक लेख मिला है, जिसमें लिखा है कि जैसे कृष्ण ने कंस को जीता था वैसे ही मदनवर्मा ने क्षण भर में गुजरात के राजा को जीता‡।

इन सब प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि जयसिंह ने मालवा पर चढ़ाई कर विजय प्राप्त की थी, तभी उसने महोबे पर भी चढ़ाई की, परंतु उसमें जयसिंह सूरि जो विजय प्राप्त करने की बात लिखता है वह विश्वासयोग्य नहीं है, क्योंकि सोमेश्वर, राजशेखर और जिनमंडन में से एक ने भी स्पष्ट रूप से विजय का उल्लेख नहीं किया और महोबे के लेख में गुजरात के राजा के हारने का उल्लेख है। संभव है जयसिंह को मदनवर्मा से मैत्री कर लौटना पड़ा हो। ९६ करोड़ मुहरें वसूल करने की बात कवि की कल्पना मात्र है§।

हेमचंद्र लिखता है कि सिद्धपुर के ब्राह्मणों ने अनहिलवाड़े में आकर जयसिंह से यह शिकायत की कि "राक्षसों ने बड़ा उपद्रव मचा रखा है। सरस्वती नदी के तट पर आपने जो 'सत्रशाला' बनवाई

चुका था। अतएव संभव है कि जयसिंह सूरि ने यह वृत्तांत चतुर्विंशति-प्रबंध से ही उद्धृत किया हो।

* धाराध्वंसप्रसंगेन यस्य सान्निध्यशङ्कितः।
प्राघूर्णकमिषाद्दंडं महोबकपतिर्ददौ ॥ ३३ ॥

कीर्तिकौमुदी; सर्ग २।

† बुंदेलखंड में चंदेलों का प्रसिद्ध किला।

‡ मुनाजीयत गुर्जरेशः क्षणेन कृष्णेन पुरेव कंसः।

बंगाल एशियाटिक सोसायटी का सन् १८४८ ई० का जर्नल, पृ० ३१८।

§ मदनवर्मा पर की जयसिंह की चढ़ाई का उल्लेख करनेवालों में सब से पहला लेखक सोमेश्वर है। उसने स्पष्ट लिखा है कि मदनवर्मा ने आतिथ्य, न कि दंड, के रूप में सिद्धार्थ को मुहरें दीं। दो राजाओं के बीच संधि या मैत्री होने के बाद एक राजा अपने यहाँ आए हुए दूसरे राजा का आतिथ्य करे और उसे कुछ दे यह एक साधारण बात है।

थी उसे उन्होंने तोड़ डाला है।" इस पर उस (जयसिंह) ने सेना साथ लेकर उनपर चढ़ाई की। राक्षसों के स्वामी बर्बरक ने ऐसी वीरता के साथ उसका सामना किया कि उसकी सेना के पैर उखड़ गए। अपने सैन्य की यह दशा देखकर राजा ने स्वयं शस्त्र धारण किया और उसके प्रतिहार ने भागती हुई सेना को हिम्मत बँधाई, जिससे सेना ने फिर एकत्र होकर लड़ना शुरू किया। बर्बरक जयसिंह की तरफ बढ़ा और उसने अपनी तलवार से उसके रथ के घोड़ों को मार डाला, जिस पर उसने रथ से उतरकर बर्बरक के सिर पर अपनी तलवार जमाई, परंतु उसके दो टुकड़े हो जाने से उसने द्वंद्व युद्ध शुरू किया, जिसमें बर्बरक को हराकर कैद कर लिया। फिर उसकी स्त्री पिंगलिका ने आकर जयसिंह से प्रार्थना की कि आज से यह दुराचरण को छोड़ सदाचार ग्रहण करेगा और आपका दास होकर रहेगा। इस पर राजा ने उसे बंधन से मुक्त कर सिद्धपुर प्रदेश का शासक बनाया* ।"

बर्बरक को जीतना

हेमचंद्र के इस लेख से स्पष्ट है कि बर्बरक किसी राक्षस अर्थात् म्लेच्छ (असभ्य) जाति का सरदार था। बर्बरक नाम की जंगली जाति के लोग अब तक काठियावाड़ में बसे हुए हैं और बाबरिया कहलाते हैं। उन्हीं लोगों के बसने के कारण दक्षिणी काठियावाड़ का एक जिला 'बाबरियावाड़' नाम से प्रसिद्ध है। अतएव संभव है कि जयसिंह से लड़कर कैद होनेवाला बर्बरक उन्हीं लोगों का मुखिया या सरदार रहा हो।

ताम्रपत्रादि में जयसिंह के, जो खिताब लिखे हुए मिले हैं, उनमें एक 'बर्बरकजिष्णु' (बर्बरक को जीतनेवाला) भी है। यह खिताब इसी घटना का स्मारक है।

उक्त पराजय के पीछे बर्बरक ने जयसिंह की अच्छी सेवा की होगी, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि गुजरातवालों की जनश्रुतियों से पाया जाता है कि जयसिंह ने श्मशान में मनुष्य के शव पर बैठकर

* द्व्याश्रय काव्य; सर्ग १२ (आदि से अंत तक)।

किसी मंत्र का जप किया, जिससे बाबरा नामक भूत उसके अधीन हो गया था। उसके द्वारा वह अनेक विकट कार्यों को सहज में सिद्ध कर लेता था* और अनेक प्रकार की सिद्धियाँ दिखलाता था। इसी से उसका नाम 'सिद्धराज'† प्रसिद्ध हुआ। लोगों की इन दंत-कथाओं का बाबरा भूत उपर्युक्त बर्बरक ही होना चाहिए था।

जयसिंह के अनेक चमत्कार देखकर केवल अज्ञ लोगों ने ही भूतों का उसके वश में होना मान लिया हो, ऐसा नहीं है, किंतु उसके देहांत के पीछे भी कई विद्वान् लेखकों ने भी इसे सच मान लिया हो, ऐसा पाया जाता है। सोमेश्वर लिखता है—'जयसिंह श्मशान में भूतों के स्वामी बर्बरक को अधीन कर सिद्धराज कहलाया‡ और अरिसिंह ने लिखा है—'जयसिंह बर्बरक के कंधे पर बैठकर आकाश में फिरता था§। इसी तरह उसकी सिद्धियों के संबंध में भी अनेक कथाएँ हेमचंद्र आदि ग्रंथकारों ने लिखी हैं||।

---

* भाटों की पुस्तकों में लिखा है कि जयसिंह ने जब सोरठ के राजा खंगार पर चढ़ाई की थी उस समय उसकी सेना में ७२०० भूतों के साथ बाबरा भूत भी विद्यमान था, जिसने बाघेल गाँव में अपने भूतों द्वारा एक ही रात में एक तालाब बनवाया था। (अहमदाबाद से प्रकाशित रत्नमाला की अंत की जनश्रुतियों में खंगार का चरित्र, पृष्ठ २४८)।

† सिद्धराज के अतिरिक्त 'सिद्धचक्रवर्त्ती' भी लिखा मिलता है।

‡ श्मशाने यातुधानेन्द्रं बद्ध्वा बर्बरकाभिधम्।
सिद्धराजेति राजेन्दुर्यो जज्ञे राजराजिषु ॥ ३८ ॥
कीर्तिकौमुदी; सर्ग २।

§ यः सञ्चरन्बर्बरखेचरस्य स्कन्धाधिरूढो रचयाञ्चकार।
मुखश्रिया सेन्दु दिवापि देहद्योतेन दोषामपि नभः सभानु ॥ ३३ ॥
सुकृतसंकीर्तन; सर्ग २।

|| हेमचंद्र लिखता है—"रत्नचूड़ नाग के पुत्र कनकचूड़ के सहायतार्थ जयसिंह ने वज्रमुख जाति की मक्खियों से भरे हुए अँधेरे कुएँ में, जिसमें प्रवेश करने से अवश्य मृत्यु हो जाती थी, प्रवेश कर कुएँ की खारी मिट्टी लाकर उसे दी थी"। (द्व्याश्रयकाव्य, सर्ग १३)। इसी प्रकार उसके संबंध में भूत, शाकिनी आदि को भी मंत्रबल से वश करने की कथाएँ लिखी मिलती हैं।

जयसिंह को तलवाड़े के लेख में परमर्दि का मर्दन करनेवाला लिखा है। उक्त लेख का परमर्दि महोबे (बुंदेलखंड) का परमर्दि-देव, जो पृथ्वीराज चौहान से लड़कर हारा था, हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह तो सिद्धराज की मृत्यु के पीछे वि० सं० १२२२ (ई० सन् ११६५) के अनंतर गद्दी पर था। जयसिंह का समकालीन परमर्दि कल्याण (दक्षिण में) का सोलंकी राजा विक्रमादित्य (छठा), जिसका दूसरा नाम परमर्दिदेव था, होना चाहिए। उसके सेनापति आच ने गुजरात पर चढ़ाई की थी ऐसा उल्लेख मिलता है*। जिनमंडनोपाध्याय अपने कुमारपाल-प्रबंध में लिखता है—"जिस तलवार को जयसिंह हिमालय से आई हुई योगिनियों के सामने चबा गया था वह कल्याणकटक (कल्याण) के राजा पर्माडि (परमर्दि) के यहाँ से लाई गई थी।" यह कथन हमारे उपर्युक्त अनुमान का पोषक है।

कल्याण के राजा परमर्दि के साथ की लड़ाई

कुमारपाल-प्रबंध में लिखा है—"जयसिंह का सिद्धचक्रवर्ती खिताब होना सुनकर हिमालय से दो योगिनियाँ उसकी सिद्धि की जाँच करने की इच्छा से आकाश मार्ग से उसकी सभा में आईं और उससे बोलीं कि हम तुम्हारी सिद्धियाँ देखने आई हैं। यह सुनकर राजा ने पहले उनका आतिथ्य किया। फिर एक दिन उनके समक्ष चमत्कार दिखलाने की इच्छा से वह एक चमकती हुई तलवार को मूठ पर्यंत खा गया। वह तलवार शक्कर की बनी हुई थी। केवल उसकी मूठ लोहे की थी। इसके पीछे मंत्री सांतू ने तलवार की मूठ धोकर योगिनियों को दी और उनसे कहा कि इसे आप खा जायँ। इस पर उन्होंने राजा से कहा—"राजेन्द्र ! आप अपूर्व शक्ति को धारण करनेवाले हैं और "सिद्धचक्रवर्ती" कहलाने के सर्वथा योग्य हैं।" (जिनमंडन-रचित कुमारपाल-प्रबंध में जयसिंह का वृत्तांत)।

* मेरा; सोलंकियों का प्राचीन इतिहास; भाग १, पृ० ११७।

ऊपर लिखी हुई चढ़ाइयों के अतिरिक्त कीर्तिकौमुदी में जयसिंह के गौड़ देश* के राजा को भी जीतने का उल्लेख मिलता है†, परंतु इसका विशेष वृत्तांत कहीं नहीं मिलता।

जयसिंह की लोकप्रियता

पराक्रम, उदारता, धर्मपरायणता आदि गुणों के कारण जयसिंह को उसकी प्रजा बहुत चाहती थी। उसका नाम गुजरात आदि देशों में अब तक प्रसिद्ध है। यद्यपि वह अपने पूर्वजों की नाईं कट्टर शैव था‡ तो भी दूसरे भारतीय धर्मों और संप्रदायों की ओर उसके भाव उदार एवं आदरपूर्ण थे। वह रात को गुप्त वेष में नगर

---

* गौड़ नाम के एक से अधिक देशों का भारतवर्ष में होना पाया जाता है। प्रसिद्ध गौड़ देश (बंगाल) के अतिरिक्त अयोध्या के उत्तर में उत्तरी कोशल का हिस्सा भी गौड़ देश कहलाता था।

कनिंगहाम की आर्किऑलाजिकल सर्वे की रिपोर्ट; १, पृ० ३२७।

† गणेशस्येव यस्याग्रपुष्करस्य वृषस्थितेः।
आज्यसारः करस्थोभूद्गौडो मोदकवन्नृपः ॥ ३७ ॥

कीर्तिकौमुदी, सर्ग २।

‡ कई जैन ग्रंथकारों ने यह बतलाने का यत्न किया है कि जयसिंह की जैन धर्म पर बड़ी श्रद्धा थी, परंतु कई प्रमाण ऐसे मिले हैं, जिनसे उनका कथन विश्वास योग्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रबंधचिंतामणिकार स्वयं जैन धर्म का आचार्य होने पर भी स्पष्ट लिखता है—"सिद्धराज ने सिद्धपुर में रुद्र महाकाल नामक शिवालय बनवाया। जैसे मालवामें महाकाल के मंदिर में जिस समय ध्वज चढ़ाया जाता उस समय किसी जैन मंदिर पर ध्वज रहने नहीं पाता, वैसे ही उक्त शिवालय में भी ध्वज चढ़ाते समय सब जैन मंदिरों के ध्वज उतरवा दिए गए (प्र० चि०; पृ० १५०)।

वही ग्रंथकार लिखता है—"सिद्धराज, मालवा से लौटकर श्रीनगर में ठहरा। वहाँ के मंदिरों पर ध्वज लगे हुए देखकर उसने ब्राह्मणों से पूछा—"ये किसके मंदिर हैं"। ब्राह्मणों ने उत्तर दिया—"जिन, ब्रह्मा आदि के"। इस पर राजा ने क्रुद्ध होकर कहा—"मैंने गुजरात में जैन मंदिरों पर ध्वज लगाए जाने की मनाही कर दी है तो भी यहाँ उन पर ध्वज क्यों लगाए गए हैं ? (प्र० चि०; पृ० १५१)। यदि जयसिंह की मनोवृत्तियाँ जैन धर्म की ओर झुकी होतीं तो वह कभी ऐसा नहीं कहता। वह हेमचंद्र का बहुत सम्मान करता था इसमें संदेह नहीं, परंतु उसका कारण हेमचंद्र की विद्वत्ता थी, न कि राजा

में घूम फिरकर लोगों की सच्ची दशा मालूम करता, फिर उनको बुलाकर उनसे बिना पूछताछ किए उनके सुख दुःख का सारा हाल कह देता था। इन बातों से लोगों को यह विश्वास हो गया था कि वह किसी देवता का अवतार है, जिससे दूसरों के मन की बातें भी जान लेता है।

हि० सन् ६०७ (ई० सन् १२११) के करीब मुहम्मद ऊफी ने जामे-उल्-हिकायत नामक पुस्तक लिखी, जिसमें वह मुसलमानों की ओर जयसिंह के व्यवहार के संबंध में लिखता है—"गुजरात के राज्य में खंभात नामक नगर में अग्निपूजक और सुन्नी मुसलमान रहते हैं। वहाँ पर एक मसजिद थी, जिसे अग्निपूजकों ने काफिरों के द्वारा जलवा दी, इस दंगे में ८० मुसलमान मारे गए। केवल अली नामक एक खतीब (खुतबा पढ़नेवाला) मुसलमान बच गया। उसने अनहिलवाड़े जाकर पुकार की, परंतु किसी ने उसकी पुकार पर ध्यान न दिया, जिससे उसने राजा से शिकार करते समय जंगल में मिलकर खंभात की घटना का सारा हाल अर्ज किया। इस पर राजा ने जाँच पड़ताल करने की इच्छा से प्रेरित होकर अपने प्रधान मंत्री से कहा—'मैं तीन दिन तक जनानखाने में ही रहूँगा, तब तक तुम राज्य का काम सँभालना।' यह कहकर जयसिंह अपनी साँड़नी पर सवार हुआ और एक दिन तथा एक रात में खंभात पहुँचा। वहाँ छान बीन करने पर उसे पता चला कि वास्तव में मुसलमान सताए और मारे गए हैं। इस प्रकार खतीब अली के बयान की सचाई का निश्चय हो जाने के बाद वह तीसरे दिन रात को वापस आ गया। दूसरे दिन उसने दरबार में सब फरियादियों को तलब करते समय खतीब से बयान लिए जाने की भी

मुसलमानों के साथ जयसिंह का बर्ताव

की जिनभक्ति। हेमचंद्र ने जयसिंह के समय में जिन ग्रंथों की रचना की थी, उनके प्रारंभ में जिन देव की स्तुति नहीं की। इसका भी कोई कारण होना चाहिए।

आज्ञा दी। खतीब का बयान पूरा हो जाने पर काफ़िरों का एक गिरोह उसे डाँट बतलाना और उसके बयान को झूठा ठहराना चाहता था, परंतु जयसिंह ने उनसे कहा कि यह झगड़ा मजहबी था, इस लिये मैं किसी का विश्वास न कर सच्ची बात का पता लगाने के लिये स्वयं खंभात गया था, जहाँ मुझे मालूम हुआ कि मुसलमानों के साथ सचमुच ज़ुल्म किया गया है। राज्य में प्रजापालन की ऐसी सुव्यवस्था करना कि सब लोग सुख और शांति का समान रूप से उपभोग कर सकें, मेरा कर्तव्य है। यह कहकर राजा ने ब्राह्मणों तथा अग्निपूजकों में से प्रत्येक समुदाय के दो प्रधाननेताओं को उचित दंड दिए जाने की आज्ञा दी*"।

जयसिंह का विद्यानुराग

जयसिंह विद्याप्रेमी होने के कारण विद्वानों का सम्मान करता था, जिससे अनेक विद्वान् उसकी सभा में रहते थे और कई विद्वानों ने उसके समय में अच्छे अच्छे ग्रंथ लिखे थे। प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचंद्र ने अनेक ग्रंथ लिखे और जयसिंह की यादगार में उसने अपने व्याकरण का नाम 'सिद्धहैम' रखा। श्रीपाल† नामक पंडित ने, जो जयसिंह के दरबार का मुख्य कवि था, 'विरोचनपराजय'‡ नामक ग्रंथ तथा दुर्लभराजमेरु, रुद्रमहालय,§ बड़नगर के

---

* जामे-उल्-हिकायत; इलियट; हिस्ट्री ऑफ इंडिया; जिल्द २, पृष्ठ १६३—६४।

† श्रीपाल कवि अपनी रची हुई बड़नगर के किले की प्रशस्ति में अपने को कविचक्रवर्ती लिखता है—

एकाहनिष्पन्नमहाप्रबंधः श्रीसिद्धराजप्रतिपन्नबंधुः।
श्रीपालनामा कविचक्रवर्ती प्रशस्तिमेतामकरोत्प्रशस्ताम् ॥

(एपिग्राफिया इंडिका; जिल्द १, पृ० ३००)।

‡ ई० सन् की तेरहवीं शताब्दी के मध्य जैन विद्वान् प्रभाचंद्र ने प्रभावकचरित नामक ग्रंथ रचा, जिसमें श्रीपाल कवि के मुख्य ग्रंथ 'विरोचनपराजय' का उल्लेख है। (प्रभावकचरित, अध्याय २२, श्लोक २०६-२०८)

§ दुर्लभराजमेरु तथा रुद्रमहालय की प्रशस्तियों का प्रभावकचरित में उल्लेख है। (अध्याय २२, श्लोक २०६-८)

किले* और सहस्रलिंग† की प्रशस्तियाँ बनाईं। वाग्भट कवि ने, जिसका लोकप्रसिद्ध नाम बाहड़‡ था, 'वाग्भटालंकार' और जयमंगलाचार्य§ ने 'कवि शिक्षा' नामक ग्रंथ उसके शासन काल में बनाए। गोविंदसूरि के शिष्य वर्द्धमान ने वि० सं० ११९७ (ई० सन् ११४०) में 'गणरत्न-महोदधि' नामक ग्रंथ की रचना की, जिसमें अपने बनाए हुए सिद्धराज की प्रशंसा के कई श्लोक उद्धृत किए हैं। उनके अंत में कहीं "मम" कहीं "मम सिद्धराजवर्णने" लिखा है||। सागरचंद्र नामक पंडित भी सिद्धराज के समय में हुआ। उसने भी उक्त राजा की प्रशंसा में कोई काव्य लिखा था, जिसमें से भी कई श्लोक वर्द्धमान ने अपने 'गणरत्नमहोदधि' में उदाहरणार्थ उद्धृत किए हैं¶। यह राजा विद्वानों की सभा + करता, उनके द्वारा धर्म संबंधी

---

* बड़नगर के किले की प्रशस्ति अब तक वहाँ पर विद्यमान है और छप भी गई है। (एपिग्राफिया इंडिका, जि० १, पृष्ठ २९६—३०१; प्राचीन लेखमाला, जिल्द १, पृ०१८१—८५.)।

† सहस्रलिंग की प्रशस्ति का प्रबंधचिंतामणि में उल्लेख है और उसका एक श्लोक भी उसमें उद्धृत किया हुआ है। (प्रबंधचिंतामणि, पृ० १५४—५५)।

‡ वाग्भटालंकार का कर्ता वाग्भट अर्थात् बाहड़, सोम का पुत्र था, ऐसा उक्त पुस्तक में दिए हुए संकरलंकार के उदाहरण के श्लोक से पाया जाता है। उक्त पुस्तक का टीकाकार सिंहदेवगणि, वाग्भट को महामात्य बतलाता है (काव्यमाला में छपा हुआ वाग्भटालंकार सिंहदेवगणि की टीका सहित, पृ० ६०)। काव्यानुशासन का कर्ता वाग्भट उक्त वाग्भट से भिन्न है।

§ डाक्टर पीटर्सन की संस्कृत हस्तलिखित पुस्तकों की खोज-संबंधी रिपोर्ट, सन् १८८२—८३; अँगरेजी भूमिका, पृ० ३१।

|| नागरीप्रचारिणी पत्रिका; नवीन संस्करण, भाग ३, पृष्ठ ८—९ की टिप्पणियाँ।

¶ वही; पृष्ठ ९।

+ जब श्रीपाल कवि ने सहस्रलिंग तालाब की प्रशस्ति तैयार की, उस समय पंडितों की सभा हुई थी, जिसका प्रबंधचिंतामणि में उल्लेख मिलता है (पृष्ठ १५४—५६)।

विषयों को श्रवण करता* और भिन्न भिन्न मतावलंबियों में परस्पर शास्त्रार्थ भी करवाता था† ।

जयसिंह ने अनहिलवाड़े में कीर्तिस्तंभ‡ सहस्रलिंग नामक सरोवर§, जिसके तट पर शिव तथा देवियों के कई मंदिर थे; सत्रशाला, मठ तथा दशावतार का मंदिर बनवाया। सिद्धपुर में रुद्रमहालय|| (रुद्रमहाकाल) का मंदिर तथा एक जिनमंदिर भी बनवाया¶ और अनेक स्थानों में अनेक धर्मस्थान आदि बनवाए × । गुजरात के बहुत से प्राचीन स्थानों को, जिनके बनानेवालों का ठीक पता नहीं लगता वहाँ के लोग उसी के बनवाए हुए बतलाते हैं ।

जयसिंह के पुण्य-कार्य

जयसिंह को सब प्रकार का सुख होने पर भी पुत्र-सुख न मिला । पुत्र की प्राप्ति के लिये उसने यात्रा, दान आदि सब कुछ

---

* प्र० चि०; पृ० १७३ ।

† जयसिंह की राजसभा में कुमुदचंद्र नामक दिगंबर जैन पंडित तथा श्वेतांबर देवसूरि के बीच शास्त्रार्थ होने का वृत्तांत प्रबंधचिंतामणि में लिखा है (पृ० १६१—६४) ।

‡ सुकृतसंकीर्तन; सर्ग २, श्लोक ३७ ।

§ सुकृतसंकीर्तन में 'सिद्धसर' का बनवाया जाना लिखा है । "यत्कारितं सिद्धसरः सरस्वत्याद्यापि पातुं घटभूरशक्तः ।" संभव है सिद्धसर ही सहस्रलिंग कहलाता रहा हो ।

|| रुद्रमहालय का प्रसिद्ध मंदिर जयसिंह के पूर्वज मूलराज ने बनवाया था । संभव है जयसिंह ने उसका जीर्णोद्धार कराया हो, अथवा जिस मंदिर (रुद्र-महाकाल) का बनवाया जाना प्रबंधचिंतामणिकार लिखता है (पृ० १५०) उसी को दूसरे ग्रंथकारों ने 'रुद्रमहालय' लिख दिया हो ।

¶ सहस्रलिंग से लगाकर रुद्रमहालय तक के धर्मस्थानों का बनवाया जाना द्व्याश्रयकाव्य के १५ वें सर्ग में लिखा है ।

× जयसिंह ने डभोई, साएला, दधरपुर, बढ़वाण, अनंतपुर, चुबारी, झिंझुवाड़ा, बीरपुर, भाडूला, वासिंगपुर और थान में गढ़, कपड़वंज, सिहोर, धोलका, वीरमगाम, देदाद्रा तथा बाघेल में जलाशय और अनेक स्थानों में देवालय बनवाए; ऐसी लोगों में प्रसिद्धि है ।

किया और अनेक ज्योतिषियों से पूछा तथा देवी देवताओं से भी प्रार्थना की, परंतु उसका मनोरथ सफल न हुआ। भाटों की ख्यातों की यह बात कि सिद्धराज जयसिंह के ७ पुत्र—गहिलराव, बाघराव, तेजसी, मलखान, जोबनीराव और सगतिकुमार (शक्तिकुमार) थे, विश्वास योग्य नहीं है। सिद्धराज के समय के लेखक हेमचंद्र, कुमारपाल के समय के चित्तौड़ के किले के लेख तथा अन्य प्राचीन लेखकों की पुस्तकों से कुछ प्रमाण उद्धृत किए जाते हैं जिनसे भाटों की ख्यातों की असत्यता स्पष्ट हो जायगी।

जयसिंह की पुत्र-कामना

द्व्याश्रयकार लिखता है—"जयसिंह पैदल चलकर देवपाटण पहुँचा। वहाँ पर उसने सोमनाथ का पूजन किया। फिर जब वह मंदिर में अकेला बैठकर समाधिस्थ हुआ तब शंकर ने प्रत्यक्ष होकर उसे सुवर्णसिद्धि और 'सिद्धि' की उपाधि दी, परंतु जब उसने पुत्र के लिये याचना की तब शंकर ने कहा—तेरे पीछे तेरे भाई (चचेरे) का पौत्र कुमारपाल राज्य का मालिक होगा* ।" पुत्र-प्राप्ति के लिये पैदल चलकर सोमनाथ जाने तथा शंकर से याचना करने पर उसके पीछे कुमारपाल के राजा होने का उत्तर मिलने की बात कुमारपाल के समय के चित्तौड़ के किले से मिले हुए शिलालेख में भी दर्ज है† कृष्ण कवि अपनी रत्नमाल में लिखता है कि सिद्धराज जयसिंह को

* द्व्याश्रयकाव्य; सर्ग १४।

† "पुत्रार्थं चरण प्र [चा]रविधिना श्रीसोमनाथं ययौ।
देवोप्यादिशतिस्म त······कुलपावनोज्वलगुण········।
पूर्वं श्री भीमदेवस्य क्षेमराजसुतोभवत्।
क्षमाक्षेमक्षमैर्मुख्यैर्यो रराज गुणैरपि॥
तस्माद्देवप्रसादोभूद्देवाराधन[तद्गनः]।·····॥
कौस्तुभ इव रत्ननिधिस्त्रिभुवनपालाह्वयोभवत्तस्मात्।·····॥
कुमारपालदेवाख्यः श्रीमांस्तस्यास्ति नंदनः।·····॥·····।
इति देवे·····

(कुमारपाल के समय का चित्तौड़ के किले से मिला हुआ लेख)।

पुत्र की विशेष चाह थी, जो पूर्ण न हुई*। जिनमंडन,† जयसिंह सूरि‡ आदि ने भी ऐसा ही लिखा है। जब जयसिंह को यह

* ताको पुत्र सिद्धराय, जयसिंह जो कहाय
गुज्जरधरा सुहाय, सुजस उजारि के।''''''॥
पुत्र की विशेष चाह, चाहना बड़े कवि की
रेगई लिखाई बात, वंश की विस्तारि कैं।

रत्नमाल, पृ० ३४।

† जिनमंडन अपने कुमारपालप्रबंध में लिखता है—"सिद्धराज को राज करते बहुत वर्ष हो गए और उसके सिर के बाल भी सफ़ेद हो गए, परंतु उसे पुत्र सुख प्राप्त न हुआ। उसके लिये उसने विधिपूर्वक हरिवंश पुराण सुना तथा अनेक देवताओं और देवियों की मिन्नतें आदि मिथ्योपचार भी किए। परंतु सब निरर्थक हुए। फिर वह हेमचंद्रसूरि को साथ लेकर यात्रा को चला और शत्रुंजय, गिरनार, सोमनाथ होता हुआ कोडीनार (गायकवाड़ के राज्य में काठियावाड़ के दक्षिण) पहुँचा। वहाँ पर अंबा भवानी का भक्तिपूर्वक पूजन करने के बाद हेमचंद्रसूरि से प्रार्थना की कि आप ज्ञानदृष्टि से देखें और अंबा भवानी से पूछें कि मेरे पीछे मेरे राज्य का मालिक कौन होगा। सूरि ने तीन दिन तक उपवास तथा अम्बा भवानी की आराधना कर इसका निर्णय कर लिया और राजा से निवेदन किया—अनेक उपाय करने पर भी आपको पुत्र-सुख न होगा। आपके पिता (कर्णदेव) के बड़े भाई क्षेमराज के पुत्र देवप्रसाद के बेटे त्रिभुवनपाल के तीन पुत्रों (कुमारपाल, महीपाल और कीर्तिपाल) में से कुमारपाल आपके पीछे जगत्प्रसिद्ध राजा होगा और राजा संप्रति के समान जैन धर्म का प्रचार करेगा। सिद्धराज को हेमचंद्र के ये वचन वज्र प्रहार के समान मालूम हुए और उसने पाटण (अनहिलवाड़े) को लौटकर उस कथन की जाँच के लिये एक ज्योतिषी से पुत्र के संबंध में पूछा तो उसने भी तात्कालिक लग्न के बल से वैसा ही कहा। फिर अपने पुरोहित के कहने से वह कंधे पर गंगाजल की काँवरि (कावड़) रखकर सोमनाथ पहुँचा। वहाँ उसके श्रद्धापूर्वक तीन उपवासकर पुत्र प्राप्ति के निमित्त शंकर की आराधना करने पर शंकर ने प्रत्यक्ष होकर कहा—"तुझको पुत्र-सुख न होगा। तेरी गद्दी पर महा पराक्रमी कुमारपाल बैठेगा" (जिनमंडन-रचित कुमारपालप्रबंध में सिद्धराज जयसिंह का वृत्तांत)।

‡ जयसिंहसूरि ने इस विषय में जो कुछ लिखा है वह जिनमंडन के कथन से मिलता जुलता है (कुमारपालचरित; सर्ग ३ श्लोक १-६२)। जयसिंह सूरि और जिनमंडन की पुस्तकों को देखने से प्रतीत होता है कि जिनमंडन

मालूम हुआ कि मेरे पीछे कुमारपाल राजा होगा तब उसने त्रिभुवनपाल को उसके पुत्रों सहित मरवा डालने का प्रबंध किया। त्रिभुवनपाल तो मारा गया, परंतु कुमारपाल ने भागकर अपने प्राण बचाए*।

कुमारपाल के साथ जयसिंह ने यद्यपि अच्छा व्यवहार न किया तो भी सामान्यतः वह गुजरात के सोलंकी राजाओं में बड़ा पराक्रमी, शूर, दानी, प्रजापालक, साहसी, उदार और धर्मनिष्ठ राजा हुआ। इसी से इतिहास-लेखकों ने उसको गुजरात का भूषण तथा 'सोलंकीकुलदीपक' कहा है। उसका राज्य गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, सिंध, मालवा तथा राजपुताने के कुछ विभागों में भी था।

जयसिंह का व्यक्तित्व

अबू अब्दुल्ला मुहम्मद† ने, जो 'अल् इद्रसी' नाम से प्रसिद्ध था, राजा जयसिंह के समय में 'नजहतुल मुश्ताक' नामक भूगोल

ने यह वृत्तांत जयसिंह सूरि के कुमारपालचरित से अपनी पुस्तक में उद्धृत किया है।

* कुमारपालं राज्यार्हं मत्वा विद्वेषं तं प्रति ॥ ६ ॥
पित्रादीन् घातयित्वा तं घातयामीति बद्धधीः।
अघातयत्त्रिभुवनपालं संप्रेष्य घातकान् ॥ ६८ ॥
श्राद्धवदैहिकमाधाय पितुस्तद्घातकारणम्।
कुमारो राजवर्गीणं प्रवीणान्प्रष्टवानहः ॥ ६९ ॥
....॥
यावदेष स्फुरद्द्वेषो न घातयति मामपि।
तावत्परिच्छदं मुक्त्वा क्वापि त्राये स्वजीवितम् ॥ ७६ ॥

जयसिंहसूरि-रचित कुमारपालचरित, सर्ग ३।

† अबू अब्दुल्ला मुहम्मद (अल् इद्रसी) का जन्म ई० सन् की ग्यारहवीं शताब्दी के अंत के करीब मोरक्को देश के क्यूटा (Cueta) नगर में हुआ था। वह इद्रस नामक पुरुष का वंशज होने के कारण अल् इद्रसी भी कहलाता था। वह सिसिली के बादशाह राजर (दूसरे) का दरबारी था। उसी के अनुरोध से उसने अपनी भूगोल संबंधी पुस्तक 'नजहतुल मुश्ताक' लिखी। वह हिंदुस्तान में आया हो ऐसा पाया नहीं जाता; अतएव हिंदुस्तान के भिन्न भिन्न नगरों के विषय में, जो कुछ उसने लिखा है, वह अन्य लेखकों तथा मुसाफिरों से सुनी सुनाई बातों के आधार पर लिखा होगा, ऐसा प्रतीत होता है।

संबंधी पुस्तक लिखी, जिसमें वह अनहिलवाड़े के विषय में लिखता है—"नहरवाले* का स्वामी बड़ा राजा है। उसे 'बलहरा' कहते हैं†। उसके पास बड़ी सेना और हाथी हैं। वह बुद्ध‡ की मूर्ति को पूजता, सिर पर सोने का मुकुट धारण करता और कीमती पोशाक पहनता है। वह बहुधा घोड़े पर सवार होता और हफ्ते में एक बार बाहर जरूर जाता है। उस वक्त उसकी अरदली में केवल १०० औरतें§ रहती हैं, जिनकी पोशाक क़ीमती, हाथ पैर में सोने चाँदी के कड़े और केश घुँघराले होते हैं। ये औरतें राजा के सामने कई प्रकार के खेल करती और कृत्रिम लड़ाई लड़ती हुई चलती हैं। मंत्री तथा सेनापति राजा के साथ केवल उसी समय रहते हैं, जब वह किसी बागी से लड़ने को जाता या अपने राज्य

* नहरवाला = अनहिल्वाड़ा। मुसलमान लेखकों की पुस्तकों में कहीं कहीं अनहिलवाड़े के स्थान पर नहरवाला लिखा मिलता है, जो अनहिलवाड़े का सूचक है। फारसी में लिखे हुए उक्त नाम में से अलिफ (।) अक्षर हटा देने से नहरवाला रूप बन जाता है।

† मुसलमान लेखकों ने पहले पहल इस शब्द का प्रयोग मान्यखेट (दक्षिण में) के राठौड़ों के लिये किया था, जिनके खिताब 'वल्लभराज' का बिगड़ा हुआ रूप 'बलहरा' है। फिर पिछले मुसलमान लेखक इसका प्रयोग सामान्यतः 'बड़े राजा' के लिये करने लगे। यहाँ पर भी यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और इसका अर्थ 'राजाओं का राजा' होना स्वयं अल् इद्रसी लिखता है।

‡ बुद्ध = जैन। जयसिंह जैन मूर्ति का पूजक नहीं था। उसके राज्य में जैनों की संख्या अधिक थी। इसी से इद्रसी ने उसे भी जैनमतावलंबी लिख दिया है। जयसिंह का उत्तराधिकारी कुमारपाल वि० सं० १२१६ (ई० सन् ११६०) में जैन हो गया था, परंतु इस घटना से कई वर्ष पूर्व इद्रसी ने अपनी पुस्तक 'नज़हतुल मुश्ताक' लिखी थी।

§ हिंदुस्तान पर मुसलमानों का अधिकार होने के पूर्व इस देश में परदे की प्रथा नहीं थी पर पीछे से जिन जिन देशों में उनका राज्य हुआ उनमें स्त्रियों को परदे में रखने का रिवाज चल पड़ा। पहले राजाओं के साथ उनकी रानियाँ तथा अन्य स्त्रियाँ भी सर्वत्र विद्यमान रहती थीं—देखो सोलंकियों का प्राचीन इतिहास; जिल्द १, पृ० ९९।

पर आक्रमण करनेवाले पड़ोसी राजा को भगाने के लिये चढ़ाई करता है। उसके पास हाथी बहुत हैं और वे ही उसकी सेना का मुख्य बल हैं। उसका अधिकार तथा 'बलहरा' खिताब वंशक्रमागत है। बहुत से मुसलमान व्यापारी व्यापार के निमित्त बहुधा नहरवाले जाया करते हैं। राजा तथा उसके मंत्री उनका सम्मान तथा रक्षण करते हैं। नहरवाले के लोग चावल, दाल, सेम की फली, माष, मच्छी तथा मरे हुए* जानवर खाते और किसी पशु पक्षी को मारते नहीं हैं†।

जयसिंह के समय के शिलालेख

जयसिंह के समय के अब तक चार शिलालेख मिले हैं, जिन में से एक भद्रेश्वर‡(भद्रावती) का वि० सं० ११९५ आषाढ़ शु० १० (ता० १६ जून सन् ११३८ ई०) का है§। इसमें सिद्धराज के मंत्री दादाक (दादा) का नाम मिलता है जो संभव है कि कच्छ देश का हाकिम रहा हो। दूसरा उज्जैन से मिला हुआ वि० सं० ११९५ ज्येष्ठ कृ० १४ का है। इसमें जयसिंह के 'महाराजाधिराज,' 'परमेश्वर', 'त्रिभुवनगंड', 'सिद्ध चक्रवर्ती', 'अवंतीनाथ', 'बर्बरकजिष्णु' आदि खिताबों के अतिरिक्त मालवा के राजा यशोवर्मा को जीतने का उल्लेख है। इसमें यह भी लिखा हुआ है कि उक्त संवत् में जयसिंह की ओर से महादेव नाम का नागर ब्राह्मण मालवा का शासक था। तीसरा लेख, जो वि० सं० ११९६ (ई० सन् ११४०) का है, दोहद से मिला है। इससे पता लगता है कि जयसिंह ने अपने सेनापति केशव को दधिपद्र (दोहद) आदि जिलों पर नियत किया था और उक्त सेनापति ने गोद्रहक (गोधरा) में अपनी माता की स्मृति में गोग-

* इस कथन का संबंध चमार आदि निम्न श्रेणी की जातियों से है, न कि सर्वसाधारण से।

† इलियट; हिस्ट्री आफ इंडिया; जिल्द १, पृष्ठ ८७-८८।

‡ प्राचीन भद्रेश्वर नगर, वर्तमान भद्रेश्वर के पूर्व में (कच्छ के पूर्वी तट पर) था।

§ आर्किआलाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इंडिया; नं० २ अपेंडिक्स, पृ० १३।

नारायण की मूर्ति स्थापित की, जिसके निमित्त गोद्रहक के स्वामी वापनदेव ने भूमि दी*। चौथा शिलालेख बाँसवाड़ा राज्य के तलवाड़ा गाँव में गणपति की एक मूर्ति के नीचे खुदा हुआ है। प्रति दिन पूजन का जल उस पर गिरते रहने से उसका कुछ अंश बिगड़ गया है, जिससे संवत् का अंक पढ़ा नहीं जाता, तो भी जो अंश बच गया है उससे विदित होता है कि चौलुक्य वंश के राजा भीम का पुत्र कर्ण और उसका पुत्र जयसिंह हुआ। जयसिंह ने नरवर्मा का मान मर्दन किया, परमर्दि को कुचल डाला और गणपति का मंदिर बनवाया।

जयसिंह ने वि० सं० ११५० से ११९९ (ई० सन् १०९४ से ११४३) तक ४९ वर्ष राज्य किया। वि० सं० ११९९ (ई० सन् ११४३) में उसका देहांत हो जाने पर कुमारपाल उसका उत्तराधिकारी हुआ†।

जगदेव

जगदेव का नाम राजपूताना, गुजरात, मालवा आदि देशों में वीरता तथा उदारता के लिये प्रसिद्ध है और जनश्रुति कहती है कि वह परमारवंशीय तथा सिद्धराज जयसिंह का दरबारी था। इस प्रसिद्धि मे सत्यता का कुछ अंश अवश्य है, क्योंकि प्रबंधचिंतामणि में लिखा मिलता है—"जगद्देव नामक त्रिविधवीर‡ क्षत्रिय को जयसिंह ने सम्मान के साथ अपने पास रखा। फिर कुंतल§ देश के राजा

---

* इंडियन ऐंटिक्वेरी; जिल्द १०, पृ० १५९।

† प्रबंधचिंतामणि में जयसिंह का वि० सं० ११५० (ई० सन् १०९४) में राजा होना और ४९ वर्ष राज्य करना लिखा है (पृ० १६०)। वही लेखक अपनी विचारश्रेणी में लिखता है कि वि० सं० ११५० में जयसिंह की गद्दीनशीनी हुई और वि० सं० ११९९ कार्तिक सुदि ३ को उसका देहांत हुआ। तीन दिन तक उसकी पादुका का राज्य रहा। फिर कुमारपाल राजा हुआ (सं० ११५० सुत श्रीजयसिंहदेव राज्ये च वर्ष ४९ सं० ११९९ वर्षे कार्तिक शु० ३ निरुद्धं दिन ३ पादुकाराज्यं)—विचारश्रेणी, हस्तलिखित पुस्तक।

‡ दयावीर, दानवीर और युद्धवीर।

§ देखो सोलंकियों का प्राचीन इतिहास; भाग १, पृ० १०२।

परमर्दि* ने उसके गुणों से रंजित होकर उसको अपने यहाँ बुला लिया और उसके आने पर उस (राजा) ने एक लाख की कीमत के दो वस्त्र उसे प्रदान किए। उसने वे दोनों वस्त्र उसी समय अपनी वीरता की प्रशंसा करनेवाली एक वेश्या को, जो वहाँ पर दरबार में नाच रही थी, दे दिए। इसके बाद परमर्दि ने उसे किसी देश का स्वामी (सामंत) बना दिया। वहाँ पर उसके उपाध्याय (गुरु) ने आकर उसकी प्रशंसा में एक पद्य बनाकर उसे सुनाया। इस पर उसने उसे ५०००० मुद्राएँ दीं। फिर एक बार परमर्दि ने उसको एक पड़ोसी राजा को परास्त करने के लिये सैन्य सहित भेजा। जिस समय वह देवपूजन कर रहा था उस समय शत्रु ने उसके सैन्य पर हमला कर दिया। वह पूजा पूरी हो जाने से पहले पूजा-स्थान से न हटा, पर ज्योंही वह पूरी हुई उसने ५०० योद्धाओं-सहित शत्रु पर आक्रमण कर उसे नष्ट कर दिया†।"

जगदेव के विषय में भाटों की कथाओं में यह लिखा मिलता है--"धारा नगरी के परमार राजा उदयादित्य के बघेली और सोलंकिनी दो रानियाँ थीं। बघेली से रणधवल और सोलंकिनी से जगदेव का जन्म हुआ, जिनमें रणधवल बड़ा था। आपस के द्वेष के कारण जगदेव अपनी स्त्री को साथ लेकर अनहिलवाड़े के राजा सिद्धराज जयसिंह के पास चला गया, जिसने उसकी वीरता आदि गुणों पर रीझकर सम्मान के साथ उसको अपने दरबार में रखा और ६०००० मुद्रा उसका मासिक वेतन नियत किया। उसकी स्वामिभक्ति तथा दृढ़ता से प्रसन्न होकर जयसिंह ने अपनी

* परमर्दि (पेर्माडि, पेर्माडि या पर्माडि) नाम या उपनामवाले दक्षिण में अनेक राजा हो गए हैं, परंतु जयसिंह का समकालीन कुंतल देश का राजा परमर्दि दक्षिण का सोलंकी राजा विक्रमादित्य छठा, जिसकी राजधानी कल्याण थी, होना चाहिए। जिनमंडनोपाध्याय के कुमारपालप्रबंध में जिस तलवार को योगिनियों के सामने जयसिंह चबा गया था उसका कल्याण कटक (कल्याण) के राजा पेर्माडि (परमर्दि) के यहाँ से आना लिखा है।

† प्रबंधचिंतामणि, पृ० २९९—३००।

पुत्री का उसके साथ विवाह कर दिया और उसे एक बहुत बड़ी जागीर भी दी। १८ वर्ष तक जयसिंह की सेवा करने के बाद वह अपने पिता के पास लौट आया, जिसने उसे उसकी वीरता से प्रसन्न होकर अपना उत्तराधिकारी नियत किया और अपने बड़े पुत्र रणधवल को १०० गाँवों की जागीर दी। जगदेव ने मालवा की गद्दी पर बैठकर ५२ वर्ष राज्य किया और ८५ वर्ष की अवस्था में शरीर छोड़ा। उसके पीछे उसका पुत्र जगधवल मालवा का राजा हुआ।"

ऊपर उद्धृत किए हुए प्रबंधचिंतामणि तथा भाटों के लेखों में से एक पर भी हम पूर्ण रूप से विश्वास नहीं कर सकते। प्रबंध-चिंतामणिकार को जगदेव का हाल ठीक ठीक मालूम था, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वही आगे चलकर उक्त परमर्दि के विषय में लिखता है—"वह सपादलक्ष (अजमेर) के राजा पृथ्वीराज* से हारकर अपनी राजधानी को भाग आया" और भाटों का लिखना भी निर्मूल है, क्योंकि उदयादित्य के पीछे जगदेव और जगधवल नाम के राजा मालवा में हुए ही नहीं। मालवा के परमारों के लेखों से पाया जाता है कि जयसिंह के राजा होने के पूर्व ही उदयादित्य मर चुका था† और उसके पीछे उसका पुत्र लक्ष्म-देव, लक्ष्मदेव के बाद उसका छोटा भाई नरवर्मा और उसके उप-रांत उसका पुत्र यशोवर्मा मालवा की गद्दी पर बैठा। इन राजाओं में

* अजमेर के प्रसिद्ध चौहान राजा पृथ्वीराज ने कुंतल देश के राजा पर-मर्दि को नहीं, किंतु बुंदेलखंड के चंदेल राजा परमर्दि (परमाल) को वि० सं० १२३९ (ई० सन् ११८२) में हराया था। प्रबंधचिंतामणिकार कुंतल देश तथा बुंदेलखंड पर राज्य करनेवाले परमर्दि नाम के दो भिन्न वंश के राजाओं को एक ही समझता है, यह उसका भ्रम है।

† जयसिंह का राज्याभिषेक वि० सं० ११५० (ई० सन् १०९४) में हुआ और उदयादित्य के लेख वि० सं० ११४३ तक के मिले हैं। उदयादित्य के पीछे लक्ष्मदेव और लक्ष्मदेव के बाद नरवर्मा मालवा का राजा हुआ। नरवर्मा के समय का वि० सं० ११६१ (ई० सन् ११०४) का एक लेख मिला है। उक्त संवत् में जयसिंह की उम्र १४ बरस की होनी चाहिए।

से नरवर्मा और यशोवर्मा जयसिंह के समकालीन थे। उपर्युक्त लेखों में विश्वास योग्य कोई बात है, तो यही है कि जगदेव नामक किसी वीर क्षत्रिय ने कुछ काल तक गुजरात के राजा जयसिंह की सेवा की*। जगदेव नाम का कोई व्यक्ति मालवा के परमार राजा उदयादित्य के वंश में चाहे हुआ हो† पर मालवा का राजा नहीं हुआ।

* जयसिंह के पीछे भी जगदेव का नाम गुजरात में प्रसिद्ध था, क्योंकि सोमेश्वर ने अपनी कीर्तिकौमुदी में भीमदेव (दूसरे) के राज्य की अवनत दशा के वर्णन में गुर्जरराज्यलक्ष्मी के मुख से कहलाया है—जगदेव के न होने से अपने ही लोगों ने शत्रुओं के समान मेरी दुर्दशा की है। उसकी विद्यमानता में शत्रु मारे डर के गुजरात की राजधानी में प्रवेश नहीं करते थे।

—सर्ग २, श्लोक ६६

† मालवा के परमार राजा उदयादित्य के वंशज अर्जुनवर्मा ने अपनी रची हुई 'अमरुशतक' की 'रसिकसंजीवनी' टीका में जगदेव को अपना पूर्वपुरुष बतलाया है और उसकी प्रशंसा का एक पद्य उद्धृत किया है—

यथास्मत्पूर्वजरूपवर्णने नाचिराजस्य—
सत्रासा इव सालसा इव लसद् गर्वा इवार्द्री इव
व्याजिह्मा इव लज्जिता इव परिश्रान्ता इवार्ता इव।
त्वद्रूपे निपतंति कुत्र न जगद्देवप्रभो सुभ्रुवां
वातावर्तननर्तितोत्पलदलद्रोणीद्रुहो दृष्टयः॥

—काव्यमाला में छपा हुआ सटीक अमरुशतक, पृ० ८

(११) गुजरात देश और उस पर कन्नौज के राजाओं का अधिकार

[लेखक—महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा, अजमेर]

प्राचीन काल में भारतवर्ष के भिन्न भिन्न प्रदेशों अथवा विभागों के नाम विशेषतः उनके राज्यकर्त्ता क्षत्रियों के नाम से प्रसिद्धि में आए, जैसे कि यदु के भाई अनु के वंशधर राजा बलि के पाँच पुत्रों—अंग, वंग, कलिंग, पुंड्र और सुह्म—से उनके अधीनस्थ देशों के नाम अंग, वंग, कलिंग, पुंड्र और सुह्म हुए*। इसी प्रकार यदुवंशी प्रतापी राजा शूरसेन के अधीन का देश शूरसेन, राजा शिवि के नाम से शिवि देश और आनर्त के नाम से आनर्त देश कहलाया। पिछले समय में भी ऐसा ही होता रहा है, जैसा कि जयपुर के कछवाहों के वंशधर शेखा तथा उनके वंशजों का देश शेखावाटी, झाला के वंशजों अर्थात् झालों से झालावाड़ (राजपुताने में) और मेवाड़ के राजा गुहिल के वंशजों का अधीनस्थ प्रदेश गोहिलवाड़ा (काठियावाड़ में) कहलाया। जिस देश पर काठियों का अधिकार रहा वह काठियावाड़ नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी तरह भिन्न भिन्न देशों पर राज्य करनेवाले राजा के लिये भी—चाहे वह किसी वंश का क्यों न हो—पीछे से संस्कृत साहित्य में वही देशवाची शब्द प्रयुक्त होने

* अंगो वंगः कलिंगश्च पुंड्रः सुह्मश्च ते सुताः।
तेषां देशाः समाख्याताः स्वनामकथिता भुवि ॥ ५३ ॥
अंगस्यांगो भवेद्देशो वंगो वंगस्य च स्मृतः।
कलिंगविषयश्चैव कलिंगस्य च स स्मृतः ॥ ५४ ॥
पुंड्रस्य पुंड्राः प्रख्याताः सुह्माः सुह्मस्य च स्मृतः।
—महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १०४।

लगा*। फिर उन देशों के समस्त निवासी भी उसी नाम से प्रसिद्ध होते रहे। इसी लिये संस्कृत में देशों के नामों के साथ जब 'देश' या उसका पर्यायसूचक कोई दूसरा शब्द नहीं रहता तब वे बहुधा बहुवचन में मिलते हैं, जैसे कि 'नीत्वोत्सवेन जनकोऽद्य गतो विदेहान्' (उत्तररामचरित), 'एको ययौ चैत्ररथप्रदेशान् सौराज्यरम्यानपरो विदर्भान्' (रघुवंश) तथा 'पांचालाः', 'जांगलाः', 'दशार्णाः' आदि। अब भी भिन्न भिन्न देशों के निवासी सामान्यतः उनके देश के नाम से ही पहचाने जाते हैं, जैसे मारवाड़ से मारवाड़ी, पंजाब से पंजाबी और काठियावाड़ से काठियावाड़ी इत्यादि।

गुजरात के भिन्न भिन्न विभागों के प्राचीन काल में पृथक् पृथक् नाम थे। काठियावाड़ का उत्तरी भाग आनर्त तथा दक्षिणी भाग सौराष्ट्र कहलाता था। साबरमती के आसपास के प्रदेश का नाम श्वभ्र था, और नर्मदा एवं ताप्ती नदियों के मध्य का देश लाट नाम से प्रसिद्ध था। कभी कभी उसकी सीमा उत्तर में आनंदपुर तक पहुँच गई हो, ऐसा उल्लेख भी मिलता है। गुजरात का नाम पीछे से प्रसिद्ध हुआ है। प्राचीन काल में गुर्जर नामक एक राजवंश था जिसके मूल पुरुष के नाम से उसके वंशधर गुर्जर कहलाए और उनके अधीन का देश गुर्जर देश अथवा 'गुर्जरत्रा' (गुर्जरों से रक्षित देश) नाम से प्रसिद्ध हुआ। पंजाब का एक जिला अब भी गुजरात कहलाता है, जो किसी समय में उस देश पर गुर्जरवंशी राजाओं का आधिपत्य होना प्रकट करता है। देशों की सीमा उनके स्वामियों के राज्य की घटा बढ़ी के साथ सदा घटती बढ़ती रही है, इसी लिये गुजरात के किसी प्राचीन विभाग की सीमा स्थिर रूप से निश्चित नहीं की जा सकती।

---

* अपारपौरुषोद्गारं खंगारं गुरुमत्सरः।
सौराष्ट्रं पिष्टवानाजौ करिणं केसरीव यः॥ २४॥
—कीर्त्तिकौमुदी, सर्ग १।

इस श्लोक में 'सौराष्ट्र' पद सौराष्ट्र देश के राजा (खंगार) का सूचक है। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं।

वर्तमान काल में राजपुताने से दक्षिण के जिस देश को गुजरात कहते हैं, उसकी सीमा पालनपुर राज्य की उत्तरी सीमा से लेकर दक्षिण में थाणा जिले की उत्तरी सीमा तक है, और पश्चिमस्थित काठियावाड़ भी उसी के अंतर्गत माना जाता है। तात्पर्य यह है कि जिस देश में गुजराती भाषा बोली जाती है वही इस समय गुजरात कहलाता है। परंतु प्राचीन काल में यह देश बड़ा विस्तृत था और वर्तमान जोधपुर राज्य का उत्तर से दक्षिण तक सारा पूर्वी भाग गुजरात के अंतर्गत था।

विक्रम संवत् ६९७ (ईसवी सन् ६४०) के आसपास चीनी यात्री हुएन्त्संग राजपुताने में आया। वह गुर्जर देश की राजधानी भीनमाल (श्रीमाल) बतलाता है,* जो वर्तमान गुजरात में नहीं किंतु जोधपुर राज्य के दक्षिणी विभाग में है। हुएन्त्संग के आगमन से पूर्व ही वहाँ का गुर्जरवंशियों का राज्य अस्त हो चुका था और चापवंशी (चावड़े) शासन करते थे, जैसा कि शक संवत् ५५० (विक्रम संवत् ६८५) अर्थात् हुएन्त्संग के वहाँ आने से १३ वर्ष पूर्व, बने हुए भीनमाल निवासी ज्योतिषी ब्रह्मगुप्त के 'ब्राह्मस्फुट-सिद्धांत' नामक ग्रंथ से ज्ञात होता है†। लाट देश के सोलंकी राजा जयसिंह वर्मा के तृतीय पुत्र पुलकेशी (अवनिजनाश्रय) के कलचुरि संवत् ४९० (विक्रम संवत् ७९६) के ताम्रपत्र से जान पड़ता है कि चापवंश गुर्जरवंश से भिन्न था‡।

---

* सेम्युअल बील; 'बुद्धिस्ट रेकर्ड्ज़ आफ दी वेस्टर्न वर्ल्ड'; जिल्द २, पृष्ठ २६९—७०।

† श्रीचापवंशतिलके श्रीव्याघ्रमुखे नृपे शकनृपाणाम्।
पंचाशत्संयुक्तैर्वर्षशतैः पंचभिरतीतैः (५५०)॥ ७॥
ब्राह्मः स्फुटसिद्धांतः सज्जनगणितगोलवित्प्रीत्यै।
त्रिंशद्वर्षेण कृतो जिष्णुसुतब्रह्मगुप्तेन॥ ८॥

‡ तरलतरतारतरवारिदारितोदितसैन्धवकच्छेल्लसौराष्ट्रचावोटक-मौर्यगुर्जरादि-राज्ये···(नागरीप्रचारिणी पत्रिका—नवीन संस्करण, भाग २, पृष्ठ २११)।

चावड़ावंशियों ने गुर्जरों से भीनमाल का राज्य कब लिया यह अनिश्चित है, तो भी इतना तो निश्चित है कि महाक्षत्रप रुद्रदामा के गिरनार के पासवाले चटान पर के शिलालेख के खोदे जाने के समय अर्थात् शक संवत् ७२ (विक्रम संवत् २०७) तक तो भीनमाल के आसपास के प्रदेश पर गुर्जरों (गूजरों) का राज्य स्थापित नहीं हुआ था। इसका कारण यह है कि उक्त लेख में जहाँ रुद्रदामा के अधीनस्थ देशों के नाम गिनाए हैं उनमें गुर्जर नाम न होकर श्वभ्र और मरु* (मारवाड़) नाम मिलते हैं। उसके पीछे किसी समय गुर्जर-राज्य की स्थापना का अनुमान किया जा सकता है।

कन्नौज के प्रतिहार राजा भोजदेव प्रथम के वि० सं० ९०० के दानपत्र में गुर्जरत्रा† भूमि (गुजरात देश) के डेंडूवानक विषय (जिले) के 'सिवा' ग्राम का उल्लेख है। उसमें लिखा हुआ डेंडूवानक विषय जोधपुर राज्य के उत्तर-पूर्वी भाग का डीडवाना परगना ही है और 'सिवा' गाँव डीडवाने से सात मील दूर का सेवा गाँव है, जहाँ से वह ताम्रपत्र मिला है। कालिंजर से प्राप्त विक्रम संवत् की नवीं शताब्दी के आसपास एक शिलालेख में गुर्जरत्रा मंडल‡ के मंगलानक गाँव का

---

* पूर्वापराकरावन्त्यनूपनिवृदानर्त्तसुराष्ट्रश्वभ्रमरुकच्छसिंधुसौवीरकुकुरापरांतनिषादादीनां समग्राणां······। (रुद्रदामा गिरनार का शिलालेख; एपिग्राफिया इंडिका जिल्द ८, पृष्ठ ४४)।

† गुर्जरत्राभूमौ डेंडूवानकविषयसम्ब(म्ब)द्धसिवाग्रामग्रहारे···।

—एपिग्राफिया इंडिका जिल्द ५, पृष्ठ २११।

‡ श्रीमद्गुर्ज्जरत्रमंडलांतःपातिमंगलानकविनिर्गत···।

वही; जिल्द ५, पृ० २१० टिप्पण ३।

जोधपुर राज्य के घटियाला गाँव से मिले हुए मंडोर के प्रतिहार राजा कक्कुक के विक्रम संवत् ९१८ चैत्र शुदि २ के संस्कृत शिलालेख में 'गुर्ज्जरत्रा' और वहीं से मिले हुए उसी राज्य के उसी संवत् के प्राकृत (महाराष्ट्री) लेख में 'गुज्जरत्ता' नाम मिलता है, जो 'गुर्जरत्रा' का ही प्राकृत रूप है। इन दोनों लेखों के 'गुर्जरत्रा' शब्द का संबंध जोधपुर राज्य के अंतर्गत गुजरात के भाग से है। मेवाड़ के महाराणा कुंभकर्ण के समय के वि० सं० १४९६ के राणपुर के शिलालेख में गुजरात के सुलतान को 'गुर्जरत्रा सुरत्राण' कहा है (प्रबलपराक्रमाक्रांतढिल्लीमंडलगुर्जरत्राणदत्तातपत्रप्रथितहिंदुसुरत्राण-

नामोल्लेख है। यह मंगलानक जोधपुर राज्य के उत्तरी विभाग का मंगलाना गाँव है, जो मारोठ से १६ मील पश्चिम और डीडवाने से थोड़े ही अंतर पर है। हुएन्त्संग के कथन और इन दोनों लेखों से ज्ञात होता है कि विक्रम संवत् की सातवीं से नवीं शताब्दी तक जोधपुर राज्य का उत्तर से दक्षिण तक सारा पूर्वी भाग गुर्जर देश (गुर्जरत्रा, गुजरात) के अंतर्गत था। इसी प्रकार दक्षिण और लाट के राठोड़ों तथा मारवाड़ एवं कन्नौज के प्रतिहारों के बीच के युद्धों के वृत्तांत से जाना जाता है कि गुर्जर देश की दक्षिणी सीमा लाट देश से जा मिली थी। अतएव जोधपुर राज्य का सारा पूर्वी भाग तथा उससे दक्षिण में लाट देश तक का वर्तमान गुजरात भी उस समय गुर्जर देश के अंतर्गत था। अब तो केवल राजपुताने के दक्षिण का प्रदेश ही गुजरात कहलाता है।

मारवाड़ पर से गुर्जरों का राज्य शीघ्र ही अस्त हो गया, परंतु उस वंश की एक शाखा का, जो भड़ौच (Broach) तथा उसके आसपास के प्रदेश पर शासन करती थी, राज्य वहाँ पर विक्रम संवत् की आठवीं शताब्दी के मध्य के आसपास तक बना रहा*। इस प्रकार गुर्जरवंशियों के अधिकार में रहने से ही इस देश का गुजरात नाम प्रसिद्ध हुआ।

अब हम गुजरात पर राज्य करनेवाले कन्नौज के राजाओं के संबंध में कुछ लिखते हैं। प्राचीन जनश्रुति के आधार पर लिखित महोपाध्याय जिनमंडनगणि-रचित 'कुमारपालप्रबंध' में लिखा है कि

विरुदस्य...। एन्युअल रिपोर्ट आफ दी आर्कियालाजिकल सर्वे आफ इंडिया; ईसवी सन् १६०७–८ पृष्ठ २१४–१५) इस लेख का 'गुर्जरत्रा' शब्द वर्तमान गुजरात का और 'गुर्जरत्रासुरत्राण' अहमदाबाद के सुलतान का सूचक है। 'कुमारपालप्रबंध' में बढ़ियार प्रदेश और पंचासर नगर (गुजरात और कच्छ के बीच) का गुर्जरत्रा देश के अंतर्गत होना लिखा है। (पत्र १)। यहाँ भी गुर्जरत्रा शब्द वर्तमान गुजरात का सूचक है।

* बंबई गैजेटियर, जिल्द १, भाग १, पृ० ११३-११८ (जेम्स कैंपबेल द्वारा संपादित)।

'छत्तीस राजवंशों में से चौलुक्य (सोलंकी) वंश का राजा भूयड़ ३६ लाख गाँववाले कान्यकुब्ज (कन्नौज देश) के कल्याण-कटकपुर में राज्य करता था। उस राजा ने अपनी पुत्री महणल्ल-देवी को गुजरात देश कंचुक (काँचली) के निमित्त दे दिया*। शास्त्री व्रजलाल कालिदास ने प्राचीन जैन ग्रंथों का अवलोकन कर गुजरात के पुरातन इतिहास-संबंधी कई जनश्रुतियाँ प्रकाश में लाईं। व्रजलालजी ने लिखा है कि कन्नौज के आम नामक राजा ने अपनी पुत्री रत्नगंगा का विवाह वलभी के सूर्यवंशी राजा ध्रुवपट्टु से किया था, और अपना प्राप्त किया हुआ गुर्जर देश का राज्य रत्नगंगा काँचली के निमित्त दे दिया†। शास्त्री जी ने कन्नौज के राजा आम को राष्ट्रकूट वंश का और 'कुमारपाल-प्रबंध' के कर्त्ता ने कन्नौज राज्य के कल्याणकटक के राजा को चौलुक्य अथवा सोलंकी माना है। केवल जनश्रुति पर आश्रित होने के कारण ये दोनों कथन विश्वास के योग्य नहीं हैं, फिर भी इन दोनों कथनों से इतना तो निश्चित है कि कन्नौज के किसी राजा का गुजरात पर अधिकार अवश्य रहा था।

जेम्स कैंपबेल द्वारा संपादित बंबई गैजेटियर की पहली जिल्द के प्रथम भाग में प्रकाशित, डाक्टर भगवानलाल इंद्रजी द्वारा लिखित मि० ए. एम. टी. जैकसन द्वारा संशोधित गुजरात के प्राचीन इति-हास में गुजरात पर शासन करनेवाले कन्नौज के राजाओं का कोई इतिहास नहीं दिया गया। हड्डाला से मिले हुए वढवाण के महा-सामंताधिपति चापवंशी धरणीवराह के शक संवत् ८३६ पौष सुदि ४ (वि० सं० ९९१) के दानपत्र में राजाधिराज महीपालदेव का नामोल्लेख है, जिसका सामंत धरणीवराह था। महीपालदेव का ठीक ठीक पता न लगने के कारण इस लेख का संपादन करते समय

* तत्र वंशाः षट्त्रिंशत्......तेषु चौलुक्यवंशे षट्त्रिंशल्लक्षग्रामाभिरामे कान्यकुब्जदेशे कल्याणकटकपुरे श्रीभुवडराजा राज्यं करोति। तेन राज्ञा स्वपुत्र्या महणल्लदेव्या गूर्जरधरित्री कंचुकपदे दत्ता (कुमारपालप्रबंध; पत्र १)।

† रासमाळा का गुजराती अनुवाद (द्वितीय संस्करण) पृ० ३७, टिप्पण।

प्रो० बूलर ने उसको काठियावाड़ का चूडासमा (यादव) राजा महीपाल मान लिया,* जो वास्तव में कन्नौज का राजा था। कनड़ी भाषा के सुप्रसिद्ध कवि पंप के रचे हुए 'विक्रमार्जुनविजय' (पंपभारत) नामक काव्य में चोल के सालंकी राजा अरिकेसरी द्वितीय तथा उसके पूर्व पुरुषों का परिचय दिया गया है। उसमें पंप कवि ने लिखा है कि अरिकेसरी द्वितीय के पिता नरसिंह दूसरे ने (जो राठोड़ों का सामंत था) गूर्जरराज महीपाल को परास्त कर उसकी राज्यश्री छीन ली और उसका पीछा कर अपने घोड़ों को गंगा के संगम पर स्नान कराया†। पंपभारत की रचना पर उस कवि को अरिकेसरी द्वितीय ने शक संवत् ८६३ (वि० सं० ९९८) में एक गाँव दिया था‡।' हड्डाला के दानपत्र में केवल महीपाल का ही उल्लेख मिलता है, परंतु पंपभारत से उसके विषय में यह अधिक ज्ञात हुआ कि वह गुजरात देश का राजा था और उसकी राजधानी गंगा के निकट थी।

पंपभारत में महीपाल को गूर्जरराज लिखा हुआ देखकर मि० जैक्सन ने भूल से यह मान लिया कि यह महीपाल गूर्जर अर्थात् गूजर वंश का था। 'गूर्जरराज' का वास्तविक अर्थ 'गुजरात (देश) का राजा' है। पीछे से कन्नौज के राजा भोजदेव का ग्वालियर से एक शिलालेख मिला। उक्त लेख से भोजदेव और उसके पूर्वपुरुषों का कन्नौज के स्वामी, प्रतिहारवंशी, और रामचंद्र के भाई लक्ष्मण के वंशज होना ज्ञात हुआ। इस लेख का अँगरेजी में आशय प्रकाशित कर डाक्टर कीलहार्न ने कन्नौज के प्रतिहार-वंशियों के इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश डाला, क्योंकि इसी लेख में वहाँ के राजाओं को प्रतिहार लिखा मिलता है। जब मि० जैक्सन ने महीपाल के गुर्जरवंशी होने की कल्पना की, तब उसी के

* इंडियन ऐंटिक्वेरी, जिल्द १२, पृष्ठ १९२।

† मेरा सोलंकियों का प्राचीन इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ २०७।

‡ वही, पृष्ठ २०७।

आधार पर श्रीयुत देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर ने भिन्न भिन्न प्रतिहारवंशियों का गूजरवंशी होना मान लिया। तब से कई अन्य ऐतिहासिकों ने अंधपरंपरा के अनुसार इस बात पर विश्वास कर सब वर्णों के प्रतिहारों का गूजर (गूर्जर) होना स्वीकार कर लिया, जो सर्वथा अविश्वसनीय है। आगे चलकर हम बतलावेंगे कि कन्नौज के प्रतिहारवंशी गुर्जर (गूजर) नहीं किंतु सूर्यवंशी क्षत्रिय थे।

ईसवी सन् १९०२ में दिल्ली दरबार के साथ होनेवाली प्रदर्शनी के समय मैंने जूनागढ़ (काठियावाड़ में) राज्य के ऊना गाँव से मिले हुए दो ताम्रपत्र देखे और उन्हें महत्त्वपूर्ण जानकर मैंने वहीं उनके फोटो उतरवा लिए। फिर इन दोनों ताम्रलेखों का सारांश लिखकर मैंने अपने मित्र डाक्टर कीलहार्न (स्वर्गीय) के पास भेजा और उक्त पुरातत्त्ववेत्ता के विशेष आग्रह करने पर मैंने वे फोटो भी उनके पास भेज दिए; जिनके आधार पर उन्होंने वे दोनों ताम्रपत्र एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द ९, में प्रकाशित कर दिए। उनमें से पहला वलभी संवत् ५७४ (विक्रम संवत् ९५०) का सोलंकी राजा बलवर्मा के समय का है। यह बलवर्मा सोरठ पर शासन करनेवाली सोलंकियों की एक शाखा का पाँचवाँ वंशधर था और कन्नौज के परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्रीमहेंद्रायुधदेव (महेंद्रपाल) का सामंत था*। वि० सं० ९५६ का दूसरा दानपत्र उपर्युक्त बलवर्मा के पुत्र महासामंत अवनिवर्मा द्वितीय (योग) का है। यह अवनिवर्मा परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर भोजदेव का पुत्र और परमभट्टारक महाराजाधिराज महेंद्रपाल देव का सामंत था†। बलवर्मा ने नक्षिसपुर की चौरासी (चौरासी गाँववाला प्रदेश) का जयपुर नामक ग्राम तरुणादित्यदेव नाम के सूर्यमंदिर को भेट किया, और अवनिवर्मा द्वितीय ने सौराष्ट्रमंडल के नक्षिस-

---

* एपिग्राफिया इंडिका; जिल्द ९, पृष्ठ ४–६।

† एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द ९ पृष्ठ ६–१०।

पुर की चौरासी का अंबुलक (अंबुलक) ग्राम जयपुर गाँव के निकट-वाले उसी (तरुणादित्यदेव) सूर्यमंदिर को भेट किया। इन दोनों ताम्रपत्रों से यह निश्चय हो गया कि पूर्वोक्त संवतों में सोरठ पर सोलंकी राज्य करते थे और वे कन्नौज के राजा भोजदेव के पुत्र महेंद्रपाल के सामंत थे। इससे यह भी निश्चित हो गया कि हड्डाला के ताम्रपत्र का महीपाल भी कन्नौज का ही राजा था और कन्नौज के राजाओं की अधीनता में चावड़े तथा सोलंकी, दोनों वंशवाले काठियावाड़ में शासन करते थे।

गुजरात पर राज्य करनेवाले कन्नौज के प्रतिहारवंशी राजाओं का संक्षिप्त परिचय देने से पूर्व हम प्रतिहार नाम के विषय में कुछ लिखना आवश्यक समझते हैं, क्योंकि इस विषय को आधुनिक शोधकों ने बहुत कुछ भ्रमपूर्ण बना दिया है।

जिस प्रकार गुहिल, चौलुक्य (सोलंकी), चाहमान (चौहान) आदि राजवंशों के नाम उनके मूल पुरुषों के नाम से प्रचलित हुए हैं, वैसे प्रतिहार नाम वंशकर्त्ता के नाम से चलाया हुआ नहीं, राज्याधिकार पद से बना हुआ है। राज्य के भिन्न भिन्न अधिकारियों में एक प्रतिहार भी था, जिस पर राजा के बैठने के स्थान अथवा निवास के महल के द्वार पर रहकर उसकी रक्षा करने का भार होता था। इस पद के लिये किसी जाति अथवा वर्ण विशेष का विचार नहीं रहता था, किंतु राजा के विश्वासपात्र पुरुष ही इस पद पर नियुक्त होते थे। प्रतिहार पद पाने के योग्य वही पुरुष समझा जाता था जो चेष्टा एवं आकार से ही मनुष्य को पहिचान जाय और बलवान्, रूपवान्, समय का ज्ञाता तथा स्वामिभक्त हो*। प्राचीन शिलालेखादि में प्रतिहार नाम मिलता है और भाषा में उसे पड़िहार कहते हैं। प्रतिहार नाम वैसा ही है जैसा कि पंचकुल (पंचोली)। पंचकुल राजकर वसूल करनेवाले राजसेवकों की

* इङ्गिताकारतत्त्वज्ञो बलवान्प्रियदर्शनः।
समयज्ञः स्वामिभक्तः प्रतिहारः स इष्यते ॥ चाणक्यसंग्रह।

एक संस्था थी जिसका प्रत्येक व्यक्ति पंचकुल कहलाता था। प्राचीन दानपत्रों में, शिलालेखों तथा 'प्रबंधचिंतामणि' आदि ग्रंथों में पंचकुल का उल्लेख मिलता है। राजपूताने में ब्राह्मण पंचोली, कायस्थ पंचोली, महाजन पंचोली और गूजर पंचोली हैं, जिनमें अधिकतर कायस्थ पंचोली हैं जिसका कारण यह है कि ये लोग विशेषकर राजाओं के यहाँ अहलकारी का पेशा ही करते थे। पंचकुल का पंचउल (पंचोल) और उससे पंचोली शब्द बना है। जैसे पंचोली नाम किसी जाति का सूचक नहीं किंतु पद का सूचक है, वैसे ही प्रतिहार शब्द से किसी जाति-विशेष का नहीं किंतु पद का बोध होता है। इसी कारण शिलालेखादि में ब्राह्मण प्रतिहार, चावड़ा प्रतिहार, गुर्जर (गूजर) प्रतिहार और रघुवंशी प्रतिहारों का नामोल्लेख मिलता है। आधुनिक शोधकों ने प्रतिहार मात्र को गुर्जर (गूजर) मान लिया है, जो सर्वथा भ्रममूलक है।

मंडोर के प्रतिहार ब्राह्मण थे। उनके शिलालेखों से ज्ञात होता है कि हरिश्चंद्र नामक विप्र (ब्राह्मण), जिसको रोहिल्लद्धि भी कहते थे, वेद और शास्त्रों का अर्थ जानने में पारंगत था। उसके दो स्त्रियाँ थीं—एक द्विज (ब्राह्मण) वंश की और दूसरी क्षत्रिय कुल की, जो बड़ी गुणवती थी। ब्राह्मणी से जो पुत्र उत्पन्न हुए वे ब्राह्मण प्रतिहार कहलाए; और क्षत्रिय वर्ण की राज्ञी भद्रा से जो पुत्र जन्मे वे मद्य पीनेवाले (अर्थात् क्षत्रिय) हुए*। मंडोर के प्रतिहारों के तीनों शिलालेखों से हरिश्चंद्र का ब्राह्मण एवं किसी राजा का प्रतिहार होना पाया जाता है। उसकी दूसरी स्त्री भद्रा को राज्ञी लिखा है, जिससे संभव है कि हरिश्चंद्र के पास जागीर

---

* विप्रः श्रीहरिश्चंद्राख्यः पत्नी भद्रा च क्षत्रिया।...।
तेन श्रीहरिचंद्रेण परिणीता द्विजात्मजा।
द्वितीया क्षतृ(त्रि)या भद्रा महाकुलगुणान्विता।।
प्रतिहारा द्विजा भूता ब्राह्मण्यां येभवन्सुताः।
राज्ञी भद्रा च यान्सूते भूता मधुपायिनः॥

राजपूताना म्यूजियम अजमेर में रखे हुए मूल लेख से।

भी हो। उसकी ब्राह्मण वंश की स्त्री के पुत्र ब्राह्मण प्रतिहार कहलाए। जोधपुर राज्य में अब तक प्रतिहार ब्राह्मण* हैं, जो उसी हरिश्चंद्र प्रतिहार के वंशज होने चाहिएँ। उसकी क्षत्रिय वर्णवाली स्त्री भद्रा के पुत्रों की गणना उस समय की प्रथा के अनुसार मद्य पीनेवालों अर्थात् क्षत्रियों में हुई†। उन्होंने अपने बाहुबल से

---

* ईसवी सन् १९११ की जोधपुर राज्य की मनुष्य-गणना की हिंदी रिपोर्ट; हिस्सा तीसरा, जिल्द पहली, पृष्ठ १६०।

† प्राचीन काल में प्रत्येक वर्ण का पुरुष अपने, तथा अपने से नीचे वर्णों में विवाह कर सकता था, और ब्राह्मण पति का अन्य वर्ण की स्त्री से उत्पन्न हुआ पुत्र ब्राह्मण ही माना जाता था। ऋषि पराशर के पुत्र वेदव्यास की, जो धीवरी सत्यवती (योजनगंधा) से उत्पन्न हुए थे, गणना ब्राह्मणों में हुई। ऋषि जमदग्नि ने इक्ष्वाकुवंशी (सूर्यवंशी) क्षत्रिय रेणु की पुत्री रेणुका से विवाह किया, जिससे परशुराम का जन्म हुआ और उनकी भी गणना ब्राह्मणों में हुई। मनु के समय में कामवश ब्राह्मण चारों वर्णों में विवाह कर सकता था। क्षत्रिय जाति की स्त्री से उत्पन्न ब्राह्मण-पुत्र ब्राह्मण के समान माना जाता था, परंतु वैश्य जाति की स्त्री से उत्पन्न होनेवाला अंबष्ठ और शूद्रा से उत्पन्न होनेवाला निषाद कहलाता था।

स्त्रीष्वनंतरजातासु द्विजैरुत्पादितान्सुतान्।
सदृशानेव तानाहुर्मातृदोषविगर्हितान् ॥ ६ ॥
अनन्तरासु जातानां विधिरेषः सुजातनः।
द्व्येकान्तरासु जातानां धर्म्यं विद्यादिमं विधिम् ॥ ७ ॥
ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामम्बष्ठो नाम जायते।
निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते ॥ ८ ॥

मनुस्मृति, अध्याय १०

पीछे से याज्ञवल्क्य ने द्विजों के लिये शूद्रवर्ण की कन्या से विवाह करने का निषेध किया—

यदुच्यते द्विजातीनां शूद्राद्दारोपसंग्रहः।
नैतन्मम मतं यस्मात्तत्रायं जायते स्वयम् ॥ ५६ ॥

याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय।

फिर तो क्षत्रिय वर्ण की स्त्री से उत्पन्न होनेवाले ब्राह्मण के पुत्र की गणना क्षत्रियवर्ण में होने लगी, जैसा कि शंख और औशनस आदि स्मृतियों से पाया जाता है।

मांडव्यपुर (मंडोर) का दुर्ग लेकर* वहाँ अपना राज्य स्थापित किया। ये प्रतिहार पीछे से कन्नौज के रघुवंशी प्रतिहारों के सामंत हुए† ऐसा पाया जाता है। 'संगीतरत्नावली' से ज्ञात होती है कि उसका कर्त्ता चापोत्कट (चावड़ा) वंशी सोमराज गुजरात के चौलुक्य राजा अजयपाल का प्रतिहार था‡। अलवर राज्य के राजोरगढ़ नामक प्राचीन किले से मिले हुए विक्रम संवत् १०१६ माघ सुदि १३ के शिलालेख से पता लगता है कि उस समय राज्यपुर (राजोरगढ़) तथा आसपास के प्रदेश पर गुर्जर वंश के प्रतिहार महाराजाधिराज सावट का पुत्र महाराजाधिराज परमेश्वरमथनदेव राज्य करता था, और वह परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर क्षितिपाल (महिपाल) के पुत्र विजयपाल का सामंत था§।

यत्तु ब्राह्मणेन क्षत्रियायामुत्पादितः क्षत्रिय एव भवति क्षत्रियेण वैश्यायामुत्पादितो वैश्य एव भवति वैश्येन शूद्रायामुत्पादितः शूद्र एव भवतीति शंखस्मरणम्।

—याज्ञवल्क्यस्मृति; आचाराध्याय, श्लोक ६१ पर मिताक्षरा टीका।

नृपायां विधिना विप्राज्जातो नृप इति स्मृतः।

पूना की आनंदाश्रम ग्रंथावली में प्रकाशित 'स्मृतानां समुच्चय', में औशनस् स्मृति; पृ० ४७, श्लोक २८।

* चत्वारश्चात्मजास्तस्यां जाता भूधरणक्षमाः।
श्रीमान्भोगभटः कक्को रज्जिलो दद्द एव च ॥
माण्डव्यपुरदुर्गेऽस्मिन्नेभिर्निजभुजार्जिते।...॥

एपिग्राफिया इंडिका; जिल्द १८, पृ० ६५

† मेरा 'राजपूताने का इतिहास'; जिल्द १, पृ० १५०—५१।

‡ क्षोणिकल्पतरुः समीकसुभश्चापोत्कटग्रामणीः
योगीन्द्रो नवचंद्रनिर्मलगुणः स्फूर्जत्कलानैपुणः ॥
श्रीचौलुक्यनरेन्द्रवेत्रितिलकः श्रीसोमराजः स्वयं
विद्वन्मण्डलमंडनाय तनुते संगीतरत्नावलीम् ॥ ५ ॥

§ परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्रीक्षितिपालदेवपादानुध्यात परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्रीविजयपालदेवपादानामभिप्रवर्द्धमान कल्याणविजयराज्ये, संवत्सरशतेषु दशसु षोडशोत्तरकेषु माघमाससितपक्षत्रयोदश्यां शनियुक्तायामेवं सं० १०१६ माघसुदि १३ शनावद्य श्रीराज्यपुराव-

यह विजयपाल कन्नौज का रघुवंशी प्रतिहार राजा था। उस शिलालेख में मथनदेव को 'महाराजाधिराज परमेश्वर' लिखा है, जिससे अनुमान होता है कि उसे कन्नौज के राजा विजयपाल के बड़े सामंतों में से होना चाहिए। कन्नौज के रघुवंशी प्रतिहार राजाओं का, जिनका राज्य गुजरात पर था, वृत्तांत आगे लिखा जायगा। राजोरगढ़ के शिलालेख में गुर्जर प्रतिहार शब्द देखकर आधुनिक शोधकों ने कन्नौज के इन राजाओं को गुर्जर अथवा गूजर वंश के मान लिया है, जो सर्वथा भ्रमपूर्ण है और इसका संक्षिप्त विवेचन नीचे किया जाता है—

१—ग्वालियर से मिली हुई कन्नौज के प्रतिहार राजा भोजदेव (प्रथम) के समय की प्रशस्ति से जाना जाता है कि 'सूर्यवंश में मनु, इक्ष्वाकु, ककुत्स्थ आदि राजा हुए, उनके वंश में पौलस्त्य (रावण) को मारनेवाले राम हुए; जिनका प्रतिहार* उनका छोटा भाई सौमित्र (लक्ष्मण) था, जो इंद्र का मानमर्दन करनेवाले मेघनाद आदि को हरानेवाला था†।' उसके वंश में नागभट आदि राजा हुए जिनका वर्णन उक्त प्रशस्ति में किया गया है। आगे चलकर उसी प्रशस्ति में वत्सराज को इक्ष्वाकु वंश को उन्नत करनेवाला‡ कहा है।

स्थितो महाराजाधिराज परमेश्वर श्रीमथनदेवो महाराजाधिराज श्रीसावटसूनुर्गुर्जरप्रतिहारान्वयः कुशली···।

एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द ३, पृ० २६६।

* यहाँ प्रतिहार शब्द का अर्थ द्वाररक्षक है।

† मन्विक्ष्वाकुककुस्थ(त्स्थ)मूलपृथवः क्ष्मापालकल्पद्रुमाः ॥ २ ॥
तेषां वंशे सुजन्मा क्रमनिहतपदे धाम्नि वज्रेषु घोरं
रामः पौलस्त्यहिन्श्रं (हिंस्रं) क्षतविहितसमित्कर्म्म चक्रे पलाशैः।
श्लाघ्यस्तस्यानुजोसौ मघवमदमुषो मेघनादस्य संख्ये
सौमित्रिस्तीव्रदंडः प्रतिहरणविधेर्य्यः प्रतीहार आसीत् ॥ ३ ॥

एन्युअल रिपोर्ट ऑफ दी आर्कियालाजिकल सर्वे ऑफ इंडिया; ईसवी सन् १९०३—४, पृष्ठ २८०।

‡ तत्सूनुः प्राप्य राज्यं निजमुदयगिरिस्पर्द्धि भास्वत्प्रतापः
क्ष्मापालः प्रादुरासीन्नतसकलजगद्वत्सलो वत्सराजः···। ६ ॥
···एकः क्षत्रियपुङ्गवेषु च यशोगुर्वीं धुरं प्रोद्वहन्
इक्ष्वाकोः कुलमुन्नतं सुचरितैश्चक्रे स्वनामांकितम् ॥ ७ ॥

वही, पृ० २८०—८१।

इससे निश्चित है कि कन्नौज के प्रतिहार राजा रघुवंशी क्षत्रिय थे, न कि गुर्जरवंशी।

२—'काव्यमीमांसा' आदि अनेक ग्रंथों के रचयिता सुप्रसिद्ध कवि राजशेखर ने, जो कन्नौज के प्रतिहार राजा भोज (प्रथम) के पुत्र महेन्द्रपाल (प्रथम) का गुरु (उपाध्याय) था और महेंद्रपाल तथा उसके पुत्र महीपाल के समय में भी कन्नौज में रहा था, अपनी 'विद्धशालभंजिका' नाटिका में अपने शिष्य महेंद्रपाल (निर्भयनरेंद्र) को रघुकुलतिलक और 'बालभारत' में रघुग्रामणी (रघुवंशियों में अग्रणी) कहा है*। उसी कवि ने 'बालभारत' नाटक में महेंद्रपाल के पुत्र महीपाल को रघुवंश मुक्तामणि (रघुवंश रूपी मोतियों में मणि के समान) एवं आर्यावर्त का महाराजाधिराज लिखा है†। राजशेखर के ये सब कथन ग्वालियर की प्रशस्ति के कथन की पुष्टि करते हैं।

३—शेखावाटी (जयपुर राज्य) के प्रसिद्ध हर्षनाथ के मंदिर की प्रशस्ति में, जो संवत् १०३० आषाढ़ सुदि १५ की साँभर के चौहान राजा विग्रहराज के समय की है, उक्त विग्रहराज के पिता सिंहराज के वर्णन में लिखा है कि 'उस विजयी राजा ने सेनापति होने के कारण उद्धत बने हुए तोमर (तवँर) नायक सलवण को मारा (या हराया, मूल लेख में 'हत्वा' या 'जित्वा' शब्द होगा जो जाता रहा है, केवल 'त्वा' की मात्रा बची है) और चारों ओर युद्ध में राजाओं को मारकर बहुतेरों को उस समय तक कैद में रखा, जब तक कि उनको छुड़ाने के लिये पृथ्वी पर का चक्रवर्ती रघुवंशी (राजा) स्वयं उसके यहाँ न आया‡।

---

* रघुकुलतिलको महेंद्रपालः (विद्धशालभंजिका, १, ६)।
देवो यस्य महेंद्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणीः—
('बालभारत' १, ११)

† तेन (= महीपालदेवेन) च रघुवंशमुक्तामणिना आर्यावर्तमहाराजाधिराजेन श्रीनिर्भयनरेन्द्रनंदनेनाधिकृताः सभासदः—(बालभारत)

‡ ···तोमरनायकं सलव (ण ?)णं सैन्याधिपत्योद्धतं
युद्धे येन नरेश्वरा प्रतिदिशं निर्णा(र्ना)शिता जिष्णुना।

इससे स्पष्ट है कि साँभर का चौहान राजा सिंहराज किसी चक्रवर्ती अर्थात् बड़े राजा का सामंत था। उस समय उत्तरी भारत में प्रबल राज्य प्रतिहारों का ही था, जिनके अधीन राजपूताने का अधिकांश ही नहीं, किंतु गुजरात, काठियावाड़, मध्यभारत (मालवा) एवं सतलज से लगाकर बिहार तक के प्रदेश थे। साँभर के चौहान भी पहले कन्नौज के प्रतिहारों के अधीन थे, क्योंकि उसी हर्षनाथ की प्रशस्ति में सिंहराज के पूर्वज गूवक (प्रथम) के संबंध में लिखा है कि उसने बड़े राजा नागावलोक (कन्नौज का राज्य छीननेवाला प्रतिहार राजा नागभट दूसरा) की सभा में 'वीर' कहलाने की प्रतिष्ठा पाई थी*। ऐसी दशा में सिंहराज की कैद से उन राजाओं को छुड़ानेवाला रघुवंशी राजा कन्नौज का प्रतिहार राजा ही हो सकता है। सिंहराज का समकालीन कन्नौज का प्रतिहार राजा देवपाल या उसका छोटा भाई विजयपाल होना चाहिए। अत: उक्त प्रशस्ति से स्पष्ट है कि वि० सं० १०३० में साँभर के चौहान भी कन्नौज के प्रतिहारों को रघुवंशी मानते थे।

ऊपर उद्धृत किए हुए इन प्रमाणों से निश्चित है कि कन्नौज के प्रतिहार राजा रघुवंशी थे। इस प्रकार ब्राह्मण, चावड़े, गुर्जर और रघुवंशी, इन चार वंशों के प्रतिहारों का अब तक पता चला है। राजाओं के परम विश्वासपात्र पुरुषों को ही प्रतिहार पद दिया जाता था, उनको जागीरें भी मिलती थीं और समय पाकर कोई कोई स्वतंत्र राजा भी बन जाते थे। कुतबुद्दीन एबक शहाबुद्दीन गोरी का गुलाम था, परंतु पीछे से स्वतंत्र सुलतान होने पर उसका वंश गुलामवंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी तरह ब्राह्मण,

---

कारावेश्मनि भूरयश्च विधृतास्तावद्धि यावद्गृहे।
तन्मुक्त्यर्थमुपागतो रघुकुले भूचक्रवर्ती स्वयम्।

एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द २, पृ० १२१-२२

* आद्यः श्रीगूवकाख्या प्रथितनरपतिश्चाहमानान्वयेभूत्
श्रीमन्नागावलोकप्रवरनृपसभालब्ध (ब्ध) वीरप्रतिष्ठः

एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द २, पृ० १२१।

चावड़ा, गुर्जर आदि प्रतिहार प्रारंभ में प्रतिहार थे, परंतु पीछे से सामंत अथवा स्वतंत्र राजा हो गए, जिससे उनसे भिन्न भिन्न प्रतिहार-वंश प्रसिद्ध हुए, किंतु प्रतिहारवंश मूलपुरुष से नहीं प्रत्युत पद से ही प्रसिद्ध हुआ, जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं।

रघुवंशी प्रतिहारों ने प्रथम चावड़ा से भीनमाल का राज्य छीना फिर कन्नौज के महाराज को अपने हस्तगत कर वहीं अपनी राज-धानी स्थिर की, जिससे उनको कन्नौज के प्रतिहार भी कहते हैं। अब तक के शोध के अनुसार उनकी नामावली तथा संक्षिप्त वृत्तांत नीचे लिखा जाता है—

(१) नागभट—शिलालेखादि में कन्नौज के प्रतिहार राजाओं की नामावली नागभट से ही आरंभ होती है। उसको नागा-वलोक भी कहते थे। भड़ौच जिले के अंक्लेश्वर तालुके के हाँसोट गाँव से विक्रम संवत् ८१३ का चौहान राजा भर्तृवढ्ढ (भर्तृवृद्ध) दूसरे का एक दानपत्र मिला है, जिससे भर्तृवढ्ढ दूसरे के नागा-वलोक का सामंत होने का पता लगता है*। इस दानपत्र का नागावलोक यही प्रतिहार नागभट (नागावलोक) होना चाहिए। यदि यह अनुमान ठीक हो तो उसका राज्य उत्तर में मारवाड़ से लगाकर दक्षिण में भड़ौच जिले तक माना जा सकता है। मुसल-मान वलचों (विलोचों) ने उसके राज्य पर आक्रमण किए, परंतु उसमें वे परास्त हुए†। इन विलोचों ने सिंध की तरफ से मार-वाड़ पर चढ़ाई की होगी।

* एपिग्राफिया इंडिका; जिल्द १२, पृ० २०२—३।

† तद्वन्शे (वंशे) प्रतिहारकेतनभृति त्रैलोक्यरक्षास्पदे
देवो नागभटः पुरातनमुनेर्मूर्तिर्बभूवाद्भुतम्॥
येनासौ सुकृतप्रमाथिबलच म्लेच्छाधिपाक्षौहिणीः।
क्षुन्दानस्फुरदुग्रहेतिरुचिरैर्दोर्भिश्चतुर्भिर्बभौ ॥ ४ ॥

प्रतिहार राजा भोजदेव की ग्वालियर की प्रशस्ति; रिपोर्ट आफ दी आर्कि-यालाजिकल सर्वे आफ इंडिया; ईसवी सन् १९०३-४ पृ० २८०।

(२) कक्कुस्थ (संख्या १ का भतीजा)—वह कक्कुक भी कहलाता था।

(३) देवराज (संख्या २ का छोटा भाई)—उसको देव-शक्ति भी कहते थे और वह परम भागवत (वैष्णव) था। उसकी रानी भूयिकादेवी से वत्सराज उत्पन्न हुआ।

(४) वत्सराज (संख्या ३ का पुत्र)—उसने गौड़ और बंगाल के राजाओं को विजय किया। गौड़ के राजा के साथ की लड़ाई में उसका सामंत मंडोर का प्रतिहार कक्क भी उसके साथ था। जिस समय उसने मालवा के राजा पर चढ़ाई की उस समय दक्षिण का राष्ट्रकूट (राठोड़) राजा ध्रुवराज अपने सामंत लाट देश के राठोड़ राजा कर्कराज सहित, जो इन प्रतिहारों का पड़ोसी था, मालवा के राजा को बचाने के लिये गया, जिससे वत्सराज को हारकर मरु (मारवाड़) देश में लौटना पड़ा और गौड़ देश के राजा के जो दो श्वेत छत्र उस (वत्सराज) ने छीने वे राठोड़ों ने उससे ले लिए *। उस क्षत्रियपुंगव ने बलपूर्वक

* गौडेंद्रवंगपतिनिर्ज्जयदुर्विदग्ध-
सद्गूर्ज्जरेश्वरदिग्गर्गलतां च यस्य ।
नीत्वा भुजं विहतमालवरक्षणार्थं
स्वामी तथान्यमपि राज्यछ (फ)लानि भुंक्ते ॥
—बड़ोदे का दानपत्र, इंडियन ऐंटिक्वेरी, जि० १२ पृ० १६०

हेलास्वीकृतगौड़राज्यकमलामत्तं प्रवेश्याचिरा-
द्दुर्मार्गं मरुमध्यमप्रतिव(ब)लैर्यो वत्सरो(रा)जं व(ब)लैः ।
गौडीयं शरदिन्दुपादधवलं छत्रद्वयं के(के)वलं
तस्मान्नाहृततद्यशोपि कुकुंभा प्रांते स्थित तत्क्षणात् ॥
—इंडियन ऐंटिक्वेरी, जिल्द ११, पृष्ठ १५७।

हम ऊपर बतला चुके हैं कि वि० सं० ८१३ में भड़ौच जिले के अंक्लेश्वर तालुके पर चौहानों का राज्य था, और चौहान भर्तृवड्ढ (दूसरा) नागावलोक (नागभट) का सामंत था। पीछे से दक्षिण के राठोड़ों ने लाट देश अपने अधीन कर लिया, इसलिये दक्षिण के राठोड़ों और वत्सराज के बीच लड़ाई हुई होगी। इसके विशेष वृत्तांत के लिये देखो नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग २, पृ० ३४५-४६ और पृ० ३४५ का टिप्पण (१)

भंडि* के वंश का राज्य छीनकर इक्ष्वाकु वंश उन्नत किया। शक संवत् ७०५ (विक्रम संवत् ८४०) में दिगंबर जैन आचार्य जिनसेन ने 'हरिवंश पुराण' लिखा, जिसमें उक्त संवत् में उत्तर (कन्नौज) में इंद्रायुध और पश्चिम (मारवाड़) में वत्सराज का राज्य करना लिखा है†। वह परम माहेश्वर (शैव) था, और उसकी रानी सुंदरीदेवी से नागभट का जन्म हुआ। वत्सराज का मारवाड़ से दक्षिण में जाकर दक्षिण के राठोड़ों से लड़ना निश्चित है, अतएव वर्तमान गुजरात के किसी न किसी विभाग पर उसका अधिकार होना माना जा सकता है।

(५) नागभट दूसरा—(संख्या ४ का पुत्र)—उसको नागावलोक भी कहते थे। उसने चक्रायुध‡ को परास्त कर कन्नौज का साम्राज्य उससे छीना। उसी के समय से गुर्जर देश के इन प्रतिहारों की राजधानी कन्नौज स्थिर होनी चाहिए। उसने आंध्र, सैंधव, विदर्भ (वराड़), कलिंग और वंग के राजाओं को जीता; तथा आनर्त, मालव, किरात, तुरुष्क, वत्स और मत्स्य आदि देशों के पहाड़ो किले ले लिए, ऐसा उपर्युक्त ग्वालियर की प्रशस्ति में

---

* ख्याताद्भण्डिकुलान्मदोत्कटकरिप्राकारदुर्लंघतो
यः साम्राज्यमधिज्यकार्म्मुकसखा संख्ये हठादग्रहीत।

राजा भोजदेव की ग्वालियर की प्रशस्ति; रिपोर्ट आफ दी आर्कियालाजिकल सर्वे आफ इंडिया, ईसवी सन् १९०३-४, पृ० २८०। भंडि का वंश कहाँ राज्य करता था, इसका ठीक ठीक निर्णय नहीं हो सका। एक भंडि तो प्रसिद्ध वैसवंशी राजा हर्षवर्द्धन के मामा का पुत्र और उक्त राजा का मंत्री था। यहाँ उससे अभिप्राय हो ऐसा पाया नहीं जाता। यह चावड़ा वंश का कोई राजा हो तो आश्चर्य नहीं।

† शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पंचत्तरेषूत्तरां
पातीन्द्रायुधि नाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्।
पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृति नृपे वत्सादि(धि)राजेऽपराम्॥

बंबई गैजेटियर, जिल्द १, भाग २, पृ० १९७, टिप्पण २।

‡ चक्रायुध कन्नौज के उपर्युक्त राजा इन्द्रायुध का उत्तराधिकारी था। ये दोनों किस वंश के थे यह ज्ञात नहीं हुआ, परन्तु संभव है कि ये राठोड़ हों।

लिखा मिलता है*। राजपूताने में जिस नाहड़राव पड़िहार का नाम बहुत प्रसिद्ध है और जिसके विषय में पुष्कर के घाट बनवाने की ख्याति चली आती है वह यही नागभट (नाहड़) होना चाहिए, न कि उक्त नाम का मंडोर का प्रतिहार। उसके समय का विक्रम संवत ७७२ का एक शिलालेख जोधपुर राज्य के बीलाड़ा परगने के बुचकला ग्राम से मिला है†। नागभट भगवती (देवी) का परम भक्त था। उसकी रानी ईसटादेवी से रामभद्र उत्पन्न हुआ। नागभट का स्वर्गवास वि० सं० ८६० भाद्रपद सुदि ५ को होना जैन चंद्रप्रभसूरि ने सपने 'प्रभावकचरित' में लिखा है‡। कई

* आद्यः पुमान्पुनरपि स्फुटकीर्तिरस्मा-
जातस्स एव किल नागभटस्तदाख्यः।
यत्रान्ध्रसैन्धवविदर्भकलिंगभूपैः
कौमारधामनि पतंगसमैरपाति ॥ ८ ॥
श्लाघ्यास्पदस्य सुकृतस्य समृद्धिमिच्छु-
र्यः क्षत्रधामविधिबद्धबलिप्रबंधः।
जित्वा पराश्रयकृतस्फुटनीचभावं
चक्रायुधं विनयनम्रवपुर्व्यराजत ॥ ९ ॥
दुर्वारवैरिवरवारणवाजिवार-
याणौघसंघटनघोरघनान्धकारम्।
निर्जित्य वंगपतिमाविरभूद्विवस्वा-
नुद्यन्निव त्रिजगदेकविकासकोषः ॥ १० ॥
आनर्तमालवकिराततुरुष्कवत्स-
मत्स्यादिराजगिरिदुर्गहठापहारैः।
यस्यात्मवैभवमतीन्द्रियमाकुमार-
माविर्बभूव भुवि विश्वजनीनवृत्तेः ॥ ११ ॥

रिपोर्ट आफ दी आर्कियालाजिकल सर्वे आफ इंडिया, ईसवी सन् १९०३-४ पृ० २८१

† एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द ९, पृ० १९९-२००।

‡ विक्रमतो वर्षाणां शताष्टके सनवतौ च भाद्रपदे।
शुक्रे सितपंचम्यां चन्द्रे चित्राख्यऋक्षस्थे ॥ ७२ ॥
माभूत्संवत्सरोऽसौ वसुशतनवतेर्मा च ऋक्षेषु चित्रा
धिग्मासं तं नभस्यं क्षयमपि स कलः शुक्लपक्षोपि यातु।

जैन लेखकों ने कन्नौज के राजा नागभट के स्थान में आम नाम लिखा है परंतु चन्द्रप्रभसूरि ने आम और नागावलोक दोनों एक ही राजा के नाम होना बतलाया है* ।

(६) रामचन्द्र (संख्या ५ का पुत्र)—उसको राम तथा रामदेव भी कहते थे । उसने बहुत थोड़े समय तक राज्य किया । वह सूर्य का भक्त था और उसकी रानी अप्पादेवी से भोज का जन्म हुआ ।

(७) भोजदेव (संख्या ६ का पुत्र)—उसको मिहिर और आदिवहार भी कहते थे । वह अपने पड़ोसी लाट देश के राठोड़ राजा ध्रुवराज (दूसरे) से लड़ा, जिसमें राठोड़ों के कथनानुसार उसकी हार हुई थी । उसके समय के विक्रम संवत् ९०० से लेकर ९३८ तक के पाँच† शिलालेखादि मिले हैं, और चाँदी और ताँबे के सिक्के भी मिले हैं, जिनके एक तरफ 'श्रीमदादिवराह' लेख और दूसरी ओर 'वराह' (बरवराह) की मूर्त्ति बनी है‡ । वह भगवती (देवी) का भक्त था । उसकी रानी चंद्रभट्टारिकादेवी से महेंद्रपाल उत्पन्न हुआ था । भोजदेव के युवराज नागभट का नाम मिलता है, परंतु महेंद्रपाल और विनायकपाल के दान-पत्रों में उसका नाम राजाओं की नामावली में न मिलने से अनुमान होता है कि उसका देहांत भोजदेव की विद्यमानता में ही हो गया हो, जिससे भोजदेव का उत्तराधिकारी उसका दूसरा पुत्र महेंद्रपाल हुआ हो । काठिया-

संक्रान्तिर्या च सिंहे विशतु हुतभुजं पंचमी यातु शुक्रे
गंगातोयाग्निमध्ये त्रिदिवमुपगतो यत्र नागावलोकः ॥ ७२५ ॥
'प्रभावकचरित' में बप्पभट्टिप्रबंध; पृ० १७७ ।

* निर्णयसागर प्रेस में मुद्रित प्रभावकचरित के अंतर्गत बप्पभट्टिप्रबन्ध के श्लोक ७१ तथा ११६ में आम नाम है और श्लोक १८८, ७२२ तथा ७२५ में नागावलोक नाम मिलता है ।

† मेरा 'राजपूताने का इतिहास', जिल्द १ पृ० १६२ ।

‡ स्मिथ; कैटेलाग आफ दी कॉइंस इन दी इंडियन म्यूजियम, पृ० २४१-४२, प्लेट २५ संख्या १८ ।

वाड़ से मिले हुए भोजदेव के एक शिलालेख का फोटो श्रीयुत दत्तात्रेय बालकृष्ण डिस्कलकर ने हमारे पास भेजा है। यह शिलालेख उल्लिखित शिलालेखों से भिन्न है। और उससे भोजदेव का काठियावाड़ पर अधिकार होना निश्चित है।

(८) महेंद्रपाल (संख्या ७ का पुत्र)—उसे महेंद्रायुध, महिंद्रपाल, निर्भयराज और निर्भयनरेंद्र भी कहते थे। उसके समय के दो शिलालेख और तीन ताम्रपत्र मिले हैं, जो वि० सं० ९५० से ९६४ तक के हैं। उन तीन ताम्रपत्रों में से दो जूनागढ़ राज्य के ऊना गाँव से मिले हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इनसे निश्चित है कि काठियावाड़ के दक्षिण विभाग पर भी उसका राज्य था, जहाँ उसके सोलंकी सामंतों की जागीरें थीं*। काठियावाड़ में महेंद्रपाल की तरफ से धीइक नामक शासक या सूबेदार रहता था, जैसा कि उक्त दानपत्रों से जान पड़ता है। 'काव्यमीमांसा', 'कर्पूरमंजरी', 'विद्धशालभंजिका', 'बालरामायण', 'बालभारत' आदि ग्रंथों का कर्ता सुप्रसिद्ध कवि राजशेखर उसका गुरु था। अपने पिता के समान महेंद्रपाल भी भगवती (देवी) का परम भक्त था। उसके तीन पुत्रों—महीपाल (क्षितिपाल), भोज और विनायकपाल—के नामों का पता लगा है। भोज की माता का नाम देहनागदेवी और विनायकपाल की माता का नाम महीदेवी मिला है।

(९) महीपाल (संख्या ८ का पुत्र)—उसको क्षितिपाल भी कहते थे। उसके समय में 'काव्यमीमांसा' आदि का कर्त्ता राजशेखर कवि कन्नौज में विद्यमान था; वह उसको आर्यावर्त का महाराजाधिराज तथा मुरल, मेकल, कलिंग, केरल, कुलूत, कुंतल और रमठ देशवालों को पराजित करनेवाला लिखता है†। महीपाल दक्षिण के राठोड़

* नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग १, पृ० २१२-१५।

† नमितमुरलमौलिः पालको मेकलानां रणकलितकलिंगः केलिकृत् केरलेंदोः।
अजनि जितकुलूतः कुंतलानां कुठारो हठहृतरमठश्रीः श्रीमहीपालदेवः।
—बालभारत की प्रस्तावना।

इंद्रराज (तीसरे, नित्यवर्ष) से भी लड़ा था, जिसमें राठोड़ों के कथनानुसार उसकी हार हुई थी। उसके समय का एक दानपत्र हड्डाला गाँव (काठियावाड़) से शक संवत् ८३६ (विक्रम संवत् ९७१) का मिला, जिससे पाया जाता है कि उस समय बढवाण में उसके सामंत चाप (चावड़ा) वंशी धरणीवराह का अधिकार था। विक्रम संवत् ९७४ का एक और शिलालेख* मिला है।

(१०) भोज दूसरा (संख्या ९ का भाई)—उसने थोड़े ही समय तक राज्य किया। अब तक यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हुआ कि भोज (दूसरा) बड़ा था या महीपाल।

(११) विनायकपाल (संख्या १० का छोटा भाई)—उसके समय का एक दानपत्र विक्रम संवत् ९८८† का मिला है। उसकी रानी प्रसाधनादेवी से महेंद्रपाल (दूसरे) का जन्म हुआ। उसके अंतिम समय से कन्नौज के प्रतिहारों का राज्य निर्बल होता गया और सामंत लोग स्वतंत्र बनने लग गए।

(१२) महेंद्रपाल दूसरा (संख्या ११ का पुत्र)—उसके समय का विक्रम संवत् १००३ का एक शिलालेख प्रतापगढ़ से मिला है। उससे ज्ञात होता है कि घोंटावर्षिका (घोटार्सी, प्रतापगढ़ से अनुमान ६ मील पर) का चौहान इंद्रराज उसका सामंत था; उस समय मंडपिका (मांडू) में बलाधिकृत (सेनापति) कोक्कट का नियुक्त किया हुआ श्रीशर्मा रहता था और मालवा का तंत्रपाल (शासक, हाकिम) महासामंत, महादंडनायक माधव (दामोदर का पुत्र) था, जो उज्जैन में रहता था। चौहान इंद्रराज के बनवाए हुए घोंटावर्षिका के 'इंद्रराजादित्यदेव' नामक सूर्यमंदिर को 'खर्परपद्रक' गाँव महेंद्र-

* इंडियन ऐंटिक्वेरी; जिल्द १६, पृ० १७४-७५।

† इंडियन ऐंटिक्वेरी; जिल्द १५, पृ० १४०-४१। छपी हुई प्रति में संवत् १८८ पढ़ा जाकर उसको हर्ष संवत् माना है जो अशुद्ध है; उसके फोटो में शुद्ध संवत् ९८८ है।

पाल (दूसरे) से भेंट किया, जिसकी सनद (दानपत्र) पर उक्त माधव ने हस्ताक्षर किए थे* ।

महेंद्रपाल द्वितीय के पीछे संभवतः काठियावाड़ के उपर्युक्त सोलंकियों के वंशधर मूलराज ने प्रबल होकर अनहिलवाड़े (पाटण) के अंतिम चावड़ावंशी राजा सामंतसिंह को, जो उसका मामा माना जाता है, विक्रम संवत् १०१७ में मारकर पाटण का राज्य उससे छीन लिया। फिर उसने आबू के परमारों का राज्य भी अपने अधीन किया और कच्छ के जाड़ेचा (यादव) राजा लाखाफूलाणी को मारकर उसने कच्छ के राज्य पर अपना आधिपत्य जमाया। कल्याण के चौलुक्य राजा तैलप के सामंत बारप को युद्ध में मारकर उसने लाट देश अपने अधीन किया और सौराष्ट्र के चूडासमा राजा ग्रहरिपु पर चढ़ाई कर काठियावाड़ को अपने अधिकार में कर लिया। इस प्रकार वर्तमान गुजरात पर से कन्नौज के प्रतिहार राजाओं का राज्य अस्त हो गया।

उधर कन्नौज में महेंद्रपाल दूसरे के पीछे क्रमशः देवपाल और विजयपाल राजा हुए; ये दोनों निर्बल राजा थे। फिर विजयपाल के पुत्र राज्यपाल के समय में वि० सं० १०७५ (ईसवी सन् १०१८) में गजनी के सुलतान महमूद ने कन्नौज पर आक्रमण किया तब उसने सुलतान की अधीनता स्वीकार करली, जिस पर वह अपने सामंतों के हाथ से मारा गया। उसके पीछे त्रिलोचनपाल और यशःपाल का कन्नौज पर अधिकार होना पाया जाता है। अंत में विक्रम संवत् ११३५ के आसपास गाहड़वालवंशी महीचंद्र का पुत्र चंद्रदेव कन्नौज का राज्य प्रतिहारों से छीनकर वहाँ का स्वामी बन गया। इस प्रकार कन्नौज के महाराज्य की इतिश्री हो गई।

* एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द १४, पृ० १८२-८४.

(१२) बिहारी-सतसई-संबंधी साहित्य

[लेखक—बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर, बी० ए०, काशी]

(पत्रिका भाग ६, पृष्ठ १६८ के आगे)

(२१)

नव्वाब जुलिफकार अली की कुंडलिया

इक्कीसवीं टीका नव्वाब जुलिफकार अली की कुंडलिकावृत्त नाम की है। वास्तव में इसको, तथा ऐसे और कुंडलियाओं तथा कवित्त सवैयों के ग्रंथों को टीका नाम देना संगत नहीं है। इनको दोहों के भावार्थ का विस्तार मात्र कहना समुचित है। ग्रिअर्सन साहब ने, शिवसिंह का अनुकरण करके, जुलिफकार की टीका का रचना-काल सन् १७२५ ई० अर्थात् संवत् १७८२ लिखा है, और यह अनुमान अपने मन से किया है कि कदाचित् यह वही जुलिफकार खाँ अमीर उल् उमरा नसरतजंग थे जिनका जन्म सन् १६५७ ई० तथा मृत्यु सन् १७१३ ई० में हुई थी। पंडित अंबिकादत्त जी व्यास ने इसी बात को ठीक मानकर फर्रुखसिअर बादशाह के वजीर की लड़ाई का कुछ वर्णन भी उद्धृत किया है। मिश्रबंधु-विनोद में इनका समय तो वही लिखा है जो शिवसिंहसरोज में है, पर इतना विशेष कहा है कि ये बुँदेलखंड के शासक अलीबहादुर के पुत्र थे।

इस ग्रंथ के अंत में इसके रचना-काल का जो यह दोहा दिया है—

दोहा

"गुन नभ ग्रह अरु इंदु नभ सित पंचमि बुधवार।
जुलिफकार सतसई को प्रगट भयो अवतार॥"

उससे इसका रचना-काल संवत् १६०३ ठहरता है, और इसकी समाप्ति में जो "सिद्धिश्रीमच्छ्रो ५ नव्वाब जुल्फकार अलीबहादुर-

विरचिता कुंडलिकावृत्तसप्तशतिका समाप्ता" लिखा है, उससे जुल्फिकार का पूरा नाम जुल्फिकारअली विदित होता है। पर बहादुर-शाहवाले जुल्फिकार का पूरा नाम जुल्फिकारखाँ था। समय तथा नाम दोनों की विवेचना से कुंडलियावाले जुल्फिकार अली बहादुर-शाह के वजीर से भिन्न थे। अनुमान यह होता है कि या तो ये लखनऊ के नव्वाबों के वंश में कोई व्यक्ति थे अथवा किसी अन्य स्थान के। इस ग्रंथ की दो प्रतियों के श्रीमान् काशिराज के सरस्वती-भवन में विद्यमान होने से यह भी अनुमान होता है कि कदाचित् ये अपने पैतृक पद से च्युत होकर काशी में रहते रहे हों तो कोई आश्चर्य नहीं। काशी में उन दिनों सरदार मणिदेव प्रभृति अच्छे अच्छे कवि विद्यमान थे। संभव है कि उन्हीं में से किसी ने यह कुंडलिकावृत्त सप्तशती उक्त नव्वाब साहब के नाम से बनाई हो।

इस ग्रंथ में "अमी-हलाहल-मधुभरे इत्यादि" दोहे पर भी कुंडलिया लगाई गई है। पर यह दोहा बिहारी का नहीं है, प्रत्युत गुलामनबी बिलिगरामी का है, जिनका उपनाम रसलीन था। इनका अंगदर्पण नामक ग्रंथ संवत् १७९४ में बना था। अतः इस कुंडलिया ग्रंथ के बनाने अथवा बनवानेवाले वह जुल्फिकार नहीं हो सकते जिनका देहांत संवत् १७७० में हुआ था।

इसकी कुंडलियाओं की रचना मध्यम श्रेणी की है। उनसे अर्थ-ज्ञान में विशेष सहायता प्राप्त नहीं होती। निदर्शनार्थ एक दोहे की कुंडलिया लिखी जाती है—

कुंडलिया

पार्‌यौ सोरु सुहाग कौ इनु बिनु हीं पिय-नेह।
उनदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह॥
कै अलसौंहीं देह खिसौंहो सी कै ठाढ़ी।
प्रीति जनावति अधिक रीति रति की जो गाढ़ी॥
गाढ़ी करि अंग आँगि घाघरौ घनो बिगार्‌यौ।
हार्‌यौ हियौ दिखाइ अनोखौं आनँद पार्‌यौ॥

इस ग्रंथ में दोहों का पूर्वापरक्रम पुरुषोत्तमदास जी के क्रमानुसार रखा गया है, जिसका विवरण तीसरे क्रम में हो चुका है, पर इसमें कुछ दोहे आगे पीछे कर दिए गए हैं। इसके अतिरिक्त इस पुस्तक में २१ दोहे ऐसे हैं जो पुरुषोत्तमदास जी के क्रम की पुस्तक में नहीं हैं, और पुरुषोत्तमदास जी के क्रम के १९ दोहे इसमें नहीं हैं। इस पुस्तक में जो ७८३ दोहे, सोरठे रखे गए हैं उनमें से ३१ दोहे सोरठे बिना कुंडलिया लगाए ही रख दिए गए हैं, जैसा कि स्वयं ग्रंथकार ने इस दोहे से विदित कर दिया है—

दोहा

दोहा और जु सोरठा हुते छंद-अवरोध।
ते बिरचे नहिं याहि तें कुंडलियावृत सोध॥

(२२)

ईश्वरीप्रसाद कायस्थ कृत कुंडलिया

मिश्रबंधु-विनोद में २०२५ अंक पर कन्नौज-निवाजी ईश्वरीप्रसाद कायस्थ की बनाई हुई बिहारी-सतसई पर कुंडलियाओं की एक पुस्तक लिखी है। उक्त ग्रंथ में ईश्वरीप्रसाद का जन्म-काल संवत् १८८६ तथा कविता-काल संवत् १९१० बतलाया है। इनके पाँच और ग्रंथों के ये नाम भी उसमें दिए हैं—(१) जीव-रक्षावली, (२) व्याकरण-मूलावली, (३) नाटक रामायण, (४) ऊषा-अनिरुद्ध नाटक, (५) तवारीख महोबा।

यह टीका हमने नहीं देखी है।

(२३)

सरदार कवि की टीका

तेईसवीं टीका सरदार कवि की है। इसकी एक प्रति स्वयं सरदार कवि के शिष्य नारायणदास जी कवि की लिखी हुई हमारे पास थी, पर दीमकों को कुछ ऐसी प्रिय लगी कि वे उसको सब की सब चट कर गए। अतः हम उसके विषय में कुछ विशेष नहीं कह सकते। जहाँ तक हमको स्मरण है, वह टीका बहुत अच्छी

है और संवत् १९२० तथा १९३० के बीच की बनी है। इसका विवरण सर जी० ए० ग्रिअर्सन, पंडित अंबिकादत्त जी व्यास तथा मिश्रबंधु महाशयों ने भी किया है। सरदार कवि को हमने स्वयं अपनी बाल्यावस्था में देखा था। संवत् १९४० के कुछ पीछे तक वे जीवित थे। उस समय उनकी अवस्था ७० वर्ष के ऊपर रही होगी। वे स्वर्गवासी श्रीमान महाराजा सर ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह जो देव महोदय काशिराज की सभा के कवियों में थे। काशी के भदैनी मोहल्ले में, हमारे घर से थोड़ी ही दूर पर, वे रहते थे, और हमारे पूज्य पिता जी के पास प्राय: आया करते थे। हम कभी कभी उनसे कुछ पढ़ भी लेते थे इनके पिता का नाम हरिजन था। ये प्रसिद्ध साहित्यवेत्ता प्रतापशाही के शिष्य थे; और स्वयं भी साहित्य के बड़े विद्वान् तथा अपने समय में भाषा काव्य के अद्वितीय पंडित और जानकार थे। सेवकराम तथा मणिदेव प्रभृति बड़े बड़े कवि भी उनके सामने साहित्य विषय पर बातचीत करते हिचकते थे। यद्यपि इनकी कविता बहुत उच्चश्रेणी की तथा विशेष सरस नहीं होती थी पर इनकी जानकारी परले सिरे की थी। पिंगल और अलंकार में तो ये अपना उपमान नहीं रखते थे। ये बड़े लंबे चौड़े हाथ पावों के मनुष्य थे, और इनके मुख पर बुँदेलखंडी श्वेत दाढ़ी इनकी आकृति को और भी दबंगता प्रदान करती थी। ये कवित्त ऐसा ललकारकर पढ़ते थे कि घर गूँज उठता था।

इनके बनाए इतने ग्रंथ देखने सुनने में आए हैं—(१) साहित्यसरसी, (२) हनुमद्भूषण, (३) तुलसीभूषण, (४) मानसभूषण, (५) कविप्रिया की टीका, (६) रसिकप्रिया की टीका, (७) बिहारी-सतसई की टीका, (८) सूरदास के ३८० कूट पदों की टीका, (९) व्यंगविलास, (१०) षट्ऋतु, (११) रामरत्नाकर, (१२) रामरसयंत्र, (१३) साहित्य-सुधाकर और (१४) रामलीला-प्रकाश। इनके अतिरिक्त इन्होंने प्राचीन कवित्तों का एक संग्रह भी बड़ा उत्तम किया था जिसका नाम शृंगार-संग्रह

है, और संस्कृत के मुक्तावली नामक न्याय के ग्रंथ का दोहे चौपाई इत्यादि छंदों में अनुवाद भी किया था। खेद का विषय है कि इनके सब ग्रंथ प्राप्त नहीं होते।

(२४)

पद्माकर जी के पौत्र गदाधर जी की टीका

हमारे विद्याभूषण पंडित रामनाथ जी ज्योतिषी जयपुर से सतसई की एक टीका के कुछ पत्रे हमारे दिखलाने के निमित्त ले आए थे, जो कि देखने के पश्चात् लौटा दिए गए और उसके स्वामी को लिखा गया कि वे कृपया समग्र टीका की एक प्रति हमारे पास भेज दें। पर उस समय और कार्य्यों के बाहुल्य के कारण उसकी प्राप्ति की कुछ विशेष ताक नहीं की गई, अतः वह टीका हमको प्राप्त न हुई। वह प्रसिद्ध कविकुलचूड़ामणि पद्माकर जी के किसी वंशज की (संभवतः गदाधर जी की) रची हुई है, और जहाँ तक मुझे स्मरण है, कृष्णदत्त की टीका की भाँति उसमें भी दोहों पर कवित्त सवैया बनाए गए हैं और अर्थ भी कुछ खोले गए हैं। गदाधर भट्ट के विषय में मिश्रबंधु-विनोद में यह लिखा है—

"ये महाशय मिहींलाल के पुत्र और प्रसिद्ध कवि पद्माकर के पौत्र थे। इनका स्वर्गवास दतिया में ८० वर्ष की अवस्था में संवत् १९५५ के लगभग हुआ था। जयपुर, दतिया और सुठालिया के महाराजाओं के यहाँ इनका विशेष मान था। जयपुर के महाराजा सवाई रामसिंह के इच्छानुसार इन्होंने संवत् १९४२ में कामंदक नामक संस्कृत-नीति का भाषा-छंदों में अनुवाद किया। अलंकार-चंद्रोदय, गदाधर भट्ट की बानी, कैसर सभा विनोद, और छंदोमंजरी नामक इनके ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। अंतिम ग्रंथ कवि जी ने सुठालिया के राजा माधवसिंह के आश्रय में बनाया। इसकी कवि ने वार्तिक व्याख्या भी लिखी थी। गदाधर जी का काव्य परम प्रशंसनीय और मनोहर है। इनकी भाषा खूब साफ सानुप्रास और श्रुतिमधुर है। हम इनको तोष कवि की श्रेणी में रखेंगे।"

इस ग्रंथ की रचना संवत् १८२५ के आसपास की अनुमानित करके हमने इसके विवरण को यह २४ वाँ स्थान दिया है।

(२५, २६)

धनंजय तथा गिरिधर की टीकाएँ

रसकौमुदी नामक ग्रंथ में, जिसका विवरण आगे होगा, दो और टीकाओं के नाम लिखे हैं —(१) धनंजयकृत टीका, तथा (२) गिरिधरकृत टीका। इन दोनों टीकाओं के विषय में नाम के अतिरिक्त उक्त ग्रंथ में और कुछ नहीं लिखा है, और किसी अन्य ग्रंथ से भी इनका कुछ पता नहीं मिलता। अतः हमने इनको रसकौमुदी के पहले स्थान दिया है।

(२७)

रसिकविहारी की रसकौमुदी टीका

सत्ताईसवीं टीका, अथवा दोहों का सवैया तथा घनाक्षरी छंदों में विस्तार रसकौमुदी है। इसके रचयिता अयोध्या के कनकभवन स्थान के महंत श्री प्यारेलाल जी के शिष्य श्री जानकीप्रसाद जी उपनाम रसिकविहारी अथवा रसिकेश थे। संवत् १९२७ में इस ग्रंथ की रचना हुई। इसमें बिहारी के ३१६ दोहों का सवैया तथा घनाक्षरी छंदों में विस्तार किया गया है।

इनकी जीवनी मिश्रबंधु-विनोद में यह दी है—

"इनका जन्म संवत् १९०१ में हुआ था। आप कुछ समय में वैरागी होकर अयोध्या में कनकभवन के महंत हो गए, और अपना नाम आपने जानकीप्रसाद रखा। वैरागी होने के पूर्व आप पन्ना में दीवान थे। आपने रामरसायन (९०८ पृष्ठ), काव्यसुधाकर (१४७ पृष्ठ), इश्क-अजायब, ऋतुतरंग, विरहदिवाकर, रसकौमुदी, सुमतिपचीसी, सुयशकदंब, कानून-मजमूआ, संग्रहवित्तावली, मनमंजन, संग्रहीत संग्रही, गुप्तपच्चीसी आदि २६ ग्रंथ रचे हैं। इनके प्रथम दो ग्रंथ हमारे पास इस समय प्रकाशित रूप में वर्तमान हैं। रामरसायन में रामायण की कथा और काव्यसुधा-

कर में छंद रस भाव अलंकार आदि काव्यांगों का अच्छा वर्णन है। इनका शरीरपात हुए थोड़े दिन हुए हैं। आपका काव्य चमत्कारिक है। हम इन्हें तोष की श्रेणी में रखते हैं। इन्होंने उर्दू मिश्रित भाषा में भी रचना की है।"

बिहारी-विहार की भूमिका में उनके दो ग्रंथों के नाम और मिलते हैं—(१) कवित्त वर्णावली, (२) बजरंगबत्तीसी।

इनकी कविता यद्यपि कृष्णदत्त की सी उत्तम तो नहीं है, तथापि मध्यम श्रेणी में उच्च कोटि की है। निदर्शनार्थ एक दोहे का घनाक्षरी छंद नीचे लिखा जाता है—

दोहा

सुनत पथिकमुँह माह निसि लुवैं चलति उहिं गाम।
बिनु बूझैं बिनुहीं कहैं जियति बिचारी बाम॥

घनाक्षरी

बीते बहु द्यौस प्रानप्यारी की न पाई सुधि,
दई वह रौहै किमि अति सुकुमारी है।
सोचत हिये मैं छैल बिबस बिदेस माहिं,
मो में प्रान वाकौ प्रिय प्रान हूँ तैं प्यारी है॥
ता छन बटोही कोऊ चरचा चलाई कछू,
रसिकबिहारी भयौ अधिक सुखारी है।
सुनी उहिं गाम माहिं निसि मैं चलत लूह,
सुने बिन बूझे बाम जियति बिचारी है॥

रसकौमुदी ग्रंथ सन् १८८५ ईसवी में हरिप्रकाश प्रेस, काशी, में मुद्रित होकर बाबू जगन्नाथप्रसाद वर्म्मा के द्वारा प्रकाशित हुआ था। इसी के साथ इस ग्रंथकार के सुयशकदंब, सुमतिपचीसी एवं शब्दार्थ नाम के तीन छोटे छोटे ग्रंथ एवं कुछ प्रार्थना के कवित्त और कुछ स्फुट कवित्त भी छपे हैं।

इसके ३१९ दोहों के क्रमादि का वर्णन बारहवें क्रम में हो चुका है।

(२८)

कुलपति मिश्र के वंशज अयोध्याप्रसाद की टीका

जब हमारे विद्याभूषण पंडित रामनाथ जी सतसई की प्रतियों तथा टीकाओं की खोज में जयपुर गए थे तो कुलपति मिश्र के एक वंशज श्री पंडित बदरीप्रसाद जी से उनका साक्षात् हुआ था। वे उस समय बाँदीकुई स्टेशन पर रेलवे दफ्तर में काम करते थे। उन्होंने कहा था कि हमारे पिता श्री पंडित अयोध्याप्रसाद जी की बनाई हुई सतसई पर एक बृहत् टीका है, जिसकी हमने स्पष्ट लिपि करके श्रीमान् पंडित रामेश्वर भट्ट जी आगरानिवासी को प्रकाशनार्थ दिया है। पर यद्यपि उसको दिए बहुत दिन हो चुके हैं तथापि उन्होंने उसको अभी तक प्रकाशित नहीं किया है, और न लौटाया ही है। अब हम उनको स्मारक पत्र लिखकर उसके शीघ्र छपवाने अथवा लौटा लेने का प्रबंध करेंगे, और यदि लौट आवेगी तो आपके पास भेज देंगे।

कुछ दिनों तो हमने उनके पत्र की प्रतीक्षा की, और फिर कार्य-बाहुल्य तथा आलस्य से उसका विस्मरण हो गया। अब उस बात को ४-५ वर्ष हो गए। अब हमको उनका इस समय का पता भी ज्ञात नहीं है और न श्रीमान् पंडित रामेश्वर भट्ट जी ही इस संसार में हैं कि उनसे उसका पता लग सके। उक्त भट्ट जी के सुयोग्य पुत्र पंडित बदरीनाथ जी भट्ट इस समय लखनऊ की यूनीवरसिटी में हिंदी के लेकचरर हैं। उनसे हमने स्वयं पूँछा था पर कुछ पता न चला।

इसका रचना-काल संवत् १९३० के आसपास अनुमानित करके हमने इसको यह २८ वाँ स्थान दिया है।

(२९, ३०)

रामबकस कृत तथा गंगाधर कृत टीकाएँ

शिवसिंह-सरोज से दो और टीकाओं का पता मिलता है—(१) रामबकस कृत टीका, तथा (२) गंगाधर कृत उपसतसइया।

इन टीकाओं के विषय में उसमें कुछ विशेष नहीं लिखा है और न इनके रचना-काल ही बतलाए हैं। अतः हम इनको शिवसिंह-सरोज के रचना-काल के पूर्व की मानकर २९ वाँ तथा ३० वाँ स्थान देते हैं, यद्यपि वास्तव में इनका स्थान और भी पूर्व होना अधिक संभावित है।

शिवसिंह-सरोज में इनके विषय में यह लिखा है—

(१) रामबक्स—"ये राना सिरमौर के यहाँ थे और रससागर नामक भाषा साहित्य में एक ग्रंथ महासुंदर बनाया है, और सतसई की टीका बहुत सुंदर की है।" रससागर में से ये तीन दोहे और तीन कवित्त भी उक्त ग्रंथ में उद्धृत किए हैं—

दोहा

चित्रित दसैं अवतार सखि तामैं सतवैं कौन।
बंक चितै कै जानकी मुसुकानी, गहि मौन॥ १॥
राधा प्यारी फाग मैं गहि गहि कान्हहि लेति।
दियौ न मैं यह जानि कै फिरि फिरि काजर देति॥ २॥
अंतरिच्छ गच्छत सुपथ ह्वै सपच्छ बुध चित्त।
अच्छर प्रभु के ध्यान के इच्छत कविता वित्त॥ ३॥

कवित्त

चरचत चाँदनी चखन चैन चुयौ परै,
चौंधा सो लग्यो है चारों ओर चित चेत ना।
गुंजत मधुपवृंद कुंजन मैं ठौर ठौर,
सोर सुनि सुनि रह्यो परत निकेत ना॥
राम सुने कूकन करेजौ कसकत आली,
केकिन को कोऊ अब मूँदि मुख देत ना।
अंत करे डारत बसंतहि बनाय हाय,
कंतहिँ बिदेस तें बुलाय कोऊ लेत ना॥ १॥
दंग करि दंगल उदंगल उदंग करि,
मंगल कै मंगल अमंगल दबायहौं।

छीरनिधि मंडि धूरिधारनि घमंडि घन,
मंडलै , घमंडि घननादहिं बहाइहैं ॥
राम कवि कहै मैं अकेला आज हेला करि,
देखत सुहेला लंक ढेला लौं बहाइहौं ।
महामद अंध दसकंध के उतंग उत,
काटि उत्तमंग हार हर कौ बढ़ाइहौं ॥ २ ॥
दीरघ दँतारे भारे अंजन-अचल कारे,
गाढ़े गढ़ कोट पट तोरत पविन के ।
चापवंत घन से सिंगारे वारि बरसत,
सुंडन उदंत रथ रोकत रविन के ॥
कहै रामबकस सपूत सिरमौर राना,
ऐसे गज देत महामंदिर छविन के ।
वारे मथवान वारे महा मयदान वारे,
दानवारे दानवारे द्वारे में कविन के ॥ ३ ॥

(२) गंगाधर—"इन्होंने उपसतसइया नामक सतसई का तिलक कुंडलिया छंद और दोहों में बनाया है।"

उपसतसइया में से शिवसिंह जी ने यह उदाहरण भी दिया है—

कुंडलिया

मेरी भवबाधा हरौ राधा नागरि सोइ ।
जा तन की झाईं परैं स्याम हरित दुति होइ ॥ १ ॥
स्याम हरित दुति होइ हरत हिय हेरन हारहिं ।
याही तैं सब हरे हरे कहि नाम उचारहिं ॥
जिहिं झाईं तैं लह्यौ हरन गुन हरि सो राधा ।
नागर नेकु निहारि हरो मेरी भवबाधा ॥ १ ॥
तजि तीरथ हरि राधिका तनदुति करि अनुराग ।
जिहिं ब्रज केलि निकुंज मग पग पग होत प्रयाग ॥ २ ॥
पग पग होत प्रयाग सितासित जावक लागे ।
गंगा जमुना सरस्वती लज्जित तिन आगे ॥

रस अनुराग सिंगार प्रेम के बरन चरन भजि।
ब्रजनिकुंज मग लोटि पर्यौ रज सब तीरथ तजि॥ २॥
कर मुरली बनमाल उर सीस चंद्रिका मोर।
या छबि सों मो मन बसौ निसिदिन नंदकिसोर॥ ३॥

(३१)

प्रभुदयाल पाँडे जी की टीका

इकतीसवीं टीका प्रभुदयाल पाँडे जी की है। पंडित अंबिकादत्त व्यास जी ने इस टीका तथा टीकाकार के विषय में यह लिखा है—

"यह टीका संवत् १९५३ में कलकत्ता बंगवासी ऑफिस से प्रकाशित की गई है। इसके रचयिता पंडित प्रभुदयाल पाँडे माथुर चतुर्वेदी हैं। ये जिला आगरा के निवासी और कानपुर के पंडित प्रतापनारायण मिश्र के शिष्य हैं। इस समय इनका वय २२ वर्ष का है और प्रसिद्ध संवादपत्र हिंदी बंगवासी के सहकारी संपादक हैं। यह टीका कदाचित् अति शीघ्रता से लिखी गई है, क्योंकि अनेक दोहों के पाठ भी गड़बड़ हैं और अनेक दोहों के अर्थ भी। विशेषता यही है कि टीका की भाषा बहुत उत्तम है और अन्वय तथा शब्द-व्युत्पत्ति का क्रम अच्छा है।"

इस टीका को सामयिक खड़ी बोली में प्रथम टीका होने का गौरव प्राप्त है। इसमें प्रति दोहे का अन्वय दिखलाकर सरलार्थ किया गया है, और वक्ता बोधव्य भी बतलाए गए हैं। इसमें कठिन शब्दों की व्युत्पत्ति तथा अर्थ भी कहे गए हैं। किसी किसी दोहे का भावार्थ तथा शब्दार्थ यद्यपि चिंतनीय है तथापि पाँडे जी का श्रम तथा ढंग प्रशंसनीय है। सतसई के पढ़नेवालों को इससे आदि में सहायता मिल सकती है। निदर्शनार्थ एक दोहे की टीका नीचे लिखी जाती है—

दोहा

पार्यौ सोरु सुहाग कौ इनु बिनु हीं पिय-नेह।
उनदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह॥ ३७७॥

अन्वय—उनदौंहीँ अँखियाँ ककै, देह अलसौंहीं कै, इन पियनेह-बिनुहीं सुहाग कौ सोर पारयौ।

सरलार्थ—(झूठमूठ) उन्निद्रित आँखें करके, देह आलस्य-युक्त करके, इन्होंने पिय के स्नेह बिना ही सुहाग का शोर डाला है (सुहाग का हल्ला मचाया है)। सौत की आँखें रसमसी और देह अलसाई देख के अन्य-संभोग-दुःखिता की अनखभरी बातें सखी से हैं।

शब्दव्युत्पत्ति—उनदौंहीं—सोके उठीं सी, अर्धमीलित। सोर—हल्ला, गुल। पारयौ—डाला ॥ ३७७ ॥

इस टीका में १४ पृष्ठ की एक भूमिका भी लिखी है, जिसमें वाद विवाद करके बिहारी को माथुर ब्राह्मण और कृष्ण कवि को उनका पुत्र अथवा पुत्रवत् शिष्य माना है। दोहों का क्रम इसमें कृष्णदत्त कवि की टीका का रखा गया है, जिसका विवरण चौथे क्रम में किया गया है।

दोहा

सतसैयाँ के दोहरे ज्यौं नावक के तीर।
देखत के छोटे लगैं बेधैं सकल सरीर ॥
जो कोऊ रसरीति को समुझ्यौ चाहै सार।
पढ़ै बिहारी-सतसई कविता को सिंगार ॥

ये दो दोहे पाँडे जी ने अपनी भूमिका में बिहारी की आत्मश्लाघा के उदाहरण में लिखे हैं, और फिर इन्हीं दोहों को टीका समाप्त करने पर पाँच और दोहों के साथ सतसई की प्रशंसा में लिखा है। इन्हीं से धोखा खाकर मिश्रबंधु महाशयों ने भी हिंदी-नवरत्न में इनको बिहारी-रचित कहा है, यद्यपि इन दोहों की रचना-प्रणाली तथा शब्द-विन्यास इत्यादि इनको पुकारकर अबिहारी-रचित बतलाते हैं।

वास्तव में ये सातों दोहे बिहारी के नहीं हैं। इनमें से ६ दोहे तो कृष्ण कवि के हैं, जो उन्होंने अपनी टीका समाप्त करने पर सत-

सैया की प्रशंसा में लिखे हैं, और एक दोहा अर्थात् "सतसैया के दोहरे इत्यादि", हरिजू के खर्रे को छोड़कर और किसी प्रति में प्राप्त नहीं होता। पर है यह दोहा सतसैया की प्रशंसा में बहुत विख्यात। ज्ञात होता है कि पाँडे जी ने यह दोहा इधर उधर सुनकर लिख दिया है, और उन्हीं का अनुकरण मिश्रबंधु महाशयों ने भी, बिना जाँच का विशेष कष्ट उठाए, किया है।

यद्यपि क्रम तो इसमें कृष्ण कवि की टीका का रखा गया है पर कृष्ण कवि की टीका में जो ६९९ दोहे हैं, उनमें कुछ न्यूनाधिक्य करके इस टीका में ७१९ दोहे रखे गए हैं। उनमें से एक दोहा "अरे परेखौ इत्यादि" इसमें दोहराकर आया है। शेष ७१८ दोहे जो रह जाते हैं उनमें से तीन दोहे ऐसे हैं जो कृष्ण कवि की टीका में नहीं आए हैं, और २१ दोहे इसमें कृष्ण कवि की टीका से अधिक हैं। इन २१ दोहों में से १७ दोहे लालचंद्रिका में पाए जाते हैं। उन्हीं १७ दोहों में "संवत् ग्रह ससि इत्यादि" दोहा भी है, जिससे पाँडे जी का यह दोहा लालचंद्रिका ही से लेना प्रमाणित होता है। चार दोहे जो इसमें और अधिक हैं उनमें से तीन दोहे तो और किसी किसी ग्रंथों में भी मिलते हैं, पर "कहौं बात इत्यादि" दोहा पाँडे जी की टीका को छोड़कर और किसी टीका में नहीं आया है। लालचंद्रिका से जो १७ दोहे पाँडे जी ने लिए हैं उनमें से १३ दोहे ऐसे हैं जो बिहारी-रत्नाकर में भी आए हैं।

(३२)

छोटूराम कृत वैद्यक टीका

बिहारी-विहार की भूमिका में छोटूराम कृत एक वैद्यक टीका भी सतसई की टीकाओं में गिनाई गई है। इस टीका का विवरण कहीं कुछ नहीं मिलता। केवल इतना सुना गया है कि इसके टीकाकार ने प्रत्येक दोहे का अर्थ इस प्रकार से घुमा फिरा, तथा चीर फाड़कर किया है कि उसमें से वैद्यक का कोई योग (नुसखा) निकलता है।

छोटूराम के विषय में और तो कहीं कुछ नहीं मिलता, पर मिश्र बंधु-विनोद से किसी एक छोटूराम के विषय में इतना ज्ञात होता है कि वे बाँकीपुर के रहनेवाले एक गद्य-लेखक थे, और उन्होंने रामकथा नामक एक ग्रंथ बनाया है।

इस टीका का विवरण बिहारी-विहार की भूमिका में होने के कारण हमने इसको उसके पहले स्थान दे दिया है।

(३३)

पंडित अंबिकादत्त व्यास की कुंडलियाँ

तेंतीसवीं टीका, अथवा दोहों का कुंडलियाओं में विस्तार, बिहारी-विहार है। इसके रचयिता स्वर्गवासी साहित्याचार्य पंडित अंबिकादत्त जी व्यास, उपनाम सुकवि, थे। इनसे मुझसे मित्रता थी, और जब कभी वे काशी आते थे तो प्रतिदिन घंटों सत्संग रहता था। ये महाशय संस्कृत के पूर्ण विद्वान् और कवि थे, एवं भाषा में भी सुंदर तथा सरस कविता करते थे। इन्होंने स्वयं जो अपना जीवनचरित्र बिहारी-विहार के अंत में लिखा है उसका संक्षेप यहाँ लिखा जाता है—

ये महाशय आदि गौड़ पाराशर गोत्री, यजुर्वेदी एवं ओड़ाकुली ब्राह्मण थे। इनके पूर्वज जयपुर के समीप 'भानपुर' (मानपुर) में रहते थे, और उनकी वृत्ति ज्योतिष की थी। इनके पितामह पंडित राजाराम जी सकुटुंब काशी में आ बसे और वहाँ के प्रसिद्ध ज्योतिषियों में परिगणित हुए। उनके ज्येष्ठ पुत्र पंडित दुर्गादत्त जी थे जो कविमंडल में दत्त कवि के नाम से प्रसिद्ध हैं, और जिनका पूरा जीवनचरित्र खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर, में अलग छपा है। इन्हीं के पुत्र साहित्याचार्य पंडित अंबिकादत्त व्यास हुए। इनका जन्म चैत्र शुक्ल अष्टमी संवत् १८१५ में जयपुर में हुआ था। पाँच ही वर्ष की अवस्था से इनके पिता जी ने इनको भाषा तथा संस्कृत की शिक्षा देना आरंभ कर दिया और ये दस ही वर्ष की अवस्था से भाषा की सामान्य कविता करने लगे। धीरे धीरे इनका अभ्यास

संस्कृत तथा भाषा दोनों में बढ़ने लगा, और क्रमशः इन्होंने साहित्याचार्य इत्यादि पद प्राप्त किए, और विद्वत्समाज में आदर पाने लगे। संवत् १९४० में ये मधुबनी संस्कृत स्कूल के अध्यक्ष नियत हुए और संवत् १९४३ में मुजफ्फरपुर जिला स्कूल के हेडपंडित हो गए। फिर संवत् १९४४ में ये भागलपुर के जिला स्कूल में भेजे गए। संवत् १९४५ में इनका सामवत् नाटक छपा और इन्होंने संस्कृत भाषा में एक गद्य उपन्यास शिवराज-विजय की रचना में हाथ लगाया। इस अंतर में इनकी प्रसिद्धि बढ़ती रही। ये जहाँ जहाँ जाते थे वहाँ वहाँ धर्मसभा इत्यादि स्थापित कर देते थे, और व्याख्यान देने में ऐसे चतुर थे कि जिस सभा में इनका व्याख्यान होता था उसमें बहुत भीड़ हो जाती थी।' संवत् १९४८ में इन्होंने अपना बिहारी-बिहार नामक ग्रंथ पहले पहल पूर्ण किया। पर उसको किसी ने चुरा लिया अतः इन्होंने उसको फिर से रचकर संवत् १९५४ में महाराजा सर प्रतापनारायण सिंह जी देव के० सी० आई० ई० अयोध्यानरेश को समर्पित किया। ये शतरंज इत्यादि खेलों में भी बड़े निपुण थे, और अनेक प्रकार के कौतुकों में भी बड़ी दक्षता दिखाते थे। इन्होंने अपने जीवनचरित्र में अपने बनाए हुए ७८ ग्रंथों के नाम दिए हैं। इनकी पूरी जीवनी तथा इनके ग्रंथों का ब्योरा बिहारी-बिहार के अंत में द्रष्टव्य है। इन महाशय का स्वर्गवास अगहन बदी १३ सोमवार संवत् १९५७ वैक्रमी को हुआ।

बिहारी-बिहार में बिहारी के प्रति दोहे पर एक अथवा अधिक कुंडलियाँ लगाई गई हैं। इनकी कविता बहुत अच्छी और पांडित्यपूर्ण होती थी, यद्यपि इनके छंदों का ढाल तथा शब्दों का विन्यास बहुत उच्च-श्रेणी के नहीं होते थे। कुंडलियाओं के उस ग्रंथ से बिहारी के दोहों के समझने में कोई विशेष सहायता संभावित नहीं है; हाँ, व्यास जी की कविता का उदाहरण इससे अवश्य मिलता है। निदर्शनार्थ एक दोहे पर व्यास जी की तीन कुंडलियाँ नीचे लिखी जाती हैं—

दोहा

पारयौ सोरु सुहाग कौ इनु बिनुहीं पिय-नेह ।
उनदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह ॥

कुंडलिया

कै अलसौंहीं देह पोंछि कछु अंजन दृग को ।
कच कछु कछु बिथराय मिटाय महावर पग को ॥
कंचुकि हूँ दरकाय कपोलनि पीक सवाँरयो ।
पगी सुकवि रँग तिया सोर यह घर घर पारयो ॥ १ ॥
कै अलसौंहीं देह ऐंठि अँगिरावति प्यारी ।
आनन पोंछति बार बार आरसी निहारी ।
तोरि तोरि पुनि हार गुहत स्यामहिं मन धारयो ।
सुकवि सोर इमि तिया पिया-संग रति को पारयो ॥ २ ॥
कै अलसौंहीं देह फिरे बिनु और करै का ।
पिय जो चाहत नाहिं निजहु पनि नाहिं ढरै का ॥
झूठेहु लगे कलंक स्याम सँग जनम सुधारयो ।
सुकवि याहि सों बाल सोर अति जतनन पारयो ॥ ३ ॥

इस ग्रंथ की भूमिका व्यास जी ने बड़ी योग्यता तथा अनुसंधान से लिखी है, और उसमें बिहारी के जीवनचरित्र इत्यादि की भी बहुत छान बीन की है ।

बिहारी-विहार में दोहों का क्रम लालचंद्रिका के अनुसार रखा गया है। पर ३४ दोहे जो व्यास जी के देखने में अन्य ग्रंथों में लालचंद्रिका से अधिक आए वे भी उन्होंने बिहारी-विहार के अंत में संग्रहीत कर दिए हैं, और उनमें से १४ दोहों पर कुंडलियाँ भी लगाई हैं। इन ३४ दोहों में से ३२ दोहे बिहारी-रत्नाकर में नहीं आए हैं। ये दोहे वही हैं जो परिशिष्ट में, स्वर्गीय साहित्याचार्य पं० अंबिकादत्त व्यास वर्णित गद्य संस्कृत टीका, स्वर्गीय पं० हरिप्रसाद जी कृत आर्यागुंफ तथा देवकीनंदन टीका के अधिक दोहों के नाम से लिखे गए हैं ।

"सतसैया के दोहरे इत्यादि" दोहा व्यास जी ने हरिप्रसाद जी के 'आर्यागुंफ' से ७ और दोहों के साथ संचित किया है। इन आठों दोहों में से केवल एक दोहे "जुरत सुरत इत्यादि" को छोड़कर शेष ७ दोहों का और किसी पुस्तक में पता हमको नहीं चलता। "जुरत सुरत इत्यादि" वाला दोहा आजमशाही क्रम की चुन्नीलालवाली प्रति में भी पाया जाता है। सात दोहे जो केवल आर्यागुंफ ही में हैं उनके विषय में दोनों ही बातें कही जा सकती हैं कि, इनको हरिप्रसाद जी ने स्वयं बनाया था अथवा कहीं से लेकर रख दिया। पर "जुरत सुरत इत्यादि" दोहे के आजमशाही क्रम में भी प्राप्त होने से यही अनुमान अधिक संगत ठहरता है कि इन आठों दोहों को हरिप्रसादजी ने कहीं पाकर और इनको बिहारीकृत समझकर आर्यगुंफ में प्रविष्ट कर दिया, क्योंकि आजमशाही क्रम आर्यगुंफ के बनने के पूर्व का है।

(३४)

पंडित ज्वालाप्रसाद मिश्र कृत भावार्थ-प्रकाशिका टीका

चौंतीसवीं टीका विद्यावारिधि स्वर्गीय पंडित ज्वालाप्रसाद जी मिश्र की बनाई हुई भावार्थ-प्रकाशिका नाम की है। यह टीका संवत् १९५४ के पौष मास में १३ बुधवार को समाप्त हुई थी, जैसा कि अंत में दिए हुए इस दोहे से विदित होता है—

वेद बाण अरु अंक बिधु संवत पौष सुमास।
तेरस तिथि बुधवार को पूरन किय सुखरास॥

इस ग्रंथ में मिश्र जी ने अपने परिचयार्थ केवल ये दो दोहे दिए हैं—

बसत रामगंगा-निकट नगर मुरादाबाद।
भजन करत हरि को तहाँ बुध ज्वालापरसाद॥
तिन हित सौं टीका कियौ राधाकृष्ण मनाय।
ब्रजविलास रचना कछू भाषा मैं दरसाय॥

मिश्रबंधु-विनोद में इनके विषय में यह लिखा है—

"इनका जन्म संवत् १६१६ में हुआ था। ये महाशय संस्कृत तथा हिंदी के बहुत अच्छे विद्वान् हैं, और स्वतंत्र ग्रंथ तथा अनुवाद मिलाकर कितने ही ग्रंथ बना चुके हैं। भारत-धर्म-महामंडल के ये उपदेशक भी हैं और मंडल ने इन्हें विद्यावारिधि एवं महोपदेशक की उपाधियाँ प्रदान की हैं। हिंदी में ये महाशय बहुत उत्तमता-पूर्वक धारा बाँधकर व्याख्यान देते हैं और सारे भारत में घूम घूमकर सनातन धर्म पर व्याख्यान देना इनका काम है। कई सभाओं में आर्यसमाजी पंडितों से इन्होंने शास्त्रार्थ में जय पाई है। आपने शुक्ल यजुर्वेद पर 'मिश्रभाष्य' नामक एक विद्वत्तापूर्ण टीका रची है। इसके अतिरिक्त ३० उत्कृष्ट संस्कृत ग्रंथों का आपने भाषानुवाद भी किया है। तुलसीकृत रामायण एवं बिहारी सतसई की टीकाएँ भी पंडित जी की प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त दयानंद-तिमिर-भास्कर, जाति-निर्णय, अष्टादश पुराण, सीता-वनवास, भक्तमाल आदि कई अच्छी पुस्तकें भी इन्होंने लिखी हैं। इनकी विद्वत्ता तथा लेखन-शक्ति की आज बड़ी प्रशंसा है।"

इनके और ग्रंथों के देखने का तो अवसर हमको नहीं मिला है पर तुलसीकृत रामायण की टीका सरल भाषा में बहुत अच्छी है, और सिद्धांतकौमुदी की जो भाषा में एक बड़ी व्याख्या इन्होंने लिखी है उससे इनके संस्कृत का पूर्ण पांडित्य प्रकट होता है। बिहारी की इस टीका में इन्होंने एक छोटी सी भूमिका लिखने के पश्चात् बिहारी का जीवनचरित्र १३ पृष्ठों में लिखा है, जिसके देखने से ज्ञात होता है कि मिश्र जी का लेख विशेषतः प्रभुदयाल पाँडे जी की टीका में लिखे हुए बिहारी-विषयक लेख पर निर्भर है। आपने भी 'सतसैया के दोहरे इत्यादि', 'व्रजभाषा बरनी इत्यादि' तथा 'संवत् ग्रह ससि' दोहों को बिहारी-कृत माना है, और पांडे जी की कुछ बातें ज्यों की त्यों ले ली हैं।

इस ग्रंथ के आदि में मिश्र जी ने साहित्यपरिचय नामक एक छोटा सा प्रबंध भी लगा दिया है। इसमें काव्यलक्षण, रस, भाव,

विभावादि तथा अलंकारों का संक्षिप्त वर्णन है। हमको स्मरण होता है कि साहित्यपरिचय नामक एक छोटा सा ग्रंथ हमने किसी प्राचीन कवि का बनाया हुआ देखा था। यदि हमारी यह धारणा ठीक है तो इस साहित्यपरिचय नामक प्रबंध में दोहे तो उसी ग्रंथ के हैं और बीच बीच में व्याख्याएँ मिश्रजी की, यद्यपि मिश्र जी ने यह बात लिखी नहीं है।

इस टीका की निंदास्तुति पंडित पद्मसिंह जी शर्म्मा आवश्यकता से अधिक कर चुके हैं, अतः अब इस पर कुछ और लिखना व्यर्थ है। हाँ, इतना अवश्य कहना उचित जान पड़ता है कि यदि यह टीका वास्तव में विद्यावारिधि जी की ही लिखी हुई है तो यह एक अनधिकारचेष्टा का फल मात्र है। निदर्शनार्थ एक दोहे की टीका नीचे लिखी जाती है—

दोहा

पारयौ सोरु सुहाग कौ इनु बिनुहीं पिय-नेह।
उनदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह॥

टीका—हे सखी इसने पिया के स्नेह बिना ही सुहाग का शोर डाला, अर्थात् प्रीति प्रसिद्ध की, उनींदी आँखें अथवा अलसानी देह से यह बात जानी जाती है। यदि कहो कि प्रीतम के नेह बिनु सुहाग प्रसिद्ध नहीं होता तो उत्तर यह कि, यह नायका की निज सखी का वचन सौत की सखी से है कि इसकी प्रीति को किसी सौति की कुदृष्टि न लगे। पर्यायोक्ति—

दोहा

पर्यायोक्ति जहाँ नई रचना सों कछु बात।
साधै इष्ट बनाय कै निज छल नहीं लखात॥

इस टीका पर श्रीयुत पंडित पद्मसिंह जी शर्म्मा की सतसई-संहार नामक समालोचना जो लेख-माला के रूप में संवत् १९६७ की सुप्रसिद्ध सरस्वती पत्रिका के कई अंकों में प्रकाशित हुई थी और जो एकत्र करके उक्त पंडित जी के सतसई के संजीवन भाष्य के

प्रथम भाग के अंत में सतसई-संहार के शीर्षक के अंतर्गत दी हुई है, द्रष्टव्य है। यद्यपि उक्त समालोचना के कुछ अंश में शर्म्मा जी महाशय ने केवल अपनी परिहासप्रियता के कारण विद्यावारिधि जी को अपने व्यंग्य-विशिखों का लक्ष्य बनाया है जैसा कि "काव्य रसात्मक वाक्यं" तथा "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृतिः पुनः क्वापि" इत्यादि के अशुद्ध पाठों पर, तथापि अधिकांश में उनका लेख समुचित ही है।

इस टीका में विद्यावारिधि जी ने क्रम लालचंद्रिका का ज्यों का त्यों रखा है। केवल अंत का दोहा न जाने क्यों छोड़ दिया है। यह टीका संवत् १९६० में श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बंबई, से प्रकाशित हुई।

(३५)

साहेबजादे बाबा सुमेरसिंह की कुंडलियाँ

पैंतीसवीं टीका बिहारी-सुमेर नाम की है। यह भी वस्तुतः टीका नहीं है, प्रत्युत पठान सुल्तान, जुल्फिकारखाँ तथा पंडित अंबिकादत्त व्यास प्रभृति की कुंडलियाओं की भाँति बिहारी के दोहों का कुंडलियाओं में विस्तार मात्र है। इसके रचयिता बाबा सुमेरसिंह जी साहेबजादे थे। ये महाशय पटने में सिक्खों की हरिमंदिर नामक संगत के महंत थे। पंडित अंबिकादत्त जी व्यास के बिहारी-विहार के प्रकाशित होने के समय तक यह ग्रंथ पूरा नहीं हुआ था। अतः व्यास जी ने इसके पूरा होने में संदेह प्रकट किया है। पर २०-२२ वर्ष के अनुमान हुआ कि बाबा सुमेरसिंह जी ने यह ग्रंथ स्वयं हमको काशी में दिखलाया था और इसमें के बहुत से छंद पढ़कर भी सुनाए थे। उस समय यह ग्रंथ पूरा हो गया था। उक्त बाबा जी उन दिनों कुछ अस्वस्थ थे, और पंजाब जा रहे थे। उसी यात्रा में उनका देहांत पंजाब ही में हो गया। ये महाशय बड़े सज्जन और सरस-हृदय थे, और हमारे ऊपर विशेष कृपा रखते थे। एक बार हमारा इनका साथ पंजाब-यात्रा में हुआ था और हम इनके साथ कई महीने तक पटियाले में रहे थे। उसी यात्रा

में हमको पटियाले में चंद्रशेखर जी के पुत्र गौरीशंकर जी वाजपेयी से हम्मीरहठ तथा रसिकविनोद नामक ग्रंथ, प्राप्त हुए थे, जो कि छपकर प्रकाशित हो चुके हैं।

बाबा सुमेरसिंह जी यद्यपि बड़े पंडित न थे, पर कविता सरस और सुहावनी करते थे, और प्रेमी तो ऐसे थे कि कविता पढ़ते पढ़ते अथवा किसी प्रेम के प्रसंग चलने पर गद्गद हो जाते थे। उनकी आठ कुंडलियाँ निदर्शनार्थ बिहारी-विहार की भूमिका में लिखी हैं। उनमें से चार कुंडलियाँ नीचे लिखी जाती हैं—

मेरी भवबाधा हरहु राधा नागरि सोय।
जा तन की झाईं परे स्याम हरित दुति होय॥
स्याम हरित दुति होय होय सभ कारज पूरो।
पुरषारथ सहि स्वारथ चार पदारथ रूरो॥
सत गुरु शरण अनन्य छूटि भय, भ्रम की फेरी।
मन मोहन मित सुमेरेस गति मति मैं मेरी॥ १॥

सीस मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल।
एहि बानिक मो मन बसहु सदा बिहारी लाल॥
सदा बिहारी लाल करहु चरनन को चेरो।
तुहि तज अनत न जाइ कतहुँ प्रियतम मन मेरो॥
मेरो तेरो मिटै मिलै तस संगत ईस।
विहरहुँ ह्वै उनमत्त धारि ब्रजरज निज सीस॥२॥

मोर मुकुट की चंद्रकनि यों राजत नँदनंद।
मनु शशिसेखर की अकसि किय सेखर सतचंद॥
किय सेखर सतचंद छंद रुचि काम बढ़ावति।
नव नारिन हिय नेह नवल नागर उपजावति॥
धावति धामहि धाम बाम बर विरह की खटकी।
पूछति सुधि बौराय भाय भरि मोर मुकुट की॥ ३॥

मकराकृत गोपाल के कुंडल सोहत कान।
धरयो मनो हियघर समर ड्योढ़ी लसत निसान॥

ड्योढ़ी लसत निसान शान ताकी अति चोखी।
अबला को प्रिय ताहि होत जु न रति रण रोखी॥
चकित जकित चित थकित बकति नहि करमन हकरा।
तकत इतै उत आइ तान रति जाल सुमकरा॥ ४॥

इस ग्रंथ के क्रमादि के विषय में हम कुछ विशेष नहीं कह सकते, पर इसका निर्माण-काल संवत् १९५५ तथा १९६० के बीच में अनुमान करके उसको यह स्थान देते हैं।

(३६)

मुंशी देवीप्रसाद जी (प्रीतम) का उर्दू गुलदस्तए बिहारी

छत्तीसवीं टीका अथवा उर्दू शेरों में बिहारी के दोहों का अनुवाद मुंशी देवीप्रसाद जी कायस्थ उपनाम प्रीतम का रचा हुआ गुलदस्तए-बिहारी नामक ग्रंथ है। आपके पूर्वज शाहाने-अवध के मीर मुंशी थे और उनका निवासस्थान कानपुर के निकट कनपुरा नाम ग्राम में था। आपके पिता का नाम मुंशी गंगाप्रसाद जी था। आप का जन्म संवत् १९२९ में कानपुर मुहल्ला नवाबगंज में हुआ। यद्यपि आपके पिता का देहांत आपकी बाल्यावस्था ही में हो गया था पर आपकी माता तथा ज्येष्ठ भ्राता मुंशी मन्नूलाल जी ने आपकी शिक्षा दीक्षा पूर्ण रीति से कराई। आप उर्दू, फारसी तथा अरबी के अच्छे ज्ञाता हैं। समय के हेर फेर से आपको कानपुर से छतरपुर में जाकर रहना पड़ा जहाँ आपकी ननिहाल है। इस समय आप बिजावर राज्य के शिक्षालयों के इंसपेक्टर हैं। महाराजा साहेब बहादुर छतरपुर की सभा में भी आपका बड़ा मान है। आप बड़े सज्जन, प्रेमी तथा सत्संगी हैं, एवं अपना अधिकांश समय तथा आय महात्माओं तथा रसिकों की गोष्ठी में व्यय करते हैं। उर्दू तथा फारसी के शायर तो आप पहले ही से हैं, पर कुछ दिनों से आप लाला भगवानदीन जी महाशय के संसर्ग से हिंदी की कविता भी करने लगे हैं। आपके बनाए हुए इतने और ग्रंथ भी हैं—(१) महात्मा बुध जी का जीवनचरित्र, (२)

गो-गोहार, (३) बुँदेलखंड का एलबम, (४) श्रीकृष्णजन्मोत्सव, (५) श्री प्रह्लादचरित्र, (६) ट्रवेलर का उर्दू अनुवाद, (७) डेजर्टेड विलेज, (८) शांतिशतक, (९) शृंगारशतक, (१०) स्फुट पद्यावली, (११) सुदामासम्मिलन, (१२) राजुल विवाह, (१३) कुल्लियात प्रीतम, और (१४) विदुर-मैत्री-सम्मिलन।

गुलदस्तए-बिहारी में बिहारी के दोहों का उर्दू शेरों में अनुवाद है। शेरों से लक्षित होता है कि आपने दोहों के अर्थों के समझने में अच्छा प्रयत्न तथा अनुसंधान किया है। आपने उर्दू भाषा में हिंदी के शब्दों का बेखटके प्रयोग किया है, और यह बड़ी बात की है कि बिहारी ऐसे कवि के पूरे एक दोहे का अर्थ उर्दू के एक शेर में झलकाया है, यद्यपि कविता की आवश्यकता, छंद के प्रतिबंध तथा अनुप्रास के अनुरोध से किसी किसी शेर में कुछ खींचा तानी करनी पड़ी है।

इस अनुवाद में दोहों के क्रम तथा संख्या ज्यों के त्यों हरि-प्रकाश टीका के अनुसार हैं।

यह पुस्तक संवत् १९८१ ही में साहित्य-सेवा-सदन, काशी, से प्रकाशित हुई है। इसकी एक प्रति मुंशी देवीप्रसाद जी महोदय ने कृपया हमारे पास भेजवा दी है जिसके निमित्त मैं उनका कृतज्ञ हूँ। इस अनुवाद के कुछ शेर कायस्थहितकारी नामक उर्दू पत्र में सन् १९०४ ई० में प्रकाशित हुए थे, अतः हम इसका रचना-काल संवत् १९६० के आसपास अनुमानित करके इसको यह स्थान देते हैं।

(३७)

भानुप्रताप तिवारी की टीका

मिश्रबंधु-विनोद के २५२१ अंक पर वर्तमान प्रकरण में चुनार-निवासी पंडित भानुप्रताप तिवारी की बनाई हुई एक बिहारी सतसई सटीक लिखी है, और उनके बनाए हुए इतने ग्रंथ और भी बतलाए हैं—(१) भानुप्रताप का जीवनचरित्र, (२) भक्तमाल-दीपिका,

(३) जीवनी गुरु नानक शाह, (४) कबीर साहब का जीवन, (५) रायबहादुर शालग्राम की जीवनी तथा (६) वर्तमान दृष्टांतदर्पण।

सतसई की टीका के बनने का ठीक संवत् तो मिश्रबंधु-विनोद में नहीं दिया है पर श्री भानुप्रताप जी का वर्तमान प्रकरण में रखा है। मिश्रबंधु-विनोद की रचना संवत् १९६९ में, समाप्त हुई थी जिससे हम पंडित भानुप्रताप जी की टीका का रचना-काल अनुमान से संवत् १९६० के आसपास मानकर उसको यह ३७ वाँ स्थान देते हैं। इस टीका के विषय में हमको और कुछ ज्ञात नहीं है।

(३८)

संजीवन भाष्य टीका

अड़तीसवीं टीका साहित्याचार्य श्री पंडित पद्मसिंह जी शर्म्मा की संजीवन-भाष्य नाम की है। यह एक बहुत बृहत् टीका होने की आशा हो रही है। इसके प्रथम भाग में, जो ३६६ पृष्ठों का है, तुलनात्मक समालोचना के द्वारा, तथा बिहारी के पांडित्य और प्रतिभा इत्यादि का प्रशंसन करके केवल सतसई का सौष्ठव स्थापित किया गया है, तथा बिहारी पर जो कतिपय दोषारोप लोगों ने किए हैं उनके परिहार की चेष्टा की गई है। इसी में २४५ से ३६६ पृष्ठ तक तो जो समालोचना विद्यावारिधि पंडित ज्वालाप्रसाद जी मिश्र की भावार्थप्रकाशिका टीका पर क्रमशः 'सरस्वती में प्रकाशित हुई थी, उसका संग्रह है। दूसरे भाग से दोहों की टीका आरंभ की गई है। उस भाग का अभी केवल प्रथम खंड बना और प्रकाशित हुआ है। उसमें २८४ पृष्ठ हैं, और उनमें केवल १२६ ही दोहों की टीका समाई है। शर्म्माजी ने बड़ी योग्यता, अनुसंधान तथा दृढ़ता से बिहारी के दोहों को परम उत्कृष्ट काव्य सिद्ध किया है, और बिहारी की भाषा, प्रतिभा तथा रचना-प्रणाली इत्यादि सब ही की अद्वितीय उत्तमता दिखाई है। भाषा तो शर्म्मा जी की ऐसी सजीव तथा फड़कती हुई है कि उसका अनुकरण करना यदि असंभव

नहीं तो दुस्तर अवश्य है। उर्दू के लेखकों के ढंग का चित्र इसमें बड़ी सफलतापूर्वक खींचा गया है। उनकी भाषा में केवल दो बातें चिंतनीय हैं—प्रथम तो यह कि फारसी अरबी के शब्द कहीं कहीं आवश्यकता से अधिक प्रयुक्त हुए हैं और दूसरे यह कि भाषा की सजीवता कभी कभी चंचलता की सीमा तक पहुँच जाती है। शर्म्मा जी की सम्मतियाँ किस किस दोहे के विषय में क्या क्या और कैसी कैसी हैं, उनका विवरण करने के निमित्त तो एक पृथक् बृहदाकार ग्रंथ की आवश्यकता है। यहाँ उनका कथन अतिप्रसंग हो जायगा। उनके निमित्त पाठकों को स्वयं संजीवन भाष्य का प्रथम भाग अवलोकन करना श्रेय है। इसका प्रथम संस्करण ज्ञानमंडल प्रेस, काशी, से संवत् १९७५ में प्रकाशित हुआ था, और द्वितीय संस्करण कुछ थोड़े से न्यूनाधिक्य के साथ संवत् १९७९ में बेताब प्रिंटिंग वर्क्स, दिल्ली, से प्रकाशित हुआ है।

इस टीका में दोहों का क्रम लालचंद्रिका के अनुसार रखा गया है। अभी यह टीका केवल १२६ ही दोहों तक पहुँची और प्रकाशित हुई है, और इतने में ही उसका आकार २८४ पृष्ठ का हो गया है। शर्म्मा जी ने पहले दोहा रखकर संक्षेप से उसके वक्ता तथा बोधव्य का कथन किया है, और फिर अपना अर्थ लिखा है, इसके पश्चात् अपनी व्याख्या लिखकर अर्थ का स्पष्टीकरण किया है और दोहे का सौष्ठव दिखाया है; अन्य कवियों के भी वैसे ही अथवा उससे मिलते हुए काव्य उद्धृत करके उनसे उस दोहे की तुलना की है; और किसी किसी टीकाकार के मत भी उस दोहे के विषय में बहुधा उद्धृत किए हैं; और अंत में दोहे के अलंकार बतलाए हैं और खंडन मंडन भी किया है। दोहों के अर्थ विशेषत: प्राचीन टीकाओं के आधार पर शर्म्मा जी ने अपनी भाषा में किए हैं। दोहों के अर्थों के विषय में हम कुछ विशेष कहना उचित नहीं समझते क्योंकि हमारे अर्थों से शर्म्मा जी के अर्थों में कहीं कहीं भेद है अत: उनके अर्थों की यथार्थता अथवा अयथार्थता दोनों ही के विषय में कुछ कहना हमारे लिए संगत नहीं है।

पंडित पद्मसिंह जी शर्म्मा नायक के नगले, जिला बिजनौर के रहनेवाले हैं। आप तगा जाति के ब्राह्मण हैं, जो दान नहीं लेते, प्रायः जिमींदारी से जीविका प्राप्त करते हैं। आपके पास भी कुछ जिमींदारी है। आप संस्कृत तथा भाषा दोनों के विद्वान् हैं और आपने ज्वालापुर महाविद्यालय से साहित्याचार्य की पदवी भी प्राप्त की है। भाषा की लेख-प्रणाली तो आपकी निराली ही है। आपको संजीवन भाष्य पर हिंदी-साहित्य-सम्मेलन से संवत् १९७९ में १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषक भी मिला है। इस समय आपकी अवस्था ५० वर्ष के अनुमान होगी। आप हमारे बड़े मित्र हैं, और हम पर बड़ी कृपा रखते हैं।

(३९)

गुल्जारे-बिहारी

उनतालीसवीं टीका अथवा उर्दू शेरों में बिहारी के दोहों का अनुवाद गुल्जारे-बिहारी नामक है। इसको मैंने स्वयं नहीं देखा है। पर गुल्दस्तए-बिहारी की भूमिका में इसका विवरण देखकर तथा इसका रचना-काल संवत् १९७५ तथा संवत् १९८० के बीच में अनुमानित करके मैंने उसको यह स्थान दिया है। यह अनुवाद गुल्दस्तए-बिहारी के ढंग का प्रतीत होता है। इसके रचयिता का नाम भी उक्त भूमिका में नहीं दिया है—केवल इतना ही लिखा है कि राधेश्याम प्रेस (बरेली) से प्रकाशित। "भ्रमर" नामक मासिक पत्र अभी हाल ही में मुझे देखने को मिला था। उसमें एक महाशय का उर्दू पद्यानुवाद "गुल्जारे-बिहारी" के नाम से क्रमशः निकल रहा है।

(४०)

बिहारी-बोधिनी टीका

चालीसवीं टीका बिहारीबोधिनी है। यह श्रीयुत लाला भगवानदीन जी (दीन) के द्वारा संवत् १९७८ में निर्मित हुई है। ये महाशय ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनों के कवि और सुलेखक हैं, तथा

उर्दू भाषा में भी शायरी करते हैं। आप श्रीवास्तव कायस्थ हैं और आपके पिता का नाम बख्शी कालिकाप्रसाद था। आपका जन्म संवत् १९२३ को श्रावण शुक्ल ६ गुरुवार को मौजा बरवट परगना गाजीपुर जिला फतेहपुर (हसवा) में हुआ था, पर बहुत दिनों से आप काशी में रहते हैं और इस समय हिंदू युनिवरसिटी में हिंदी के अध्यापक हैं। आप हम पर बड़ी कृपा रखते हैं। आपने १३ ग्रंथ मौलिक रचे हैं, एक ग्रंथ का अनुवाद किया है, ५ ग्रंथ संपादित किए हैं, ३ ग्रंथों पर टीकाएँ लिखी हैं, २ ग्रंथों पर टिप्पणी की हैं, २ ग्रंथों पर नोट लिखे हैं और २ ग्रंथ संकलित किए हैं, जिनमें से अधिकांश प्रकाशित हो चुके हैं। हमारे देखने में भी इनमें से कई एक ग्रंथ आए हैं। आपकी भाषा बड़ी स्पष्ट है और जिस विषय को आप समझाना चाहते हैं उसको बहुत अच्छे ढंग से समझा देते हैं।

यह टीका खड़ी बोली में है। इसमें प्रति दोहे के नीचे पहले कठिन शब्दों के अर्थ, फिर वक्ता, बोधव्य आदि बतलाकर भावार्थ लिखा गया है। प्रायः दोहों में जो कुछ विशेष बातें लाला जी को दिखलानी अभीष्ट थीं वे "विशेष" शीर्षक के अंतर्गत लिखी गई हैं। किसी किसी दोहे में अर्थ के स्पष्ट करने के निमित्त कुछ अवतरण भी लिखा गया है। लालाजी ने दोहों का अर्थ अपने मतानुसार बहुत स्पष्ट तथा सरल भाषा में प्रकाशित किया है। किसी किसी दोहे के अर्थ में उन्होंने अपने पूर्व के टीकाकारों से भिन्नता भी की है और कोई कोई बात सर्वथा नई भी लिखी है। अंत में लालाजी ने दोहों के अलंकार भी बतलाए हैं। यह टीका विद्यार्थियों के निमित्त बिहारी-सतसई पढ़ने के लिये बड़ी उपयोगी है। निदर्शनार्थ एक दोहे की टीका यहाँ लिखी जाती है—

दोहा

पारयौ सोरु सुहाग कौ इनु बिनु हीँ पिय-नेह।
उनदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह ॥६११॥

टीका—शब्दार्थ—सोर = ख्याति। उनदौंहीं = उनीदी सी। ककै = करके।

(वचन)—सवति के विषय में सखी का वचन नायिका प्रति।

भावार्थ—इसने (तुम्हारी सवति ने) बिना नायक के नेह के ही उनीदी आँखें और आलस्ययुक्त देह बनाकर अपने सुहाग की ख्याति फैला दी है (वास्तव में नायक रात को उसके पास नहीं रहा न उससे प्रेम ही करता है जैसा तुम बाहरी चिह्नों से अनुमान करती हो)।

अलंकार—विभावना और पर्यायोक्ति।

इस टीका में दोहों का पूर्वापरक्रम हरिप्रकाश टीका के अनुसार रखा गया है। ७१० दोहों तक तो वही दोहे और वही क्रम हैं, और वहीं इति लगा दी गई है। हरिप्रकाश के अंत में जो ४ दोहे हैं उनमें से केवल एक "हुकुम पाय जयसाहि इत्यादि", तो इस ग्रंथ में रखा गया है और तीन छोड़ दिए गए हैं, और १४ दोहे अन्य पुस्तकों से लेकर रख दिए गए हैं। उनमें से कुछ तो बिहारी के हैं और कुछ इधर-उधर के, जो अन्य किसी किसी ग्रंथ में बिहारी के नाम से पाए जाते हैं। "संवत् ग्रह ससि इत्यादि" दोहा इसमें इन्हीं चौदहों दोहों में सम्मिलित है।

(ऊपर लिखी टीकाओं के अतिरिक्त ४ और टीकाओं के भी नाम हमको ज्ञात हुए हैं। यद्यपि इनके स्थान ऊपर कही हुई कितनी ही टीकाओं के पूर्व संभावित हैं, तथापि इनके विषय में कुछ भी ज्ञात न होने के कारण इनका विवरण यहाँ किया जाता है।)

(४१, ४२, ४३)

कुलपति मिश्र, उमेदराम तथा सूर्य्यमल्ल की टीकाएँ

श्रीमान् पंडित हरिनारायण जी महोदय बी० ए०, अफसर ड्योढ़ी राज जयपुर, एक बड़े सुशिक्षित, सज्जन तथा हिंदी संसार में विख्यात महाशय हैं। हमारे विद्याभूषण पंडित रामनाथ जी ज्योतिषी जब जयपुर गए थे तो उक्त महाशय जी ने उनके कार्यसाधन में बड़ी

सहायता दी थी, जिसके लिये हम उनके बड़े कृतज्ञ हैं। उक्त महाशय से यदि अब भी कोई बात बिहारी विषयक अथवा अन्य किसी विषय की पूछी जाती है तो वे बड़ी सहानुभूति से उत्तर देते हैं। उन्हीं के एक पत्र से निम्नलिखित तीन टीकाओं के वृत्तांत ज्ञात हुए हैं—

(१) कुलपति मिश्र की टीका—इस टीका के विषय में और कुछ नहीं ज्ञात है। उक्त पंडित जी ने भी इसको नहीं देखा है। उन्होंने केवल इतना सुना है कि कुलपति मिश्र ने भी बिहारी-सतसई पर एक टीका की थी। कुलपति मिश्र का वृत्तांत बिहारी की जीवनी में द्रष्टव्य है।

(२) बारहट उमेदराम जी की टीका—इस टीका के विषय में श्रीयुत पंडित हरिनारायण जी ने यह लिखा है कि "बारहट उमेद-राम जी ग्राम हरगूँतिया राज्य जयपुर, के निवासी बड़े कवि थे। बिहारी-सतसई की टीका के सहित १४ ग्रंथ इनके जाने गए हैं। इनमें से तीन ग्रंथ मैंने भी देखे हैं। सतसई की टीका नहीं देखी।"

(३) महाकवि सूर्यमल्लजी की टीका—इसके विषय में उक्त पंडित जी ने यह लिखा है कि यह भी सुना है कि वंशभास्कर के कर्त्ता महाकवि सूर्यमल्ल जी ने भी सतसई के कुछ दोहों पर तिलक किया था पर उसको वे प्रकाशित नहीं कर सके।

(४४)

धनीराम की टीका

रीवाँ निवासी श्रीयुत पंडित दिनेशजी त्रिपाठी के एक पत्र से, जो उन्होंने जयपुर निवासी श्रीयुत पंडित माधवप्रसाद जी त्रिपाठी को लिखा था, विदित होता है कि किसी धनीराम नामक कवि ने भी बिहारी-सतसई पर एक बृहत् टीका बनाई थी, जिसके आदि में बिहारी की जाति तथा जन्म-काल इत्यादि दिए हैं। यह टीका रीवाँ में किसी के पास है।

(इन भाषा टीकाओं के अतिरिक्त चार टीकाएँ संस्कृत में तथा एक गुजराती भाषा में भी है। यद्यपि काल-क्रमानुसार तो उनका

वर्णन बीच बीच में आ जाना चाहिए था पर चारों संस्कृत टीकाओं को एकत्र रखने के अभिप्राय से उनका विवरण यहाँ किया जाता है, और गुजराती टीका को भाषांतर में समझकर उसका वर्णन अंत में दिया जाता है।)

(४५)

पंडित अंबिकादत्त व्यास वर्णित संस्कृत गद्य टीका

पैंतालीसवीं टीका एक संस्कृत गद्य' टीका है, जिसका विवरण साहित्याचार्य स्वर्गीय सुकवि पंडित अंबिकादत्त जी व्यास ने बिहारी-विहार की भूमिका में यों किया है—

"इस अपूर्व टीका के रचयिता का नाम आदि से अंत तक ग्रंथ में कहीं नहीं है। टीका बहुत प्राचीन है। मुझे छपरा-निवासी बाबू शिवशंकर सहाय द्वारा एक पुस्तक मिली है। इसी जिले के सोमहुता नामक प्रसिद्ध ग्राम के रहनेवाले कायस्थ बाबू गंगाविष्णु ने संवत् १८४४ वैशाख शुक्ल तृतीया को इस पुस्तक को लिखा था। इस ग्रंथ के रचयिता ये बाबू गंगाविष्णु तो नहीं हो सकते क्योंकि अंत में चार ही पंक्ति तो इनकी लिखी हैं और वे भी विविध अशुद्धियों से भरी हैं। जिसने ऐसी उत्तम संस्कृत टीका बनाई है वह इतना अशुद्ध लेख नहीं लिख सकता। इस कारण ग्रंथकार कोई दूसरे ही विद्वान् थे। लल्लूलाल ने अपने ग्रंथ में लिखा है कि "मैंने एक संस्कृत टीका देखी" सो यही संस्कृत टीका जान पड़ती है।

"यद्यपि लल्लूलाल के समय में एक हरिप्रसादकृत (संवत् १८३७ में रचित) तथा यह संस्कृत टीका (संवत् १८४४ की लिखित) ये दोनों ही ग्रंथ विद्यमान थे, (क्योंकि संवत १८७५ में लल्लूलाल ने निज लालचंद्रिका बनाई थी) तथापि हरिप्रसाद टीका कुछ दुर्लभ थी और यदि कथमपि वह मिली भी हो तो लल्लूलाल संस्कृत के ऐसे पंडित न थे कि उसे पढ़ कुछ भी समझ सकते और यह संस्कृत टीका अत्यंत सरल है और इसमें प्रत्येक दोहे के अलंकार, नायिका, उक्ति आदि स्पष्ट रीति से कहे हैं। इसमें सरल दोहों पर

केवल अलंकारादि ही कह दिए हैं टीका कुछ भी नहीं है। इस कारण यही विशेष संभव है कि लल्लूलाल ने इसी टीका से स्वरचना में सहायता ली हो।"

व्यास जी ने जो दोहों की सूची बिहारी-विहार के अंत में दी है उसमें एक कोष्ठक इस ग्रंथ के अंकों का भी रखा है। उन अंकों से इसमें दोहों के पूर्वापरक्रम का कुछ ज्ञान हो सकता है जिसका संक्षिप्त वर्णन आठवें क्रम में किया गया है।

(४६)

पंडित हरिप्रसादकृत आर्यागुंफ टीका

छियालीसवीं टीका सतसई के दोहों का आर्या छंदों में संस्कृतानुवाद है। इसके रचयिता काशिराज श्रीचेतसिंह महाराज के प्रधान कवि पंडित हरिप्रसादजी थे। इस ग्रंथ की रचना संवत् १८३७ में हुई थी। हमने स्वयं यह ग्रंथ नहीं देखा है। पंडित अंबिकादत्त व्यास जी ने बिहारी-बिहार की भूमिका में इसका विवरण किया है और निम्नलिखित दो दोहे उनके अनुवाद सहित निदर्शनार्थ दिए हैं—

दोहा

मेरी भवबाधा हरो राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाईं परें स्याम हरित दुति होइ॥ १॥

टीका

"सा राधा भवबाधां विविधामपहरतु नागरिकी।
यस्यास्तनुतनुकान्त्या कान्तः श्यामो हरिर्भवति"॥ १॥

दोहा

नीकी दई अनाकनी फीकी परी गोहारि।
तजो मनो तारन बिरद बारक बारनतारि॥ २॥

टीका

"दत्तमनकर्णनमिह सम्यगथाभूद्वृथा ममाह्वानम्।
मन्ये तारणविरुदस्त्यक्तो द्विरदं समुत्तार्य्य॥ २॥"

इन अनुवादों के अतिरिक्त ग्रंथारंभ के कुछ और आर्याछंद भी व्यास जी ने उद्धृत किए हैं, उनसे केवल महाराज चेतसिंह की वंशावली विदित होती है। ग्रंथकार ने अपने विषय में कुछ नहीं लिखा है। आर्यों की रचना बड़ी सुंदर और ललित है। हमने इस ग्रंथ की प्राप्ति का उद्योग किया था पर वह हस्तगत न हो सका, क्योंकि डुमराँव निवासी पंडित राधावल्लभ जी, जिनसे यह ग्रंथ व्यास जी को मिला था, अब स्वर्ग में निवास करते हैं, और उनकी पुस्तकों का संग्रह तितर बितर हो गया है।

इसमें ग्रंथकार ने एक नया ही क्रम रक्खा है जिसका विवरण नवें क्रम में हो चुका है।

[क्रमशः]

(१३) चरखारी राज्य के कवि

[लेखक—कुँअर कन्हैया जू, चरखारी]

नवलकिशोर प्रेस लखनऊ का सन् १९०७ का छपा हुआ गजेटियर इस समय हमारे सामने है। उसके पृष्ठ ३ के दूसरे पैरा में लिखा है कि "Khuman Singh later on quarrelled with his brother, Guman Singh, of Banda...... He was fond of literature and he himself composed, when in exile at Jhansi, a devotional manual called the Vikram Virdavali."

इस संपूर्ण लेख का सारांश इस प्रकार है—

तत्पश्चात् खुमानसिंह ने अपने सगे भाई बाँदा के राजा गुमानसिंह से लोहा लिया, और वे पँड़ोरी के मैदान में सन् १७८२ ई० में अर्जुनसिंह प्रमार के मुकाबले में घायल होकर संसार से चल बसे। उनके पुत्र विजय विक्रमाजीत (*विजय बहादुर) राजा हुए। इनको, गद्दी पर बैठते ही, सगे संबंधियों के साथ उलझना पड़ा। खासकर बाँदा के राजा के सेनापति नौने अर्जुनसिंह ने तो इनको राज्य से ही निकाल दिया। सन् १७८९ में विजय विक्रमाजीत अपना राज्याधिकार पुनः प्राप्त करने की आशा से नवाब अली बहादुर से मिले और उसी समय बुंदेलखंड पर आक्रमण करने में हिम्मतबहादुर राजा अनूप गिरि ने भी उनका साथ दिया। नवाब अली बहादुर से सन्मित्रता का व्यवहार रखने का इकरार करने पर इनको नवाब के दरबार से चरखारी के किले का दखल मिल गया। सन् १८०३ में जब अँगरेजों ने बुंदेलखंड में

---

* इस देश में, लोगों में, इन महाराज का यही नाम अधिक प्रसिद्ध है परंतु इनका असली नाम विजय विक्रमाजीत था।

पदार्पण किया, तब सर्वप्रथम महाराज विजय विक्रमाजीत ने ही अँगरेज सेनापति से मिलकर चरखारी राज्य की सनद सन् १८०४ में प्राप्त की थी, परंतु इस सनद में राज्य-सीमा के कुछ गाँव लिखने को रह गए थे, इस कारण सन् १८११ में इनको दूसरी सनद सरकार से मिली। विजय बहादुर ने मैाधा का किला बनवाया, चरखारी के ताल खुदाए और गेस्ट हाउस कोठी बनवाई। वे साहित्य के बड़े प्रेमी थे और स्वयं कवि भी थे। वनवास के समय जब वे झाँसी में थे तब उन्होंने पाठ करने योग्य 'विक्रम विरदावली' नामक एक पुस्तक भी रची थी।

इस लेख के आधार पर हमने चरखारी में विक्रम विरदावली की प्रति की खोज करना आरंभ किया। कुछ दिनों के बाद नकीबों के जमादार काशी के पास से हमको उसकी एक प्रति मिल गई। इसमें कुल १०५ दोहे हैं। दोहे अपने ढंग के निराले हैं। संपूर्ण दोहे शैली-बद्ध और क्रमबद्ध हैं। इनमें वंदना स्तुति के बाद श्रीकृष्ण भगवान् तथा श्रीरामचंद्रजी की स्तुति-सामर्थ दिखाते हुए अपनी दीनता का बखान करके राज्यप्राप्ति के लिये प्रार्थना की गई है कि आप हनुमानजी को हुक्म दीजिए कि वे शत्रुओं का नाश कर मेरा कार्य्य सिद्ध करें। संक्षेप में श्रीहनुमानजी का शिखनख-वर्णन और उनकी स्तुति भी है। कवि महाराज ने स्वयं इस पुस्तक की रचना करके अनुष्ठानपूर्वक पाठ किया और उसकी सिद्धि में उनको पुनः चरखारी का राज्य प्राप्त हुआ। तभी से लोग इसको अनुष्ठान ग्रंथ मानते हैं। कहा जाता है कि वास्तव में इस पुस्तक में १०८ दोहे थे। हमने बहुत कुछ तलाश किया परंतु १०८ दोहों वाली कोई प्रति हमको अब तक उपलब्ध नहीं हुई।

पाठकों के अवलोकनार्थ, विक्रम विरदावली के कुछ दोहे यहाँ उद्धृत करते हैं। इन दोहों के संख्या-क्रम के वही अंक लिखे जाते हैं जो असल पुस्तक में हैं। इससे पाठकों को यह पता लगना संभव

है कि कवि महाराज ने इस छोटी सी रचना में कितना बड़ा काव्य-कौशल दिखाया है। आद्योपांत संपूर्ण रचना सरल, सरस और सुपाठ्य होते हुए भी काव्य के आवश्यक अंगों से रहित नहीं है।

वंदना

दोहा

श्री रघुवर असरन सरन हरन सकल भव-पीर।
जन विक्रम मंगल करन जै जै श्री रघुवीर॥ १॥
प्रनतपाल जदुवंश-मणि नंदलाल छवि-भौन।
दीनवंद राखन विरद तो समान जग कौन॥ २॥

दशावतार

सोरठा

मच्छ सुच्छ धरि रूप दल दानौ बल संखसुर।
किय सनाथ सुर भूप श्रुति ल्याए पावन जगत॥ ३॥

दोहा

वंदौं कच्छप रूप हरि हौ अधार संसार।
भवन चौदहौं कौ धरैं आप पीठ पर भार॥ ५॥
हनौ हुमक हिरनाच्छ* कौ उद्धारौ दिढ़ डाढ़†।
प्रनतपाल दासन सुहित लई मेदिनी काढ़॥ ६॥
दल मल डारौ दुष्ट दल जै नरसिंह रनराय।
अज महेश सक्रादि सुर अस्तुत करत सहाय॥ ९॥
दल दलेल नख सेल वर दोनों अरि-उर पेल।
जै नरसिंह जस मेल जग दासन हित अस खेल॥ ११॥
खंभ फारि प्रगटे सु प्रभु विकल करे दनुजाद।
कबहुँक जाके दास की परी न बाद फिराद॥ १९॥

* बड़ा भारी असुर।
† दाढ़, खीस।

सोरठा

धन प्रभाव •उन रूप, जिन बाँधौ बल भूप कहँ।
देखे चरित अनूप, मुदित भए पुरहूत तहँ॥ २८॥

दोहा

जय भृगुनंदन तेजमय जिन जीते रिपुजाल।
एक बीस लिय पहुमि पर प्रगट प्रतिज्ञा पाल॥ २१॥
हार गयौ हर भाँति हो हर राखौ गहि बाँहि।
यदुकुल-भूषन दयानिधि कर निज कर की छाँह॥ २२॥
किलकत माखन लेत कर देत जसोमत नंद।
सब व्रज देत अनंद हैं जदुकुल राका चंद॥ ३०॥
करुना कोर किसोर की रोर* हरन बरजोर।
अष्ट सिद्धि नव निद्धि युत करत समृद्ध करोर॥ ४५॥
भरत सत्रघन लखन जू हनूमान सब साथ।
आगर हैं सब गुनन के जस सागर रघुनाथ॥ ४६॥

श्रीरामजी से प्रार्थना

दीन चीन्ह प्रभु पालहैं यहै चार जुग बान।
सेत विभीषन हेत रच क्यों मम बार सयान॥ ४७॥

सोरठा

मेरे कुल को राज सो प्रभु तेरोई दियौ।
प्रनतपाल धर लाज विक्रम अब तेरौ भयौ॥ ५१॥

दोहा

तूरन† अब पूरन करौ प्रभु मेरे सब काम।
आनँदतरु दिन दिन बढ़ै सुरभ सींच घनश्याम॥ ५४॥
कृपा कृपानिधि करत जब अगम सुगम हो जात।
चार पदारथ में प्रगट सुलभ कौन नहिं बात॥ ६६॥

* रौरवादि दुःख।

† मुरझाए हुए, अपूर्ण।

हर भाँतन हो हरत है हर दासन की पीर।
करत सधीर अधीर कहँ रंकहिं करत अमीर॥ ७० ॥

श्री हनुमानजी का नखशिख

कलुष हरन असरन सरन छटा छरन अति ओज।
असन वरन मंगल करन हनुमत, चरन सरोज॥ ८३ ॥
कटक कोट श्रीराम कौ है सब जगत जहूर।
लंक जरावन बंक अति पवन-तनय लंगूर॥ ८६ ॥
पवन-पूत के पान जुग दो भाँतन अधकार।
दासन के सिर छत्र से अरि सिर वज्र प्रहार॥ ६२ ॥
नासा पवन-कुमार की आसा पूरन बेस।
स्वासा कल्प कृसान, सम वासा परम सुदेस॥ ६८ ॥
सुबरन मय जे पद बड़ रघुनाइक जस लाल।
लख विरंच सोहत भए पवन-पूत के भाल॥ १०२॥
दीनबंधु ह्वै दीन की जो नाहीं सुधि लेत।
नाम धरौ इमि प्रगट क्यों दीनबंद केहि हेत॥ १०४॥

मैं इसी विक्रम विरदावली की खोज में जहाँ तहाँ पूछ-ताछ कर रहा था कि कवि महाराज की एक दूसरी रचना अनायास ही हाथ आ गई। इस रचना का नाम है 'विक्रम सतसई''। मालूम होता है इस सतसई की रचना बिहारी सतसई के मुकाबले में की गई थी। महाराज के दरबार में कई अच्छे पंडित और कवि विद्यमान थे। उन्हीं में से एक बिहारीलाल ने इस सतसई की टीका महाराज की आज्ञा पाकर की थी। हमको जो प्रति मिली है उसमें करीब दो तिहाई तो सटीक है, बाकी दूसरी कलम के लिखे हुए केवल मूल दोहे हैं। महाराज की यह रचना कैसी है? वास्तव में यह बिहारी सतसई के मुकाबले की है या नहीं? अथवा इन दोनों में क्या विशेषताएँ और अंतर हैं, इन सब बातों के विषय में हम अपनी कलम से कुछ भी न लिखकर मूल पुस्तक के कुछ प्रयोजनीय अंश यहाँ उद्धृत कर देते हैं।

इसी के पढ़ने से पाठकों को कवि की योग्यता और प्रतिभा का पता लग जायगा।

पाठकों को चाहिए कि विक्रम सतसई और बिहारी सतसई का मिलान करते समय वे नीचे लिखी हुई बातों का ध्यान अवश्य रखें।

बिहारी सतसई के रचयिता कविवर बिहारीलालजी वंशपरंपरा के कवि थे। कविता शास्त्र का अध्ययन और मनन ही उनके जीवन का लक्ष्य एवं व्यावहारिक व्यवसाय था। विक्रम सतसई के रचयिता कवि महाराज विजय विक्रमाजीत विद्या-व्यसन से बहुत कम संबंध रखनेवाले क्षत्रियकुल में उत्पन्न थे। उनकी बाल्यावस्था सुसंपन्न अवस्था में व्यतीत हुई थी परंतु विचार और बुद्धि को परिपक्व करनेवाली युवावस्था आते ही उनका जीवन संकटापन्न हो गया। घर और बाहर के शत्रुओं का मुकाबला करके पैतृक राज्य की रक्षा करने का भार उनके सिर पड़ गया। फिर भी उन्होंने एक प्रतिभासंपन्न नामी कवि के मुकाबले में एक सांगोपांग ग्रंथ की रचना करके अपनी कवित्व शक्ति और विद्यानुराग का कमाल दिखलाने की कोशिश की है।

वंदना*

दोहा

तो पद पंकज लाल कवि बंदत बारहिं बार।
लंबोदर कीजे कृपा दीजे बुद्धि उदार ॥ १ ॥
बुद्धि सदन करिवर बदन दीजे बुधिवर सोइ।
जाते विक्रम सतसई टीकौ नीकौ होइ ॥ २ ॥
बंदौं स्यामा स्याम के सुंदर पद अरविंद।
मुकत मधुर मधु लोभ जहँ मुनि मन भ्रमत मलिंद ॥ ३ ॥
सनमुख तिनके होत ही सुख-समूह सरसाइ।
तपन ताप तम के हरन राधावर के पाँइ ॥ ४ ॥

* यह वंदना विक्रम सतसई के टीकाकार लाल कवि की है—अभी मूल ग्रंथ का आरंभ नहीं है।

अथ राजवंश वर्णन

गहिरवार* शुभ वंश यह हंस वंश अवतंस।
जामें भूपति अवतरे महावीर प्रभु अंश ॥ ५ ॥
उदित भए तेहि वंश में उदयाजित महिपाल।
जिन जाहिर जग में करी जंगजोत करवाल ॥ ६ ॥
सुत उदयाजित के भए प्रेमचंद कुलचंद।
कृत्ति चाँदनी सौं कियौ जेहिं सब जग सानंद ॥ ७ ॥
परम भागवत भागवत प्रेमचंद सुत भूप।
दान सान किरवान कौ जिनकौ चरित अनूप ॥ ८ ॥
भए भागवत† भूप के चंपत रैया‡ राय।
जिन कौ सासन सिर धरै रहै नृपति समुदाय ॥ ६ ॥
चंपत रैया राय सुत छत्रसाल महिपाल।
इंद्र अवनि घन माल से जिन बगसे गजजाल ॥ १० ॥
कासीसुर पंचम विरद परछित लोढ़ा ढार§।
छत्रसाल छितपाल छित छत्र धरम अवतार ॥ ११ ॥
छत्रसाल महिपाल के बहु सुत भए नरेस।
तिन में द्वै सिरदार सुत हृदयसाह जगतेस ॥ १२ ॥
महाराज जगतेस सुत नृपमणि कीरतसिंह।
जिन खाँची कलि काल में धरा धरम की रिंह ॥ १३ ॥
भूपति कीरतिसिंह सुत जेठे सिंह गुमान।
तिनते लहुरे जानिए भूपतिसिंह खुमान ॥ १४ ॥
दोऊ बंधु बड़े भए भूप महेवा वार।
जारे जिन उमराव बहु सार लपट की झार ॥ १५ ॥

---

* काशी के आस पास गहिरवार क्षत्रिय अब भी बहुत हैं।

† भागवतराइ।

‡ रैया शब्द का अर्थ बुंदेलखंडी भाषा में रोटियों को रटनेवाला है। यहाँ इस अर्थ में लिया गया है कि जिसको पैतृक संपत्ति में भाग न मिले।

§ सर्वनाश करनेवाला।

भूपतिसिंह खुमान के अनुज दुश्रौ रनवीर।
पृथ्वीसिंह महाबली धुंधसिंह रनधीर ॥ १६ ॥
भूपतिसिंह खुमान सुत नृपति विक्रमादित्य।
मनौ अवनि आदित्य वर सोहत जनु आदित्य ॥ १७ ॥
सोहत नृप विक्रम धरनि नृप विक्रम अवतार।
भई त्रिविक्रम की कृपा थिक्रम किए अपार ॥ १८ ॥
सील विवेक अनेक विधि नीति रीति के भौन।
दान अयान विधान में नृप विक्रम सौ कौन ॥ १९ ॥
मधु मनोज सौ धवल जस मंजुल मनौ मनोज।
रोज रोज कवि मौज कौ विक्रम विक्रम भोज ॥ २० ॥
विक्रम नृप कीरति लता रही गगन में छाइ।
तारागन कलिका सघन ससी कुसम दरसाय ॥ २१ ॥
विक्रम नृप गावत गुननि सहसौ मुखनि फुनिंद।
दुज-दरिद्र मौजनि हनै फौजन सों अरि वृंद ॥ २२ ॥
भूमि पुरंदर भवजलधि मंदर विक्रम भूप।
उर अंदर दशरथ तनै वंदर कृपा अनूप ॥ २३ ॥
समन दंड से रिपुन कौं भूधर धरै अखंड।
सोहत सुंडा दंड से नृप विक्रम भुज दंड ॥ २४ ॥
जानत जोग प्रयोग थल पढ़ि विक्रम नृप तंत्र।
जौ लौं होत न सिद्ध फल तौलौं खुलत न मंत्र ॥ २५ ॥
बंध सरोजन सौं लसत यह सरोज कौ बंध।
दुरत दरिन जा सांज सौं अरि उलूक ह्वै अंध ॥ २६ ॥
सालत वैरिन के हिये पालत प्रजा अखंड।
घर घालत दुरजनन के विक्रम तेज प्रचंड ॥ २७ ॥

अथ कविवंश वर्णन

बसत त्रिविक्रमपुर नगर कालिंदी के तीर।
विरचौ भूप हमीर जनु मध्य देस कौ हीर ॥ २८ ॥

भूषन चिंतामन तहाँ कवि भूषन मतिराम।
नृप हमीर सनमान तें कीनों निज निज धाम ॥ २९ ॥
हैं पंती मतिराम के सुकवि बिहारीलाल।
जगन्नाथ नाती विदित सीतल सुत सुभ चाल ॥ ३० ॥
कस्यप वंश कनौजिया विदित त्रिपाठी गोत।
कविराजन के वृंद में कोविद सुमति उदोत ॥ ३१ ॥
विविध भाँति सनमान करि ल्याए चित महिपाल।
आये विक्रम की सभा सुकवि बिहारीलाल ॥ ३२ ॥

अथ सभावर्णन

सभा* सौंध ऊँचौ लसत सुभ्र सुसोव अनूप।
कुहू निशाहू में जहाँ लखियतु राका रूप ॥ ३३ ॥
रचित कनकमय दंड करि द्वारपाल थित द्वार।
मंडरीकमय है मनों सेवत सभा अगार ॥ ३४ ॥
कनक खंभ मनिगन जटित सकल कनिकमय दारु।
चित्रन चित्रित भित्त जहँ सोभित सभा अगार ॥ ३५ ॥
सेत चाँदिनी से जहाँ बिछे बिछौना चारु।
मनिमय मसनद लसत जहँ मनों सभा शृंगार ॥ ३६ ॥
कालिदास भौभूत से भारवि से कविराज।
कृपापात्र महाराज के भूषित करत समाज ॥ ३७ ॥
सिद्ध इष्ट अनिमादि वसु नृप विक्रम कौ इष्ट।
गुरु वसिष्ठ सोहत जहाँ गुरु वसिष्ठ से सिष्ट ॥ ३८ ॥
विविध विबुध जहाँ जन विबुध मनों पुरानक व्यास।
वर मंत्री उरभट सुभट सेवत कृपा निवास ॥ ३९ ॥
तेहि समाज विक्रम नृपति राजत जनु नृप भोज,
देत रीझ कवि कोविदनि नित नित नूतन मौज ॥ ४० ॥

* यह सभाभवन चरखारी के किले में अब भी है। बेशक बड़ा शानदार मकान है।

कह्यौ लाल सों करि कृपा नृप विक्रम गुन गेहु ।
नीकौ विक्रम सतसई कौ टीकौ कर देहु ॥ ४१ ॥
विक्रम नृपति निदेश तें बंद भारती 'लाल' ।
रुचिर ग्रंथ 'रसचंद्रिका'' रचत विचार रसाल ॥ ४२ ॥
बहु विधि वंदौ साधुमन रसमय वंस सुभाव ।
जामें धुन लौ रोषवस प्रदसत दोष न आव ॥ ४३ ॥
खल जन छल मन कितव जनु वंदव तितव सुभाइ ।
सार सार तजि छिद्र बहु चापल हेत दिखाइ ॥ ४४ ॥
खट म्रत कानन विषय मग भ्रमत भयौ श्रम भूरि ।
रसमय विक्रम सतसई कियौ गिराश्रम दूरि ॥ ४५ ॥
दृग मुनि वसु ससि* वर्ष में सिद्ध सोम मधु मास ।
कियौ ग्रंथ आरंभ सुभ पाँचै सिद्ध निवास ॥ ४६ ॥

अथ कवित्त लक्षण

सगुन अलंकारन सहित दोष रहित जो होइ ।
सब्द अर्थ ताकौ कवित कहत विबुध सब कोइ ॥ ४७ ॥
उत्तम मध्यम अधम ये तीन काव्य के भेद ।
न्यारे न्यारे कहैंगो उदाहरन तजि खेद ॥ ४८ ।

इस प्रकार दस बारह दोहों में काव्य के लक्षण और गुण दोष वर्णन करके टीकाकार कवि बिहारीलाल मूल ग्रंथ विक्रम सतसई की टीका आरंभ करता है। वह इस प्रकार है।

श्रीकुंजविहारी जयति

अथ वीक्रम सतसई लिख्यते

दोहा

कूल कलिंदी नीप तरु सोहत अति अभिराम ।
यह छवि मेरे मन बसै निसदिन स्यामा स्याम ॥ १ ॥

* संवत् १८७२

प्रश्न

कूल कलिंदी क्यों कह्यौं दूषन पद विपरीति।
उत्तर पद पूरब धरै यह न कवित की रीति॥ २॥

समाधान उत्तर

सदन शुद्धि रसिक प्रिया सतसइया मति मैन।
दूषन पद विपरीत यह कह्यौ कविन नहि ऐन॥ ३।
आकांछा बस तें इहाँ अर्थ कथन की बेर।
पूरब पद ह्वै जात है उत्तर पद पद केर॥ ४॥

आकांक्षा लक्षण

जो पद जँह जेहि पद बिना करत न अन्वय ज्ञान।
ताकौं ता पद चाह जो सो आकांछा जान॥ ५॥

टीका—यहाँ महाराज विक्रमादित्य कौ राधाकृष्ण विषैं जो प्रेम है सो विंग है तातें उत्तम काव्य है।

तदुक्तं—रति देवादिक विषय जो जो व्यभिचारी गोत।
इन कौं कहियत भाव हैं जब ये व्यंजित होत॥

तदुक्तं—माँगत स्यामा स्याम सों वह वरु नृप करि ध्यान।
अलंकार स्मृति तहाँ यातें कृपानिधान॥
लघु मन यह परमाणु सम तहँ तुम बसौ अनंत।
यह अघटित घटना करौ तुम ईश्वर जगकंत॥
जगरूपा राधा महा माया तुम श्रुति गीत।
स्याम सहित मो मन बसौ तुम वह सक्ति अधीत॥

यहाँ स्मृति अलंकार वस्तु विंग है ताते उत्तम काव्य है। इहाँ आसीर्वादात्मक मंगलाचरण है।

तदुक्तं दोहा

कै पर कौ कै आप कौ इष्ट वस्तु अभिधान।
आसिक वाकों कहत हैं कवि कोविद सज्ञान॥

दोहा मूल

राधापति हिय में धरौ राधापति मुखबैन।
राधापति नैनन लहौ राधापति सुखदैन ॥ २ ॥

प्रश्न

नैनन लहिवौ सुलभ नहिं राधापति कौ विज्ञ।
कलि में दरसन होत नहिं ईश्वर कौ जग अज्ञ ॥

उत्तर

राधापति प्रतिमा लखौ नैननि सों यह अर्थ।
नृप की सिच्छा सुद्ध है याते सुनों समर्थ ॥

द्वितीयोत्तर

कहे नैन द्वै भाँति के जोगबद्ध तन माहि।
चरम चच्छु इक प्रगट है ज्ञान चच्छु इक आहिं ॥
चरम चच्छु सौं जंग लखत ज्ञान चच्छु सौं ईस।
हृदय कमल मह लखत हैं ज्ञानी भक्त मुनीस ॥

टीका--या जुक्ति सों राधाकृष्ण कौ नैनन सों लहिवौ संभावित होत है ताते 'हेतु' अलंकार है ताकौ लच्छण—

जो कारन अरु काज कौ एकं संग अभिधान।
हेतु अलंकृत कहत है ताकौ बुद्धि निदान ॥
हरि धारन पेखन यहाँ हुश्रौ हेत दरसाइ।
सुख कौ दैवौ काज है सोई है इह ठाँइ ॥

टीका—तहाँ लुप्त पद के निरीच्छण सो लच्छणा है ताकौ लच्छण—

मुख्य अर्थ संबंध जो कहै लच्छिना ताहि।
होत अर्थ के वाध ते रूढ़ि प्रयोजन चाहि ॥
लाभ निरीच्छण कौ सु सम विषै भाव संबंध।
करी लह्यौ पद लच्छणा लखिवे में गुनबंध ॥
होत अधिक पद दोष यह जो न लह्यौ पद होइ।
तासु निवारण जानिये यहाँ प्रयोजन सोइ ॥

नैनन कौ साफल्य जो यहै प्रयोजन जानि
कहियत ताकों और ऊ अर्थ हिये में आनि ॥

टीका—यहाँ राधा सों सखी के बचन हैं, हे राधा ! पति को हृदय में धरौ, राधापति ये बैन हैं ते अपने मुख में धरौ, धरौ जो यह पद है देहरी दीपक न्याय सों दुइ जागा अन्वित होत है, हे राधा पति कौं नैनन में लहौ कहैं देखौ राधापति जे श्रीकृष्ण हैं सुख के दैनवारे हैं। नाइका मानिनी है।

प्रश्न

तिय कौ वेद विधान सों गहै पुरुष जो पानि।
ताही सों पति कहत हैं धर्मशास्त्र मत जानि ॥
श्रीराधा श्रीकृष्ण कौ भयौ कहौ कब व्याहु।
तातें पति कैसे भए समुझि कही कवि नाहु ॥

उत्तर

श्रीराधापति देवता है पति नंदकुमार।
चारौ बरनत वेद यह प्रभु गोलोक विहार ॥

पुनः

एक समय देवन सहित विधि वृंदावन आय।
व्याह राधिका कृष्ण कौ करवायौ सुख पाय ॥
व्यास ब्रह्मवैवर्त में लिखी कथा यह चारु।
ताते पति पद उचित है यहाँ न और विचारु ॥

आदि से लेकर अंत तक संपूर्ण ग्रंथ दस उल्लासों में समाप्त हुआ है। परंतु यह क्रमबद्ध विषय विभाग कवि महाराज का किया हुआ नहीं मालूम होता। इस विषय-विभाग का कर्ता है टीकाकार क्योंकि केवल टीकाकार द्वारा रचित राजवंश और कवि वंश वर्णन प्रथम उल्लास माना गया है यथा "श्रीमन् महाराजाधिराज श्रीमहाराजा विक्रमादित्य विरचितायां सप्तसतिकायां सुकवि बिहारीलाल-कृत टीका रसचंद्रिकायां प्रथमोल्लासः ।" पुनः द्वितीय उल्लास में शांतरस के दोहे हैं जिनमें से आदि के दो दोहे टीका समेत ऊपर

लिखे गए हैं। तीसरे उल्लास में उत्प्रेक्षा वर्णन है। चौथे उल्लास में नायिका समयादि दशा वर्णन है। पाँचवें उल्लास में चित्त-लगन-संबंधी दोहे हैं। छठें उल्लास में ध्वनि प्रकरण है। इसी प्रकरण के अंतर्गत रस भाव आदि का निरूपण है। सातवें उल्लास में अन्योक्ति के दोहे हैं। इसी के अंतर्गत क्रमबद्ध नायिका भेद वर्णन है। आठवें उल्लास में परकीया भेद वर्णन है। नवें उल्लास में सामान्या वर्णन है और दसवें उल्लास में मानिनी नायिका भेद वर्णन है। सर्वांत में तीन दोहे विनय के कहकर ग्रंथ समाप्त किया गया है। वे अंत के विनय के दोहे इस प्रकार हैं—

दोहा

जब जान्यौ या जीव कौं कहूँ नहीं विश्राम।
सुनि साके जुग चार के तातें ताके राम ॥ ७३० ॥
जो कवि मतिमैं आदरत साहित रीति विचार।
सो निहार लघुकर कह्यौ निज मति के अनुसार ॥ ७३१ ॥
गनत सात सै मैं कहे दोहा परस प्रबीन।
ताकौ नाम प्रसिद्ध जग .... ॥

अब प्रत्येक उल्लास में से दो दो एक एक दोहे उद्धृत करके हम इस लेख को समाप्त करते हैं। प्रथम और द्वितीय दो उल्लासों के काफी नमूने इस लेख में आ चुके हैं और इसी सिलसिले में टीका-कार कवि बिहारीलाल की प्रतिभा का पूर्ण परिचय पाठकों को मिल चुका होगा—ऐसा संभव है। परंतु अब तक के लेख में मूल कवि की कविता बहुत कम बल्कि यों कहना चाहिए कि सिर्फ दो दोहे लिखे गए हैं इसलिये अब हम टीका रहित केवल मूल दोहे नीचे लिखते हैं।

समयादि दशा वर्णन

पिय प्रानन की प्रान तू तुव प्रिय प्रानन प्रान।
जान परत गुन खान अब चित हित के अनुमान ॥ ६२ ॥
क्यों नख छत छवि ढाँकियत सुंदर सुखद सुनैन।
ज्यों ससि सेखर ससिकला है पिय मंगल दैन ॥ ६८ ॥

हार निहार उतार धरि विधि तन रचै सिँगार।
धरनि चलत लचकत तरुनि बार भार सुकुमार ॥
कहत सु आवत लाज मुँहि चल देखौ नँदनंद।
रंध्र गलिन लखि नलिनपति होत मलिन मुखचंद ॥ ४५ ॥

अथ चित्तलगन

बिसरि जात सुधि बुधि सबै देत जबै हँसि हेरि।
मेरौ मन तन सदन में हेरैं मिलत न फेरि ॥१४८॥
मिलत अगाऊ बिन कहें यहै दोष इन माँहिं।
उर उरझावत हठि नयन फिर सुरझावत नाहिं ॥१७४॥
नेह फौज दुहु दिस बढ़ी अपनी अपनी गोट।
दृग हरौल कढ़ि कढ़ि लरत करत परस्पर चोट ॥
जहाँ जहाँ सरसिजमुखी मंजन करत प्रभात।
तहाँ तहाँ प्रफुलित सबै कमल कली ह्वै जात ॥२०९॥

षट् ऋतु वर्णन

मौर धरैं सब द्रुम लता अपने अपने तौर।
इह ऋतुराज समाज में है रसाल सिरमौर ॥२११॥
गरक गुलाब उसीर बहु सीरे कर उपचार।
तऊ निपट ग्रीषम लपट निकटहु झपटत झार ॥२४१॥
वर साइत है मिलन की वरसाइत यह लेखि।
पूजन वरसाइत भली वरसाइत चल देखि ॥२५१॥
हरित पीत अंकुर वसन नव लतान के हार।
जनु असाढ़ कीनी मही दुलहिन नई सिँगार ॥
झोने झर झुकि झुकि झमकि झलन झोपि झकझोरि।
झुमड़ि झुमड़ि बरसत सघन घुमड़ि घुमड़ि घनघोर ॥
तरुनी मुख छवि पान कौं नैनन बाँध्यौ व्रत।
सुमन सुमन पै बैठि कै रसखोरा रस लेत ॥३०७॥
रोदन करत सुलोचना पिय कौ मरन सुनाय ॥
रघुनंदन के दृग कमल रहे आँसु उतराय ॥३२४॥

अन्योक्ति वर्णन

कुबिजा मन्द टेढ़ौ कियौ वह ढेढ़ेई गात।
कौन चलावत वीर अब व्रज की सीधी बात॥ ३२६॥
मंद भई गति मति विमल मुख छवि भई अमंद।
परी सौति दुख फंद सी मुदित होत नँदनंद॥ ३५५॥
तन तें निकसि गईं सही सिसुता सिसिर समाज।
अंग अंग प्रति जगमग्यो नवजोबन रितुराज॥ ३६४॥

टीका—कवि की उक्ति मुग्धा नाइका दुतिय पर्य्याय अलंकार है पर्य्याय रूपक सों संकर है, इहाँ सिसुता सों सिसिर सों अभेद है अरु जहाँ सिसुता हती तहाँ × × × टीका का क्रम इसी जगह समाप्त होता है। इसके बाद दूसरी कलम से केवल मूल दोहों का क्रमवार संकलन है। इस तरफ केवल नायिकाभेद वर्णन है जैसा कि विषय क्रम में दिखाया जा चुका है।

कविवर महाराज विजय विक्रमादित्य विजय बहादुर चरखारी राज्य के शासक थे। इस राज्य की गद्दी पर राज-स्थापना के समय से लेकर अब तक प्रत्येक महाराज साहित्यसेवी एवं विद्या-प्रेमी होते आए हैं। अस्तु यह आवश्यक और प्रयोजनीय मालूम होता है कि इस साहित्यप्रधान पत्रिका में उक्त राज्य का संक्षिप्त इतिहास प्रकाशित करके चरखारी के संपूर्ण साहित्यप्रेमी महा-राजाओं और कवियों का नामोल्लेख किया जाय।

प्रयोजनीय प्रकरण के सिलसिले में सर्वप्रथम श्रीमहाराज छत्र-सालजी के पुत्र महाराज जगतराज का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने चरखारी का किला बनवाया और चरखारी की छोटी सी बस्ती को सुसंपन्न बनाकर राजधानी के योग्य बनाया। महाराज जगतराज भी अपने पिता छत्रसाल की तरह साहित्यप्रेमी थे। इनके दरबार में हरकेश नामक एक अच्छा कवि था। इसने अपने समय के राज्य का संपूर्ण इतिहास अति सरल पर ओजस्विनी कविता में लिखा है। इनकी इस रचना का नाम "दिग्विजय" है। इस पुस्तक को

आद्योपांत पढ़ने पर भी कवि का परिचय इसके सिवा और कुछ भी नहीं मिलता कि वह जाति के ब्राह्मण थे। दिग्विजय की रचना करने के पुरस्कार में महाराज ने उनको बहुत धन दिया और सादर उन्हें अपने दरबार में स्थान दिया। यथा –

छंद हरिगीतिका

नरनाह सुनि द्विज नाह की 'दिग्विजय' व्याज असीस है।
करि एक माफ कसूर पुनि लाग्यौ करन बगसीस है॥
दिय साज सजि कुंजर विजयगज विजय बाजी बाज है।
जिहि नाम जाहिर विजयपुर सो गाँव ठाँव दराज है॥ ८४२॥
तुम ग्रंथ विरचौ मो हितै कहि दिग्विजय अस नाम है।
हम देत तुमकौ विजय नाम सुदाम लेहु इनाम है।
तुम संभवित मन भवति भूषण वसन दीन्है जरकसी।
धन दै बहुत पुनि धनुष दै असि चर्म दै पुनि तरकसी॥ ८४३॥
गजरा जड़ाऊ गुंज गुंफित वज्र संचित अंगुली।
कुंडल श्रवण मंडित कलित कलधौत मणिमय मंगली॥
तोड़ा दियौ पग शान कौ जोड़ा युतं पद त्राण कौं।
कोड़ा दियौ हनि विपति कौं घोड़ा दियौ अरिशान कौं। ८४४॥
उर्वीश पुनि विप्रहिं कह्यौ जो चहौ छिप्र सुमाँगिए।
तव काज आज समाज में कहु वेग सो अनुरागिए॥
अनुराग सों हरिकेश कहि मो भाग्य भूमि बना दियौ।
जगतेश रमा रमेश दाया सों सदा वय चिर जियौ॥ ८४५॥

इसी दिग्विजय नामक ग्रंथ में कवि 'हरकेश' ने चरखारी राज्य की उत्पत्ति का कार्य कारण दिखलाते हुए लिखा है कि संवत् १७७६ में जब दलेलखाँ पठान मुसलमान सेना लेकर दिवान जगतराज पर चढ़ आया तब इन्होंने भी बुंदेला दल बल सहित उसका मुकाबला किया। इस युद्ध में दिवान जगतराज घायल हो गए। यह समाचार पाकर उनकी परमार रानी रही सही सेना समेत दलेल-दल के मुकाबले में चढ़ गई और शत्रुसमूह को विचलाकर अपने

पति को सकुशल अपने पड़ाव पर ले आई—इस मारके की तारीफ में कवि ने यह कवित्त लिखा है।

कवित्त

कीरति तिहारी तौ पमारी* की पताका भई,
कलपतरु शाखा भई विदित बुंदेल की।
मारती मलेच्छन कों लच्छ लच्छ भाँति भई,
कृत्या कोप ज्वाल त्यौं कराल रण पेल की॥
हिम्मत समूह भई शूर वीर धीरन कों,
अपनी अमीरन कों धीरता उवेल की।
कोप कैं बजाय लई हर्ष हरकेश भनै,
विजय महारानी विजय† बजके दलेल की॥ १५६॥

इस विजय वैजयंती के उपलक्ष में दिवान जगतराज ने रानी विजयकुँवरि को वरदान दिया कि वर्तमान गर्भ से जो तुम्हारा पुत्र होगा वही मेरा उत्तराधिकारी जैतपुर राज्य का राजा होगा यथा—

मम गर्भ धरि तुम समर कीनों देत यह बगसीस हौं।
यह बानि मानि प्रमाण तौ सुत कों करौं अवनीस हौं॥

इन महारानी विजयकुँवरि के पुत्र का नाम कीर्तिसिंह था। ये महाराज जगतराज के जीवनकाल में ही पंचत्व को प्राप्त हुए। महाराज जगतराज का देहांत होने पर उनके तीसरे पुत्र पहाड़सिंह जी जैतपुर के राजा बन बैठे और कीर्तिसिंह के जो दस पुत्र विद्यमान थे उनको साधारण जीविका लगा दी गई। काल पा जब कीर्तिसिंहजी के दो पुत्र गुमानसिंह और खुमानसिंह युवा हुए तब उन्होंने जैतपुर की गद्दी के लिये दावा किया। बहुत दिनों तक झगड़ा होता रहा, परस्पर हथियार भी चला, अंत में पन्ना के राजा महा-

* जिस प्रांत में परमार क्षत्रिय अधिक रहते हैं उसे पमारी कहते हैं।

† मालूम होता है इन महारानी का नाम विजयकुँवरि था जैसा कि आगे के छंद में लिखा है "जस नाम तस करनी करी वरनी सुभट सफजंग में। शरधार सरित अपार महँ अरि बहे शोण तरंग महँ"॥

राज हिंदूपत ने गुमानसिंह खुमानसिंह को जैतपुर राज्य का आधा हिस्सा दिला दिया। इस हिस्से के पुनः दो हिस्से* किए गए। ज्येष्ठ गुमानसिंह सवाए हिस्से के मालिक होकर बाँदा के राजा हुए और खुमानसिंह ने चरखारी को अपनी राजधानी बनाया। लेख के आरंभ में इन्हीं खुमानसिंहजी का नाम दिया गया है और कवि महाराज विजय विक्रमादित्य इन्हीं के औरस पुत्र थे।

महाराज खुमानसिंह भी साहित्य के अति प्रेमी और कविजनों के शुभचिंतक तथा उनको आश्रय देनेवाले थे। इनके दरबार में उदयभानु नामक एक भट्ट कवि था। इसको महाराज ने जागीर में एक गाँव और भाई बेटों के बराबर की इज्जत दी थी। हमको अब तक उदयभान की कोई कविता नहीं मिली परंतु इसके पौत्र खुमान उपनाम मान कवि ने नीतिनिधान नामक एक ऐतिहासिक ग्रंथ की रचना करके उसे खुमानसिंहजी के छोटे भाई राव पृथ्वीसिंह जी को समर्पण किया था। इस ग्रंथ की प्रति हमारे पास मौजूद है। नीतिनिधान में गुमानसिंह खुमानसिंह का जैतपुर से हिस्सा लेकर अपने अपने राज्य स्थापन करने से लगाकर अर्जुनसिंह परमार के मारे जाने का पूरा पूरा इतिहास वर्णन है। इस ग्रंथ की रचना के पुरस्कार में चरखारी सरकार से हाथी, घोड़ा, सिरोपाव वगैरह मिला था। इसके संबंध में कवि का कथन इस प्रकार है—

छंद ललितपद

उदैभान कवि कौ खुमान कवि पौत्र पवित्र कविन में।
मंमट पढ़ि पिंगल मंगलमय चय बुध छंद सबन में।
सिच्छा गुरु कृत इच्छा प्रभु की नृपहिं परिच्छा दै कैं।
मति अनुरूप पृथीस राव की नीति निधान बनै कैं॥ ३२२॥

---

* यह भाइयों के हिस्से नहीं बल्कि माइयों के हिस्से हुए मालूम होते हैं। यदि ऐसा नहीं है तो दस भाई होते हुए केवल दो को ही क्यों बराबर हिस्से मिले शेष सब भाई इन दोनों के आश्रित रहे। इन भाइयों की संतान अब भी विद्यमान है।

आसिष दै जै जै कहि' भूपहि विजै अनूपहिं गा कैं।
चिरंजीव राजाधिराज सुनि स्वामी अति सुख पा कैं।
हम बालक तुम जगत प्रतालक मम प्रतपालक कानैं।
कीजै कृपा भूप प्रतपालक सुनकैं विरद प्रवानैं॥ ३२३॥
रीझ नृपति कर विपति दूर दै दान मान कवि कह कै।
उदैभान संतान सुझत लख लाख भाँति सुख लहि कै।
विद्या कौ फल पाइ गाइ जस श्रीमन राजधनी कौ।
राम कृपा पृथिसिंह नृपति रहि श्रीबुँदेल कुल टीकौ॥ ३२४॥

दोहा

गाती बाँधि सु प्रेम मति माती दै बरदान।
छाती लयौ लगाय लख नाती परम सुजान॥ ३२५॥
उदैभान के पद परसि हर्ष मुदित कवि मान।
मिलौ राव बगसीसं में हय गयंद युत सान॥ ३२६॥

सुस्त दंडक

मेरौ मान राखौ ताकौ गान हनूमान राखै,
मान कवि भाषै सुस्त संजुत विजै मई।
जाकी प्रभुताई कविताई कर्न थाही गई,
राम जस गाय काय जस मैं भिजै लई॥
मेरौ देव साखी सौम साहब समर्थ राम,
जाकी प्रीति रीति श्री प्रतीत में रिझै लई।
जाकौ जस गाइ कहौं सरन सहाइक जो,
सोई राम इष्ट जानें दुष्ट मार जै लई॥ ३२७॥

छंद नाराच

कृपाल राम दूत की कृपा विभूति भव्यदा।
रहै हमेस भूप भ्रात पै सुत्रात सर्वदा॥
विजै समोद जो सु लेत नाम देव राम हैं।
नमामि राम नाम कौं सुमान आठ जाम हैं॥ ३२८॥

मान कवि ने इस ग्रंथ के सिवाय अन्य कोई ग्रंथ राजदरबार के संबंध में नहीं लिखा परंतु उपर्युक्त सुस्त दंडक के दूसरे चरण में की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार कवि ने श्रीरामयश और हनुमानयश के कई ग्रंथ बनाए हैं और वे एक से एक उत्तम हैं। उनमें से यथा-प्राप्य कुछ ग्रंथों के नाम ये हैं।

(१) राम रासो—इसमें राम रावण का लंकायुद्ध-वर्णन है, तुलसीकृत रामायण के अनुसार लंकाकांड की कथा है।

लक्ष्मणशतक—इसमें लक्ष्मणजी की वीरता का बखान है—बड़ी ओजस्विनी कविता है।

हनुमान-पचीसी—यह अनुष्ठान ग्रंथ है।

हनुमानजी का शिखनख—नाम ही से विषय व्यंजित होता है।

नृसिंह पचासा—इसमें नृसिंहजी के अवतार की पूरी कथा है। कविता कुछ क्लिष्ट पर ओजस्विनी और सुंदर है।

मान कवि महाराज विजय विक्रमादित्य के राजकाल में बहुत दिनों तक विद्यमान रहे हैं। एक समय उक्त महाराज ने फरमाया कि कविजी आज हमारी शृंगार रस की कविता सुनने की इच्छा है। कवि ने उत्तर दिया महाराज यह तो मुझसे न हो सकेगा परंतु आपकी आज्ञा पालन करने के अभिप्राय से उद्योग करता हूँ। उस समय मान कवि ने जो शृंगार का कवित्त पढ़ा वह यह है—

कवित्त

कंकन खनक पग नूपुर ठनक कटि,
किंकिनी झनक घनी घूम घहरात है।
अंक की लचक परजंक की मचक लघु,
लंक की लचक हिए हार हहरात है॥
भनै कवि मान विपरीत की झलक डुलै,
वेसर अलक लट छूट छहरात है।
प्यारी के कानन में पान तरफरात मनों,
प्यारे पंचबान के निसान फहरात है॥

इस कवित्त के सिवाय और कभी कोई कविता इन्होंने शृंगार की नहीं की। इनके वंशधर मौजा खड़गाँव परगना ईसाअार राज चरखारी में अब भी विद्यमान हैं परंतु खेद है कि वे सब उस योग्यता और प्रतिभा से नितांत शून्य हैं।

महाराज विजय विक्रमादित्य के चार पुत्र थे परंतु वे सब महाराज के जीवनकाल में ही संसार से चल बसे। इस कारण सन् १८२९ ई० में महाराज का देहांत होने पर उनके ज्येष्ठ पुत्र रणजीतसिंह जी के पुत्र रतनसिंहजी चरखारी की गद्दी पर बैठे। इन्होंने सन् १८६० तक राज किया और इस साधारण राजकाल में रियासत को बहुत तरक्की दी। इनका राजनीतिक जीवन बहुत ही रहस्यपूर्ण, शिक्षाप्रद और उपादेय है परंतु हम यहाँ केवल साहित्य की चरचा कर रहे हैं। इस कारण बात को न बढ़ाकर केवल इतना कहना चाहते हैं कि अपने पूर्व पुरुषाओं की तरह ये भी साहित्य के प्रेमी, साहित्यसेवी और साहित्य के शुभचिंतक थे। इनके दरबार के कवि का नाम 'गोपाल' कवि था। इस कवि की रचना का कुछ नमूना हम "मृगया विनोद" शीर्षक लेख में, नागरीप्रचारिणी पत्रिका में, प्रकाशित करा चुके हैं। प्रसंगवश एक छंद यहाँ भी दे देते हैं।

छप्पय

विविध भाँत के झुंड चरत जँह मृगा मृगिन युत।
करसायल* उत्तंग शृंग मंद श्रंग संग सुत॥
रोज गुराहन† सहित संघ सोहत रँग कारे।
हृष्ट पुष्ट मद जुष्ट सुष्ट जनु विरचि सम्हारे॥
गोपाल भनत सामर‡ सरस फिरत जुक्त साम्हरिन इम।
श्री रतनसिंह महराज कब मुद इम मंडित मृगया विपिन॥

* काला मृग।

† रोझ की मादा को गुराँय कहते हैं।

‡ बारहसिंगा।

गोपाल कवि तीन भाई थे। इनको इमली खैरा नाम गाँव रियासत से माफी लगा हुआ था। तीनों भाई भिन्न भिन्न पदचिह्न से युक्त दरबार में एक ही नाम से प्रसिद्ध थे, यथा (१) गुपाल कवि,(२) गुपाल दत्तात्रै और (३) गुपाल भट्ट। इनके सिवाय प्रतापशाह नाम का एक कवि भी महाराज रतनसिंह के दरबार में था। इसने महाराज की आज्ञा से व्यंग्यार्थकौमुदी की टीका की थी। महाराज ने स्वयं रतनचंद्रिका नाम से बिहारी सतसई की एक टीका की थी। इसकी हस्तलिखित प्रति राज के पुस्तकालय में मौजूद है और इन्हीं महाराज का संकलन किया हुआ 'रतनहजारा' नामक ग्रंथ है जो भारतजीवन प्रेस काशी में कई बार छप चुका है। महाराज रतनसिंहजी ने विनयपत्रिका की टीका की और मिताचरा भाषा वर्तमान कानून की रीति पर बनाया है।

सन् १८६० में श्रीमहाराज रतनसिंहजी का देवलोक होने पर इनके औरस पुत्र जयसिंहजी चरखारी की गद्दी के अधिकारी हुए। इन्होंने स्वयं कोई कविता नहीं की परंतु कविजनों का आदर करना इनको भी इष्ट था। उपर्युक्त मानकवि महाराज विजय विक्रमाजीत से रूसकर ग्वालियर चले गए थे इस कारण उनकी माफी का गाँव खालसा हो गया था परंतु मान कवि के नाती बलदेव जब जैसिंहजी के दरबार में आए तब महाराज ने पुराना अपराध क्षमा करके पूर्ववत् उनकी माफी का गाँव बहाल कर दिया। इनकी स्फुट कविता तो बहुत कुछ पाई जाती है परंतु कोई ग्रंथ हमको अब तक नहीं मिला। जयसिंहजी के दरबार में श्रीधर नामक एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण बड़े अच्छे ज्योतिषी थे। वह कवि भी थे। उन्होंने यात्राशगुन परीक्षा पर "जैसिंह प्रकाशिका" नामक एक छोटा परंतु अति उत्तम ग्रंथ रचा था। उसमें का एक दोहा इस प्रकार है—

गज बाजी पंकज वृषभ धेनु पुच्छ जमवाल।
इन पर बैठो जो लखै खंजन होय नृपाल॥

कारज के आरंभ में मिलै नपुंसक आन ।
अथवा भामिनि गर्भ युत करै सिद्धि की हान ॥

सन् १८८० में श्री जयसिंह जू देव निःसंतान स्वर्गवासी हुए तब नीतिनिधान की कविता में वर्णन किए हुए इस राज्य के व्यवस्थापक खुमानसिंहजी के भाई राव पृथ्वीसिंहजी की संतान में से दिवान जुझारसिंहजी के पुत्र मलखानसिंहजी दत्तक होकर चरखारी की गद्दी पर बैठे। इन्होंने स्वयं कोई कविता नहीं की परंतु इनके पिता राव जुझारसिंहजी ने कई पुस्तकों की रचना की है। उनमें से 'भजनचंद्रिका' नामक एक पुस्तक इस समय हमारे सामने प्रस्तुत है। इसमें गाने की हर प्रकार की करीब चार सौ चीजों का संग्रह है। इस पुस्तक की गाने की चीजों का इस देश भर में अच्छा प्रचार है। इन्हीं का समकालीन एक ग्रामीण कवि चरखारी में बड़ा प्रतिभाशाली हो गया है। वह तुर्रा संप्रदाय के ख्याल गानेवालों में उस्ताद माना जाता है। शायद आपने भी कभी ख्याल गानेवालों के मुख से रिखलाल उस्ताद का नाम सुना होगा। रिखलाल की बनाई हुई लावनी और फागों का देश भर में अच्छा प्रचार है।

सन् १९०८ में मलखानसिंहजी का देहांत होने पर उपर्युक्त राव जुझारसिंहजी चरखारी की गद्दी पर बैठे। फिर सन् १९१३ में इनका स्वर्गवास होने पर इनके छोटे भाई गंगासिंहजी चरखारी के राजा हुए, इनको साहित्य से बड़ा प्रेम था। वैसे तो इनकी स्फुट कविता का चरखारी में बहुत प्रचार है परंतु इनके रचे हुए श्रीराधाकृष्ण विहार और तुरंग-मंगल दो ग्रंथ अति उत्तम पाठ्य और संग्रहणीय हैं यथा—

श्रीराधाकृष्ण विहार की वंदना

दोहा

जय जय जय जगवंदिनी जय जय कृष्ण मुरार ।
अब सुग्रंथ वर्णन करत राधाकृष्ण विहार ॥ १ ॥

कथा सुदशमस्कंध की कहत यहाँ हमं चारु।
थल थल पद पद में भरों राधाकृष्ण विहार ॥ २ ॥
कृष्ण हृदय राधा बसें राधा हृदय मुरार।
ग्रंथ नाम तातें धरों राधाकृष्ण विहार ॥ ३ ॥

कवित्त

कीजे हो सहाई मोरी प्रभु आई अब,
ब्रजराई यदुराई श्री कन्हाई जगदीशजू।
कुंजर की टेर सुन कीन्हों है न देर, लीन्हों,
ग्राह से उबेर दाया हरे विसें बीसजू ॥
गंगासिंह कीन्हों है सहाय द्रौपदी की आय,
गरव बहाय दुरयोधन कौ ईशजू।
चरित बनाई चहौं तेरौ सुखदाई दीजै,
उक्त उपजाई बल भाई कृपाधीशजू ॥ ४ ॥

यह पुस्तक इंडियन प्रेस, प्रयाग में छपवाकर बिना मूल्य वितरण की गई थी। अब भी इसकी कुछ प्रतियाँ राज्य के पुस्तकालय में मौजूद हैं। दूसरा ग्रंथ तुरंग-मंगल चरखारी के लीथो प्रेस का छपा हुआ है। इसमें घोड़ों का शालिहोत्र वर्णन है। इन महाराज को घोड़ों का बड़ा शौक था, यहाँ तक कि इनके वर्तने की यथासंभव प्रत्येक वस्तु में घोड़े की मूर्ति या चित्रकारी पाई जाती है।

श्रीमहाराज गंगासिंहजी के बाद उनके पौत्र वर्तमान महाराजा सिपहदारुल मुल्क श्रीमहाराजा अरिमर्दनसिंह जू देव चरखारी की गद्दी पर शोभायमान हैं। उन्होंने राज्याधिकार प्राप्त होते ही सबसे पहला जो हुक्म जारी किया वह यह था कि राज्य के दफतरों से उर्दू एकदम उठाकर उसके स्थान में हिंदी लिपि स्थान पावे। महाराज को हिंदी कविता से बहुत कुछ प्रेम है। इस समय चरखारी दरबार के वर्तमान कवि राना देशराज हैं। यह भट्ट कवि अच्छे कवियों में हैं। इनको कविता के संपूर्ण अंगों का अच्छा ज्ञान है। इनकी कविता भी अच्छी होती है। इन्होंने श्रीमान् महाराजा साहब

की आज्ञा से पृथ्वीराज रासो का आल्हा छंदों में उल्था किया है और अभी आप बुंदेलखंड का एक सांगोपांग इतिहास भी लिख रहे हैं जो शीघ्र ही पूरा होनेवाला है।

हमने इस लेख में चरखारी राज्य का इतिहास लिखने का प्रण करके भी यहाँ के राजनीतिक या सामाजिक इतिहास को छुआ भी नहीं है, केवल साहित्य संबंधी इतिहास वर्णन किया है।

(१४) धनुर्वेद-रहस्य

[लेखक—रायबहादुर बाबू बटुकप्रसाद खत्री, काशी]

प्राक्कथन

इस उन्नतिशील युग में यद्यपि सभी प्रकार की उन्नति हो रही है, सभी विद्याएँ पढ़ी पढ़ाई जाती हैं, सब जाति के मनुष्य अपनी अपनी तरक्की के फेर में पड़े हैं, हर एक प्रकार की शिक्षा का समुचित रूप से प्रबंध हो रहा है, तथापि वास्तविक उन्नति हिंदू जाति से अभी कोसों दूर है। इसका कारण क्या है? इस बात पर विचार करने से यही जान पड़ता है कि हिंदू जाति अपनी उन्नति के मुख्य साधनों का अन्वेषण नहीं करती है। यदि ऐसी बात न होती तो इस उन्नति के मैदान में दौड़ने पर भी यह जाति क्यों न उन्नत होती। यह निर्विवाद बात है कि जिस जाति के धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, विज्ञानशास्त्र, इत्यादि नष्टप्राय हो जाते हैं उस जाति का धन वैभव गौरव आदि सभी प्रायः नष्ट हो जाते हैं। हिंदू जाति का भी यही हाल है। यद्यपि इस जाति के धर्मशास्त्र नीतिशास्त्र आदि अभी विद्यमान हैं, तथापि विज्ञानशास्त्र सर्वथा लुप्त हो गया है। विज्ञानशास्त्र ही एक ऐसी वस्तु है, जिसके द्वारा मनुष्य सब कुछ कर सकता है। विज्ञानशास्त्र ही के द्वारा आज दिन यूरोप संसार भर के देशों में शिरोमणि समझा जाता है। विज्ञानशास्त्र ही के प्रभाव से अँगरेज जाति संसार में अपना आधिपत्य जमाए हुए है। रेल, तार, मोटर, हवाई जहाज, साइकिल, बेतार का तार, इत्यादि अद्भुत वस्तुओं का जन्म संसार में विज्ञानशास्त्र ही के प्रभाव से हुआ है। मेशीन-गनों से छूटे हुए गोले ७० मील तक पहुँचकर वैरियों को नष्ट कर देते हैं। इसका मूल कारण कौन पदार्थ है? इस प्रश्न के उठने पर यही एक समुचित उत्तर है कि विज्ञानशास्त्र। विज्ञानशास्त्र के अंतर्गत क्या नहीं है? सब कुछ है।

विज्ञानशास्त्र अनूठे पदार्थों का खजाना है। वास्तुविद्या, शिल्पविद्या, धनुर्वेद-विद्या, इत्यादि विद्याएँ इसी वृक्ष की शाखाएँ हैं। इनमें यद्यपि और शाखाएँ विद्यमान हैं, तथापि धनुर्वेद विद्या "जो कि विज्ञानशास्त्र रूपी वृक्ष की एक मजबूत शाखा थी" सर्वथा लुप्त हो गई। धनुर्वेद का लुप्त हो जाना हिंदू जाति के लिये परम अनिष्ट-कारक हो गया। धनुर्वेद के लुप्त हो जाने से क्षत्रिय जाति, जो कि हिंदू जाति के वर्णाश्रम धर्म की रक्षा का कारण थी, निर्वीर्य हो गई; भारतवर्ष का साम्राज्य हिंदुओं के हाथ से चला गया; वर्णाश्रम धर्म छिन्न भिन्न होकर नाममात्र के लिये रह गया। यदि आज दिन एक भी अर्जुन ऐसा धनुर्धर इस भारत में होता तो क्या यह देश इस दुर्दशा को प्राप्त होता? कभी नहीं। कभी नहीं। धनुर्विद्या का संसार से उठ जाना ही इस देश की इस अधोगति का मूल कारण है। इसमें रत्ती भर भी अत्युक्ति नहीं है। धनुर्वेद का महत्त्व हमारे वेद, शास्त्र, पुराणों में सभी ठौर लिखा है। यजुर्वेद के १६ और १७ वें अध्यायों में (अश्वमेध यज्ञ के प्रकरण में) धनुर्वेद का महत्व भरा पड़ा है। अथर्ववेद के चौथे कांड के चौथे, छठें, और तीसवें सूक्तों के छठें मंत्र में तथा छठें, सातवें, पाँचवें, ग्यारहवें, पंद्रहवें और अठारहवें कांडों के पहले, दूसरे, ग्यारहवें, अठारहवें, और बावनवें सूक्तों के दूसरे, छठें, आठवें, नवें, बारहवें, साठवें मंत्र में धनुष का महत्व लिखा हुआ है। पाठकों के मनोविनोद के लिये मैं अथर्ववेद के दो एक मंत्रों को यहाँ पर उद्धृत करता हूँ, जिनमें धनुष का महत्त्व आया है।

"जिह्वा ज्या भवति कुल्मलं वाङ्नालीका दंतास्तपसाऽभिदिग्धाः। तेभिर्ब्रह्माविद्ध्यति देवपीयून् हृद्बलैर्धनुभिर्देवजूतैः।"

"तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमंतो यामस्यंति शरव्यान्नसा मृषा। अनुहाय तपसा मन्युना चोतदूरादवभिंदंत्येनम्।"

इन दोनों मंत्रों में धनुष, प्रत्यंचा, नालीक [बहुत छोटा बाण याने गोला] बाण, लक्ष्य, आदि का नाम बड़े महत्त्व के साथ

लिया गया है। निरुक्त नैगमकांड के दूसरे अध्याय के पाँचवें और छठें खंड में इसका नाम आदर के साथ लिखा हुआ है। सांख्यायनादि श्रौतसूत्र के अश्वमेध-प्रकरण में धनुर्धर की चर्चा है। पुराणों में तो प्रायः सभी जगह धनुष का महत्त्व आता है। इसी से अनुमान करना चाहिए कि धनुर्वेद कितने महत्त्व की वस्तु है और प्राचीन समय में इसका कितना प्रचार था। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र सभी इसके ज्ञाता होते थे। क्षत्रिय तो कोई भी ऐसा नहीं था जो इससे अनभिज्ञ हो, बल्कि क्षत्रियों का क्षत्रियत्व इसी के बल पर ठहरा हुआ था। उनका संपूर्ण गौरव इसी के द्वारा होता था। श्रीरामचंद्र, भीष्म, द्रोण, अर्जुन, कर्ण आदि वीरों की कीर्त्ति इसी के ऊपर निर्भर थी। इसी के सहारे आज दिन भी इनका महत्त्व संसार में सबसे ऊँचा है। इनका यश दिगंत में व्याप्त है। पर जिस दिन से धनुर्वेद की शिक्षा भारतवर्ष से उठ गई, इसकी चर्चा लुप्त हो गई, उसी दिन से भारत का भाग्योदय होना बंद हो गया, भारत का सौभाग्यसूर्य अस्त हो गया। एक भी वीर अर्जुन सा भारत में उत्पन्न न हुआ। "वीर विहीन मही मैं जानी" वाली बात सोलहों आने ठीक हो गई। अस्तु।

धनुर्वेद का मुख्य प्रवर्त्तक (चलानेवाला) संसार में सबसे पहले कौन हुआ? धनुर्वेद में क्या क्या विषय हैं? इसका कौन कौन ग्रंथ किस किस विद्वान् महर्षि ने बनाया? आज दिन कौन कौन ग्रंथ इस विषय के उपलब्ध हैं? इसकी भी चर्चा इस समय नहीं रही। बहुत अन्वेषण करने पर दो चार ग्रंथ इस विषय के उपलब्ध हुए हैं, जिनके आधार पर यह "धनुर्वेद-रहस्य" निबंध लिखने का उत्साह मैंने किया है। जहाँ तक मुझसे बन पड़ा है वहाँ तक मैंने ढूँढ़ ढूँढ़कर इसमें धनुर्विद्या के सब विषयों का समावेश किया है। यद्यपि मुझे यह आशा नहीं है कि यह निबंध पठन पाठन के उपयुक्त होगा, तथापि इतनी आशा अवश्य है कि इसके देखने से लोगों का मनोविनोद अवश्य होगा। किसी नई वस्तु के देखने

से जितना आनंद या कौतूहल मन में होता है उतना अवश्य ही होगा। पाठकों को यह भी ज्ञात हो जायगा कि हमारे टूटे फूटे विद्याभांडार में अब भी बहुत से अनूठे रत्न भरे हैं, कोई ढूँढ़ने-वाला चाहिए। अंत में पाठकों से यह निवेदन करना है कि इस निबंध में जो कुछ त्रुटि रह गई हो उसे क्षमा करें, और सूचना दें कि इस निबंध में यह त्रुटि है। यदि हो सकेगा तो उसका यथाशक्ति मार्जन कर दिया जायगा। अब उस सर्व शक्तिमान् परमेश्वर से मैं करबद्ध होकर सविनय प्रार्थना करता हूँ कि मुझे इसी भाँति सब दिन उत्साह और सामर्थ्य दे।

मंगलाचरण

हे अखिलब्रह्मांडनायक, करुणावरुणालय, सच्चिदानंद, परमेश्वर, परमात्मन्, तुम्हें मेरा बारंबार प्रणाम है। तुम्हारे चरण-कमलों में मेरा यह नम्र मस्तक सदैव लोटता रहे। यही मेरी तुच्छ प्रार्थना है। ब्रह्मादिक देवगण तुम्हारे ही भरोसे अपने अपने अधिकार का भार उठाए रहते हैं। तुम्हारी सत्यता से यह मिथ्या संसार सत्य सा भासित होता है। तुम्हारी माया के प्रभाव से बड़े बड़े ज्ञानी भी मुग्ध होकर इस संसार के जटिल बंधन में जकड़े रहते हैं। तुम्हारी ही कृपादृष्टि से महापापी भी अनायास इस भवबंधन से मुक्त होकर उस पद को प्राप्त हो जाते हैं जिसे बड़े बड़े योगी तपस्वी महात्मा भी अनेक जन्मों में नहीं पाते हैं। तुम्हीं इस असार संसार के सार हो। तुम्हारी महिमा अपरंपार है। तुम्हारी ही आज्ञा से मैं असमर्थ होने पर भी इस दुष्कर ग्रंथ-निर्माण-रूपी कार्य में प्रवृत्त हो रहा हूँ। नाथ, मुझे बुद्धि दो, बल दो, उत्साह दो, साहस दो, जिससे कि मैं इस कार्य को समुचित रीति से कर सकूँ। मैं अनाथ हूँ। असमर्थ हूँ। अज्ञान बालक हूँ। तुम्हीं मेरे शरण हो। रक्षक हो। आश्रय हो। माता हो। पिता हो। सखा हो। बंधु हो। सब कुछ हो। नाथ, दया करो। रक्षा करो। भगवन्, दीनबंधो, मेरी इस छोटी सी प्रार्थना

पर जरा दृष्टि दो जिससे मुझमें सामर्थ्य हो, मेरे हृदय में धैर्य आ जावे। नाथ, मैं तुम्हारा हूँ। तुम मेरे हो। इसी से इतना कह रहा हूँ। मैंने यद्यपि अनेक अपराध किए हैं तथापि तुम्हारा हूँ। तुम न क्षमा करोगे तो कौन करेगा! क्षमा करो नाथ, क्षमा करो। अपना समझकर क्षमा करो। सिवाय इसके और मैं क्या कर सकता हूँ कि आपके चरणकमल में अपना मस्तक रख प्रार्थना करूँ कि नाथ क्षमा करो, क्षमा करो। नाथ मेरी विनय पर ध्यान दो। मैं प्रणाम करता हूँ। एक बार नहीं हजार बार लाख बार करोड़ बार प्रणाम करता हूँ।

इस निबंध के निर्माण का प्रयोजन

"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः", "षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च"। "उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम्। वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत्"। इत्यादि श्रुति स्मृतियों के वचन से यह सिद्ध है कि द्विजाति [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य] मात्र को सांगोपांग उपवेद के सहित वेदों का अध्ययन करना परमावश्यक है। वेद चार हैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद। इन चारों वेदों के चार ही उपवेद हैं। जैसे कि ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद है, यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद है, सामवेद का उपवेद गांधर्ववेद है और अथर्ववेद का उपवेद स्थापत्य (शिल्प) वेद है। जिस द्विजाति का जो वेद है उसके लिये उस वेद का पढ़ना अवश्य ही विहित है। साथ साथ उस वेद के उपवेद का भी पढ़ना अत्यावश्यक है, अन्यथा वह द्विज पतित [व्रात्य] हो जाता है और इस लोक और परलोक दोनों ही में निंदित होकर नरकगामी होता है। अतः जिसका यजुर्वेद है उसे यजुर्वेद पढ़ना अवश्य चाहिए। साथ ही यजुर्वेद के उपवेद धनुर्वेद को भी पढ़ना चाहिए। अन्यथा केवल वेद का पढ़ना निष्फल होगा। समय की गति बड़ी विचित्र होती है। एक समय वह था जब कि यह भारतवर्ष संसार भर के देशों का राजा था, विश्वमात्र की भूमि का गुरु था, पुरुषरत्नों का भारी खजाना था,

संपूर्ण विद्याओं का केंद्र था, सारी संपत्तियों का अद्भुत भांडार था, संसार के सभी प्राणी इसे ललचौंही निगाहों से देखते थे, यहाँ के निवासियों को देवताओं के समान समझते थे। परंतु काल की कठोर कुटिलता ने इसके संपूर्ण ऐश्वर्य का नाश कर डाला, इसकी उन्नति को पैरों से कुचल डाला, इसका समग्र धन, मान, गौरव, धूल में मिल गया। किसी शिवलाल कवि ने बहुत ठीक लिखा है।

कवित्त

विधि होत फूहर बिबुध-तरु थूहर होत,
परमहंस चूहर होत सत परिपाटी को।
भूपति मँगैया होत ठाँठ कामगैया होत,
गजमद चुवत सो चेरो होत चाँटी को॥
कवि शिवलाल कहै पुण्य किए पाप होत,
वैरी निज बाप होत साँप होत साटी को।
स्यार सम शेर होत निर्धन कुबेर होत,
दिनन के फेर ते सुमेर होत माटी को॥

ठीक यही दशा इस भारतवर्ष की है। किसी दिन यह सोने का था। इस समय यह मिट्टी का हो गया है। विदेशियों के आक्रमण ने इसे नष्ट-भ्रष्ट कर डाला, चूर-चूर करके धूल में मिला दिया, यहाँ के उत्तम से उत्तम रत्नों को वे लूटकर ले गए, छः छः महीने तक वेद शास्त्र पुराण आदि के ग्रंथों से हम्माम का पानी गर्म किया गया। हजारहों सरस्वती-भवन शून्य हो गए। जिन पुस्तकालयों में पुस्तकों की संख्या का पता नहीं लगता था, उनमें एक कागज का टुकड़ा भी न रह गया। शोक-महाशोक! अस्तु, ईश्वर की इच्छा ही ऐसी थी। क्या किया जाय! जहाँ कि अन्यान्य विषयों के ग्रंथ नष्ट हो गए, वहाँ धनुर्वेद के भी संपूर्ण ग्रंथ स्वाहा हुए। और विषयों के तो इने गिने ग्रंथ बचे भी रहे, पर धनुर्वेद का तो नाम निशान ही मिट गया। यदि अन्य विषयों के सौ ग्रंथ उपलब्ध होते हैं तो धनुर्वेद के दश भी उपलब्ध नहीं होते। यदि और

विषयों में सौ ग्रंथ नवीन रचे गए होंगे तो इस विषय के दो चार ग्रंथ भी नहीं बनाए गए। किसी विद्वान् की लेखनी इस विषय पर नहीं चली। किसी ने इस विषय पर ध्यान ही नहीं दिया। कोई इसका ज्ञाता ही नहीं रहा। संसार से इसकी सत्ता ही उठ गई।

मैं पहले लिख चुका हूँ कि वेद के साथ साथ उपवेद का भी अध्ययन करना अत्यावश्यक है; धनुर्वेद यजुर्वेद का उपवेद है। इसको अवश्य पढ़ना चाहिए परंतु पढ़ें तो कैसे पढ़ें। पढ़ने के लिये ग्रंथ होना चाहिए। पढ़ानेवाला चाहिए। इस समय न तो कोई इस विषय का ग्रंथ ही है, न उसका ज्ञाता है। मैंने इस विषय के ग्रंथों का बहुत अन्वेषण किया। बड़ी मुश्किल से दो चार ग्रंथ मिले। वे भी सर्वांगपूर्ण नहीं हैं। जो कुछ सामग्री मिली वही बहुत है। ऐसा मन में विचार कर इस निबंध के लिखने को मैं उद्यत हुआ। यद्यपि इस निबंध के संपूर्ण बन जाने पर संसार का क्या उपकार होगा, कितना उपकार होगा यह मैं नहीं कह सकता, परंतु इतना तो अवश्य कह सकता हूँ कि किसी नई वस्तु के देखने से जितना मनोरंजन हो सकता है उतना तो अवश्य ही होगा। इसी बात को मन में विचार करके मेरी इस विषय में प्रवृत्ति हुई है।

उचित तो यही था कि यह निबंध संस्कृत में लिखा जाता जिससे बड़े बड़े विद्वानों की दृष्टि इस पर पूर्ण रूप से पड़ती। परंतु एक तो संस्कृत के ज्ञाता बहुत कम हैं। दूसरे मैं उतना बड़ा संस्कृतज्ञ नहीं हूँ। तीसरे जो कुछ इस विषय के ग्रंथ मुझे मिले हैं वे संस्कृत में हैं ही। इससे मैंने इसे हिंदी में ही लिखना उचित समझा जिससे सर्वसाधारण को इसके पढ़ने का स्वाद मिले। मैं जो कुछ इस निबंध में लिखूँगा, उसमें एक अक्षर भी मेरी कल्पना नहीं होगी। किंतु "शार्ङ्गधर-पद्धति", "धनुर्वेद-संहिता", "अग्निपुराण", "वाल्मीकीय रामायण", "महाभारत" आदि जो दो चार ग्रंथ उपलब्ध हैं, उन्हीं के आधार पर यह निबंध लिखा जायगा। यद्यपि "धनुर्विधि", "द्रोणविद्या", "कोदंडमंडन" आदि दो चार

ग्रंथ और भी उपलब्ध हुए हैं तथापि ये सब शार्ङ्गधर-पद्धति से भिन्न नहीं हैं, केवल नाम मात्र का भेद है, और सब बात ठीक ठीक वही है जो कि शार्ङ्गधर-पद्धति में है। हाँ कहीं कहीं कुछ पाठ-भेद अवश्य है, पर अर्थभेद कुछ भी नहीं है।

धनुर्वेद का माहात्म्य

धनुर्वेद एक अद्भुत शास्त्र है। किसी समय इसकी मान्यता सर्वोपरि थी। इसके प्रभाव से मनुष्य विश्वविजयी होता था। जिस समय संसार में इसका प्रचार पूर्ण रूप से था उस समय इसके प्रभाव से दुष्कर से दुष्कर कार्य सहज ही में हो जाते थे। उस समय बड़ी बड़ी मेशीन-गनें नहीं थीं। न इनकी कोई आवश्यकता ही थी। जो कार्य इस समय मेशीन-गनों से लिया जाता है उससे भी बढ़कर कठिन कार्य उस समय धनुर्वेद के सामर्थ्य से सुखपूर्वक हो जाता था। यह अत्युक्ति नहीं है। रामायण महाभारत आदि अनेक ग्रंथ इस बात के साक्षी हैं। सच पूछिए तो धनुर्वेद के लुप्त हो जाने से ही भारतवर्ष का सर्वस्व नष्ट हो गया, हिंदुओं का साम्राज्य रसातल को चला गया, क्षत्रियों की वीरता का नाम न रहा। भीष्म, द्रोण, कर्ण, अर्जुन आदि महानुभाव वीर धनुर्वेद ही के प्रभाव से आज लों संसार में विख्यात हो रहे हैं।

धनुर्वेद का प्रयोजन

दुष्टों से, डाकुओं से, चोरों से, विप्लवकारियों से [राजद्रोहियों से], उपद्रवियों से राज्य की तथा प्रजा की रक्षा करना और प्रजा का उचित रीति से पालन करना धनुर्वेद का मुख्य प्रयोजन है *

धनुर्धर की प्रशंसा

धनुर्वेद को ठीक ठीक जाननेवाला मनुष्य धनुर्वेदज्ञ होता है, तथा धनुर्वेद के अनुसार धनुष के विषय में अभ्यास करनेवाला और परिपक्व हुआ मनुष्य धनुर्धर होता है। जिस नगर में एक भी धनुर्धर रहता है, वहाँ से शत्रु दूर भाग जाते हैं*, जैसे कि सिंह के

* धनुर्विधि ग्रंथ।

भय से मृग दूर रहा करते हैं। एक भी अच्छा धनुर्धर असंख्य वैरियों की सेना को अनायास ही जीत लेता है, बड़े बड़े कट्टर वैरियों का दमन सुख से कर सकता है, कठिन से कठिन कार्य को भी सहज रीति से कर सकता है, जैसे कि मर्यादापुरुषोत्तम श्री रामचंद्रजी ने धनुर्विद्या के प्रभाव से समुद्र को अपने वश में कर लिया था, अथवा जैसे द्रोणाचार्यजी ने कौरव पांडवों के कूप में गिरे हुए गेंद को धनुर्विद्या के प्रभाव से बाहर निकाल दिया था। इस प्रकार के अनेक उदाहरण पुराणों में विद्यमान हैं। धनुर्धर के रहते देश में कोई अन्याय नहीं होता। इसी हेतु से वह अक्षय पुण्य का भागी होता है।

धनुर्वेद के आचार्य

धनुर्वेद के सबसे प्रथम आचार्य भगवान् शिवजी हैं। उनके बाद वशिष्ठ, विश्वामित्र, परशुराम, द्रोणाचार्य आदि हैं। शार्ङ्गधर नाम के भी एक आचार्य हैं। इनको भगवान् शिवजी ने स्वप्न में धनुर्वेद का उपदेश किया था, जैसा कि शार्ङ्गधरपद्धति में लिखा है। सारांश यह है कि जिस किसी ने धनुर्वेद-विद्या को पाया है, उसके साक्षात् या परंपरा से शिवजी ही गुरु हैं।

धनुर्वेद

शिवप्रोक्त (शिवजी के कहे हुए) धनुर्वेद में चार पाद हैं, जैसे कि पतंजलिप्रोक्त योग-शास्त्र में चार पाद हैं।* उसके पहले पाद में दीक्षा-प्रकार-विधि है अर्थात् उपदेश के तरीके कहे गए हैं। दूसरे पाद में संग्रह-विधि है अर्थात् धनुर्वेद के अभ्यास करने की रीति कही गई है। तीसरे पाद में प्रयोग-विधि है अर्थात् शस्त्रों के चलाने का प्रकार बताया गया है। चौथे पाद में अस्त्र-सिद्धि-विधि है अर्थात् आग्नेयादि दिव्य अस्त्रों की सिद्धि का प्रकार बताया गया है।

धनुर्वेद का अध्यापक

धनुर्वेद का अध्यापक ब्राह्मण होता है।* वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को धनुर्वेद पढ़ावे। ब्राह्मण के अभाव में (अर्थात् न मिलने पर)

* शा० ध० पद्धति

क्षत्रिय को भी धनुर्वेद पढ़ाने का अधिकार है। ब्राह्मण यदि क्षत्रिय से धनुर्वेद पढ़े तो जब तक पढ़ता रहे तब तक उसे गुरु माने। पढ़ लेने के बाद ब्राह्मण गुरुवत् हो जाता है, क्षत्रिय शिष्यवत् हो जाता है। वेद पढ़ने के विषय में भी मनुजी अपनी स्मृति में इसी बात को लिखते हैं। धनुर्वेद का पढ़ना पढ़ाना द्विजाति ही के लिये विहित है, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य ही को धनुर्वेद पढ़ने का अधिकार है, शूद्र को नहीं। शूद्र स्वयं धनुर्वेद का अभ्यास युद्ध के लिये शिकार आदि खेलने में करे जैसा कि एकलव्य नामक भिल्ल ने मिट्टी के द्रोणाचार्य को गुरु मानकर (द्रोणाचार्य की मिट्टी की मूर्त्ति को गुरु समझकर) स्वयं धनुर्विद्या में अभ्यास किया था और गुरुभक्ति के प्रभाव से वह धनुर्विद्या में अर्जुन के समान निपुण हो गया था। अंत में द्रोणाचार्य ने अर्जुन का पक्ष लेकर, गुरुदक्षिणा के रूप में, उसके हाथ के दोनों अँगूठे कटवाकर ले लिए जिससे वह बेचारा जन्म भर के लिये बेकाम हो गया, क्योंकि अँगूठे के न रहने से वह धनुष के चलाने में शिथिल पड़ गया। अस्तु। तात्पर्य यह है कि जैसे शूद्र को वेद पढ़ना मना है वैसे ही धनुर्वेद का भी पढ़ना मना है।

धनुर्वेद का अधिकारी*

धनुर्वेद पढ़ने के साधारण अधिकारी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हैं—यह तो कही चुके हैं। परंतु जो ब्राह्मण, या क्षत्रिय, या वैश्य, कुलीन, संस्कृत (अर्थात् उपनयन संस्कार से युक्त), ब्रह्मचारी, विनीत, बुद्धिमान, कृतज्ञ, नम्र, गुरुभक्त, शांत, दांत, सुशील, दयालु, वीर, धीर, गंभीर, उदार, सहिष्णु (दूसरे की कड़ुई बात को सहन करनेवाला), मृदुस्वभाव और अच्छी भाँति से परीक्षित है, वही धनुर्वेद का अधिकारी है। उसी को धनुर्वेद पढ़ाना चाहिए।

धनुर्वेद के अनधिकारी*

लोभी, धूर्त, कृतघ्न (उपकार को न माननेवाला), दुष्ट, मंदबुद्धि, वर्णसंकर, शठ, कपटी, पाखंडी, लंपट, कृपण, स्वार्थी, गुरु-

* शा० ध० प०।

द्रोही, नास्तिक, भीरु, निर्दय, कामी, क्रोधी, चपल, धृष्ट और जिसकी अच्छी रीति से परीक्षा नहीं की गई है, उसको धनुर्वेद न पढ़ाना चाहिए। वह इस विद्या का अधिकारी नहीं है। ऐसे मनुष्य को कदापि इस विद्या का उपदेश न करना चाहिए।

धनुर्धारण विधि*

शस्त्रधारण विधि

धनुर्वेद के अध्ययन के प्रारंभ में आचार्य ब्राह्मण को धनुष धारण करने के लिये दे, क्षत्रिय को खड्ग धारण करने के लिये दे, और वैश्य को कुंत [भाला] धारण करने के लिये दे। शूद्र यदि धनुर्विद्या का अभ्यास स्वयं करना चाहे तो उसे प्रारंभ में गदा धारण करनी चाहिए परंतु ब्राह्मण (अर्थात् धनुर्विद्या के आचार्य) की आज्ञा लेकर, अन्यथा नहीं।

आयुध के भेद

आयुध के दो भेद होते हैं, याने आयुध दो प्रकार का होता है। एक शस्त्र, दूसरा अस्त्र। शस्त्र उसको कहते हैं, जो बिना मंत्रप्रयोग के काम में लाया जाय। अस्त्र उसे कहते हैं जो मंत्रप्रयोग-पूर्वक काम में लाया जाय अर्थात् शस्त्र के व्यवहार में मंत्र की आवश्यकता नहीं होती और अस्त्र के व्यवहार में मंत्र की आवश्यकता होती है। †शस्त्र चार प्रकार का होता है। मुक्त [अर्थात् पाणिमुक्त], अमुक्त, मुक्तामुक्त [मुक्तसंधारित], यंत्र-मुक्त।

इनमें मुक्त उसको कहते हैं जो केवल हाथ से चलाया जाय अर्थात् चलाने पर हाथ से अलग हो जाय, जैसे शिला, तोमर आदि। इसी का नाम पाणिमुक्त भी है। अमुक्त वह होता है जो चलाने के समय हाथ से अलग न हो, हाथ ही में रहे, जैसे खड्ग आदि। मुक्तामुक्त उसे कहते हैं, जो चलाने के बाद फिर हाथ से पकड़ लिया जाय, जैसे प्रास आदि। इसी को मुक्त-

* शा० ध० प०।

† धनुर्वेद संहिता।

संधारित भी कहते हैं। यंत्र-मुक्त उसका नाम है जो किसी यंत्र के द्वारा चलाया जाय, जैसे धनुष के द्वारा बाण आदि चलाए जाते हैं या जैसे धनुष विशेष के द्वारा गुलेला या बंदूक आदि के द्वारा गोली चलाई जाती है, या जैसे गोफना (रस्सी या सूत के छीके) के द्वारा पत्थर के टुकड़े फेंके जाते हैं। इसी का नाम क्षेपणी है। किसी किसी आचार्य ने बाहु [भुजा] को भी आयुध का भेद माना है। उनके मत में शस्त्र के पाँच भेद होते हैं अर्थात् शस्त्र पाँच प्रकार का होता है* । उनका सिद्धांत यह है कि जैसे और शस्त्रों से युद्ध होता है वैसे ही बाहु [भुजा] से भी युद्ध होता है, जैसे कुश्ती मुक्की आदि। इसी को मल्ल युद्ध कहते हैं।

युद्ध के भेद*

युद्ध दो प्रकार का होता है। धर्म युद्ध, और अधर्म युद्ध। धर्म युद्ध में छल नहीं किया जाता, अधर्म युद्ध में छल से काम लिया जाता है। धर्म युद्ध को "ऋजु" युद्ध कहते हैं, अधर्म युद्ध को "माया" युद्ध कहते हैं, जैसे राम रावण के युद्ध में कुंभकर्ण के साथ रामचंद्रजी का जो युद्ध था वह ऋजु युद्ध था, मेघनाद ने जिस युद्ध को किया था वह माया युद्ध था। दैत्यों और राक्षसों का युद्ध प्रायः माया युद्ध हुआ करता था। महाभारत में अभिमन्यु के साथ जो युद्ध हुआ था वह भी अधर्म युद्ध [माया युद्ध] था। युद्ध के साधनों में धनुष सबसे उत्तम होता है। अर्थात् धनुष युद्ध उत्तम युद्ध कहाता है, प्रास युद्ध मध्यम होता है, खड्ग युद्ध अधम होता है, और बाहु [भुज] युद्ध अधमाधम होता है।

युद्ध के विशेष भेद†

धनुष युद्ध, चक्र युद्ध, कुंत युद्ध, खड्ग युद्ध, छुरिका युद्ध, गदा युद्ध, बाहु युद्ध. ये सात प्रकार के प्रधान युद्ध होते हैं। इनमें धनुष युद्ध के अंतर्गत यंत्र युद्ध, क्षेपणी युद्ध आदि हैं। कुंत

---

* अग्नि पुराण।

† शा० ध० प०।

युद्ध के अंतर्गत त्रिशूल युद्ध, शक्ति युद्ध, प्रास युद्ध आदि हैं। खड्ग युद्ध के अंतर्गत कृपाण युद्ध, पट्टिश युद्ध, परशु युद्ध आदि हैं। गदा युद्ध के अंतर्गत परिघ युद्ध, मुसल युद्ध, भुशुंडि युद्ध, मुद्गर युद्ध लगुड़ युद्ध (लाठी की लड़ाई) आदि हैं।

युद्धाचार्य के भेद*

जो मनुष्य इन सातों प्रकारों के युद्धों को जानता है अर्थात् सब प्रकार के युद्धों में अति निपुण हो उसे आचार्य कहते हैं। जो मनुष्य इन सातों प्रकार के युद्धों में से चार ही प्रकार के युद्धों को जानता है, अर्थात् चार ही प्रकार के युद्धों में निपुण हो उसे भार्गव कहते हैं। जो मनुष्य इनमें से दो ही प्रकार के युद्ध में कुशल हो, अर्थात् दो ही प्रकार के युद्ध को कर सकता हो वह योधा होता है। और जो मनुष्य किसी एक प्रकार के युद्ध को कर सकता है, याने जो एक ही प्रकार के युद्ध में चतुर हो, उसको गणक कहते हैं।

धनुर्विद्या सीखने का मुहूर्त*

हस्त, पुनर्वसु, पुष्य, रोहिणी, उत्तर फाल्गुनी, उत्तराषाढ़, उत्तर भाद्रपदा, अनुराधा, अश्विनी, रेवती, इन नक्षत्रों में तथा तृतीया, पंचमी, सप्तमी, दशमी, द्वादशी, त्रयोदशी, इन तिथियों में और सूर्यवार, गुरुवार, शुक्रवार, इन दिनों में तथा जन्म के, तीसरे, छठे, सातवें, दशवें, ग्यारहवें स्थान में चंद्रमा रहने पर धनुर्विद्या का सीखना प्रारंभ करे।

धनुर्विद्या सीखने के प्रारंभ में शांति कर्म*

धनुर्विद्या सीखने के आरंभ में वैदिक मंत्रों से देवताओं की प्रसन्नता के लिये होम करके ब्राह्मणों और कुमारिकाओं को भोजन कराना चाहिए, ब्राह्मणों को यथाशक्ति दान देना चाहिए और तपस्वियों का तथा शिव-भक्तों का पूजन करना चाहिए। इसके बाद अन्न, पान, अच्छे-अच्छे वस्त्र, भूषण, चंदन, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आदि उत्तम वस्तुओं से भक्तिपूर्वक गुरु का पूजन करे।

* शा० ध० प०।

प्रारंभ करने की पूर्व दिन उपवास करना चाहिए। इसके अनंतर मृगचर्म धारण करके हाथ जोड़कर गुरु से धनुर्विद्या सिखाने की प्रार्थना करे।

अंगन्यास*

इसके बाद आचार्य [गुरु] शीघ्र अभीष्टसिद्धि की इच्छा से शिष्य के प्रत्येक अंग में शिवजी के कहे हुए मंत्रों से न्यास करे। इस न्यास के करने से शिष्य के संपूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं और किसी तरह का भी विघ्न नहीं होता। शिष्य की शिखा में शिवजी का न्यास करे। दोनों भुजाओं में केशव का न्यास करे। नाभि में ब्रह्मा का न्यास करे। दोनों जंघाओं में गणेश का न्यास करे।

न्यास के मंत्र*

ॐ ह्रौं शिखास्थाने शंकराय नमः।
ॐ ह्रौं बाह्वोः केशवाय नमः।
ॐ ह्रौं नाभिमध्ये ब्रह्मणे नमः।
ॐ ह्रौं जंघयोः गणपतये नमः।

इस न्यास के करने से शिष्य का कल्याण होता है तथा कोई भी शत्रु उस शिष्य को मारण आदि दुष्ट मंत्रों के प्रयोग से मार नहीं सकता।

धनुर्विद्या की शिक्षा*

इसके बाद गुरु "कांडात्कांडात्प्ररोहंति" इत्यादि वैदिक धनुमंत्र से (धनुष को) अभिमंत्रित करके वेदविधान के अनुसार मानुष [मनुष्य के योग्य] धनुष शिष्य को दे। शिष्य को चाहिए कि उस धनुष को लेकर गुरु की आज्ञा से प्रारंभ में फलरहित [अर्थात् जिसके अग्रभाग में लोहे का शल्य न लगा हो ऐसे] बाण से फूल का वेध करे। अनंतर फलयुक्त [जिसके अग्रभाग में लोहे का शल्य लगा हो ऐसे] बाण से मछली का वेध करे। इसके

* शा० ध० प०।

बाद मांस का वेध करे। इसी क्रम से तीनों प्रकार के वेध करने का खूब अभ्यास करे। इन तीनों प्रकार के वेध करने का अभ्यास करने से बाण चलाने में भली भाँति योग्यता प्राप्त हो जाती है, और उसके बाण सब काम को सरलता से सिद्ध कर सकते हैं।

शकुन*

मांस वेध करने के समय यदि बाण वेध करके पूर्व दिशा में गिरे तो वेध करनेवाला [शिष्य] विजयी और सुखी होता है। यदि दक्षिण दिशा में गिरे तो घोर कलह होती है और वेध करनेवाले [शिष्य] को विदेश में जाना पड़ता है। यदि पश्चिम दिशा में गिरे तो वेध करनेवाले [शिष्य] को धनधान्य मिलता है। और यदि उत्तर में गिरे तो सब प्रकार से शुभ होता है। यदि ईशान कोण में गिरे तो सब प्रकार से अशुभ होता है। और कोणों में [अर्थात् अग्नि कोण, नैऋ त कोण, वायु कोण में] गिरे तो शुभ होता है, आनंद की पुष्टि होती है, तथा संपूर्ण शस्त्र कर्म में शिष्य को सिद्धिलाभ होता है। धनुर्विद्या के अभ्यास करने के समय आदि और अंत में शंख नगारा आदि मंगल वाद्य बजाना चाहिए। प्रति दिन शिक्षा के समय प्रारंभ में और अंत में गुरु को भक्तिपूर्वक साष्टांग प्रणाम करना चाहिए। शिक्षा के अनंतर प्रति दिन धनुष बाण आदि शस्त्रों को गुरु के सम्मुख रख देना चाहिए। फिर गुरु की आज्ञा से उनको लेना चाहिए।

धनुषविद्या की गुरुपरंपरा*

इस धनुष विद्या को महादेवजी से परशुराम ने पाया था। परशुराम से द्रोणाचार्य ने पाया। द्रोणाचार्य से अर्जुन ने पाया और अर्जुन से सात्यकि नामक यादव ने पाया था।

दिव्य धनुष†

संपूर्ण विश्व में दो धनुष सब धनुषों में श्रेष्ठ हैं—एक शिवजी

---

* शा० ध० प०।

† ध० वि०।

जो जले हुए अथवा छेदवाले बाँस का बना हो, तथा जिसके खैंचने के समय हाथ बाहर हो जाय, या भीतर ही रह जाय; तथा जिसकी डोरी कमजोर या सड़ी अथवा किसी प्रकार से भी खराब हो गई हो या जिसकी डोरी इतनी मोटी या चौड़ी हो कि जिससे डोरी की अपेक्षा धनुष दबता मालूम हो, या जिसके वजन से डोरी का वजन अधिक हो तथा जिसका बाँस अच्छे स्थान में उत्पन्न न हो या जो अन्य किसी दोष से युक्त हो, तथा जिसके गले में गाँठ हो, अथवा जिसके तल में [याने नीचे] गाँठ हो— ऐसा धनुष निंदित होता है। ऐसे धनुष का धारण करना सर्वथा निषिद्ध है।

निंदित धनुष के धारण करने का फल*

जो धनुष कच्चे बाँस या सींग आदि का बनाया जाता है वह बहुत शीघ्र टूट जाता है। जो धनुष बहुत पुराने बाँस या सींग का बनाया जाता है वह कठोर होने से चड़चड़ा जाता है या टेढ़ा हो जाता, या फट जाता है। जो धनुष आपस में रगड़ा खाए हुए बाँस का बनाया जाता है, वह युद्ध करने के समय धनुर्धर के मन में घबड़ाहट पैदा करता है और अपने बांधवों के साथ कलह कराता है। जले हुए बाँस का धनुष धारण करने से धनुर्धर के घर में अकस्मात् आग लग जाती है। छेदहे बाँस का धनुष धारण करने से धनुर्धर युद्ध में मारा जाता है। जिस धनुष के खैंचने के समय धनुर्धर का हाथ बाहर या भीतर ही रह जाता है उस धनुर्धर का बाण निशाने पर नहीं लगता। जिस धनुष की डोरी कमजोर या सड़ी हुई या किसी प्रकार से भी खराब होती है उस धनुष का धारण करनेवाला युद्ध में हार जाता है। जिस धनुष की डोरी अधिक मोटी या चौड़ी या वजनदार होकर धनुष को दबाती है उस धनुष का धारण करनेवाला मजबूती के साथ निशाने पर बाण नहीं मार सकता। जिस धनुष के गल

* शा० ध० प०।

में या तल में [नीचे के भाग में] गाँठ होती है, उस धनुष का धारण करनेवाला निर्धन हो जाता है। इन दोषों से रहित धनुष सब कामों में प्रशस्त होता है। इसलिये इन पूर्वोक्त दोषों से रहित धनुष को धारण करना चाहिए जिससे धनुर्धर का सर्वथा मंगल हो।

मजबूत धनुष*

सींग का बना हुआ धनुष अत्यंत मजबूत होता है। इससे वह बहुत वर्षों तक चलता है, शीघ्र या सहसा टूटता नहीं, आयुध की चोट लगने पर भी सहसा कटता नहीं। उत्तम पुरुष को सींग का ही बना हुआ धनुष धारण करना उचित है। यह सींग का धनुष अधिक से अधिक चार हाथ का और कम से कम सवा तीन हाथ का लंबा होना चाहिए। इसके धारण करने से धनुर्धर का संपूर्ण अभीष्ट अर्थ सिद्ध होता है। हाथी के सवार और घोड़े के सवार को सींग का ही धनुष धारण करना चाहिए। रथियों का और पैदल सिपाहियों का धनुष बाँस का बना हुआ होना चाहिए। यह नियम साधारण मनुष्यों के लिये है। विशेष वीर पुरुषों के लिये इच्छानुसार तथा बल के अनुसार धनुष का धारण करना उचित है।

धनुष बनाने की वस्तु†

धनुष लोहे का या सींग का या लकड़ी का बनता है।

लोहे का भेद

धनुर्वेद में सोना, चाँदी, ताँबा, काला लोहा [इस्पात], इन चार धातुओं को लोहा कहते हैं, अर्थात् इन चारों का नाम लोहा है। ये चारों धातुएँ लोहे के भेद मानी गई हैं।

सींग के भेद*

सींग भैंसे की या शरभ की या हरिण की होनी चाहिए, अर्थात् इन्हीं तीन जानवरों की सींग का धनुष बनाना चाहिए।

---

* शा० ध० प० तथा अग्नि पुराण।

† ध० वे० सं०।

शरभ*

शरभ उस जानवर का नाम है जिसके आठ पैर होते हैं, चार पैर कमर के ऊपरी भाग में होते हैं और चार पैर कमर के नीचे के हिस्से में होते हैं। इसके बड़ी बड़ी सींगें होती हैं। यह ऊँट के समान ऊँचा होता है। यह आरण्यक पशु [जंगली जानवर] है। किसी समय कश्मीर देश के जंगलों में यह बहुत पाया जाता था, परंतु इस समय इसका पता नहीं लगता।

काठ के भेद*

चंदन, बेंत, साल, सेमर, ककुभ, अंजन, बाँस इन वृक्षों की लकड़ी का धनुष बनता है। इन लकड़ियों में बाँस सबसे उत्तम है। इसके बाद बेंत का दर्जा है। और लकड़ियों का धनुष युद्ध में काम नहीं देता क्योंकि वह अधिक कमजोर होता है।

धनुष की डोरी†

धनुष की डोरी रेशम की बनाई जाती है। रेशम के डोरे को तिहरा करके कानी अँगुली के बराबर मोटी डोरी बनावे। डोरी को खूब बटना चाहिए। डोरी साफ और चिकनी हो। डोरी जितनी अधिक बटी जाती है, उतनी ही मजबूत होती है। डोरी की लंबाई धनुष के अनुसार हो। यानी धनुष जितना लंबा हो उसी के अनुसार डोरी लंबी हो। डोरी कहीं मोटी कहीं पतली न हो, किंतु एक सार हो। रेशम की डोरी सब डोरियों से अधिक मजबूत होती है, युद्ध में अधिक काम देती है, खूब खैंचने पर भी टूटती नहीं। यदि रेशम की डोरी न बन सके तो हरिन के या भैंस के अथवा गौ के ताँत की डोरी बनावे। अथवा तत्काल मारे गए बकरे के या नील गाय के ताँत की डोरी बनावे। ताँत के रोम को दूर करके उसे खूब बटे। फिर उसकी डोरी बनावे। ताँत की डोरी भी मजबूत होती है। परंतु रेशम की डोरी से कम मजबूत होती

* धनु० सं०।

† शा० ध० प०।

है। अथवा खूब पके हुए बाँस के छाल की डोरी बनावे। यह डोरी भी मजबूत होती है। सहसा टूटती नहीं। मगर इन सब डोरियों में रेशम की ही डोरी युद्ध में अधिक काम देती है, और सब डोरियों से मजबूत भी पड़ती है। भादों के महीने में मदार की छाल लेकर उसकी डोरी बनावे, तो वह भी मजबूत होती है। इन सब डोरियों को खूब बटना चाहिए। डोरी जितनी अधिक बटी जायगी उतनी ही ज्यादा मजबूत होगी। कपास के सूत की भी डोरी बनती है। कपास के सूत को तीन लर करके खूब बटे। फिर अठारह हाथ की लंबी डोरी बनावे। यह डोरी भी मजबूत होती है। सूत की डोरी अठारह हाथ से कम लंबी न हो।

बाण*

बाण शरकंडे [सरहरी] के बनाए जाते हैं। जिस शरकंडे का बाण बनावे वह बहुत मोटा, या बहुत पतला, या कच्चा, या बहुत पक जाने से सड़ा हुआ, या कुत्सित [खराब] पृथ्वी में उत्पन्न हुआ, या कमजोर, या खोटी गाँठ से युक्त, या बीच से फटा न हो, अर्थात् ऐसे शरकंडे का बाण बनावे, जिसकी गाँठ पूरी हो, जो मजबूत हो, खूब पका हुआ हो, पीले रंग का हो, समय पर लाया गया हो, कठिन हो, गोल हो, अच्छी जमीन में पैदा हुआ हो। शरद ऋतु में पके हुए शरकंडे का बाण बनाना चाहिए क्योंकि वह खूब मजबूत होता है। बाण की लंबाई एक मुट्ठी [पाँच अंगुल] कम दो हाथ की हो। बाण की मोटाई कानी अँगुली के बराबर हो। बाण को धनुष पर चढ़ा कर पहले ठीक समझ ले कि काम दे सकता है, या नहीं। जैसे धनुर्धर के बल से धनुष का वजन कम होना लिख आए हैं उसी प्रकार धनुष के वजन से बाण का वजन कम होना चाहिए, नहीं तो वह दूर तक न जा सकेगा। बाण वजन में अधिक हलका भी न हो। नहीं तो बहककर ठीक निशाने पर न लगेगा और निशाने को ठीक भेद भी न सकेगा। यदि

---

* धनु० सं०।

शरकंडा न मिले तो बाँस का बाण बनावे। परंतु बाँस बहुत भारी या हलका न हो, वजन में साधारण हो। नहीं तो पूर्वोक्त दोष से ठीक ठीक काम लायक न होगा। काक, हंस, वक, क्रौंच, मोर, गीध, कुरर, [चील्ह या टिटिहरी] शशाद [खरहे का मांस खानेवाली चिड़िया], कंक [डोम कौवा]—इन पक्षियों का पङ्ख बाण के पुंख [पिछले भाग] में लगावे। सुवर्ण [सोने] का पङ्ख भी बाण के पुंख में लगाया जाता है। साधारण धनुष के बाण में छ अंगुल का पंख काटकर लगावे। पर सींग के बने हुए धनुष के बाण में दश अंगुल का पंख लगावे। हर एक बाण में चार-चार पंख लगाने चाहिएँ। बाण में पंखों को खूब मजबूत ताँत से अच्छी तरह कस-कर बाँधे, जिससे जल्दी ढीला न हो सके।

बाण के भेद*

बाण तीन प्रकार के होते हैं—स्त्री, पुरुष, और नपुंसक। जो बाण अगले हिस्से में भारी और पिछले हिस्से में हलका हो वह स्त्री बाण होता है। जो बाण पिछले हिस्से में भारी और अगले हिस्से में हलका हो वह पुरुष बाण होता है। जो बाण दोनों भाग में बराबर वजनदार और बराबर मोटा या पतला हो वह नपुंसक बाण होता है। नपुंसक बाण निशाना लगाने के लिये उत्तम होता है। प्रारंभ में इसी बाण से निशाना लगाने का अभ्यास करना चाहिए। यह बाण केवल निशाना साधने में ही अधिक काम देता है। स्त्री बाण बहुत दूर तक जाकर निशाने को भेदता है। पुरुष बाण मजबूत से मजबूत चीज को भी भेद सकता है। खूब मजबूत चीज के काटने में पुरुष बाण ही काम देता है।

फल [शल्य]*

बाण का फल शुद्ध लोहे का बनवाना चाहिए। फल की धार खूब तेज और अच्छी होनी चाहिए। धार इतनी मजबूत और पक्की हो जिससे टक्कर खाने पर मुड़ न सके या टूट न सके। फल

* शा० ध० प०।

की धार पर वज्र लेप [पक्का पानी] चढ़ाना चाहिए। बाण का फल बाण के अनुसार हो, अर्थात् बाण के वजन के मुताबिक फल का वजन हो।

शल्य [फल] के भेद*

फल का मुख दश प्रकार का होता है। आरामुख [आरी के समान], क्षुरप्र [छूरे के समान, अथवा खुरपे के समान], गोपुच्छ [गौ की पूँछ के समान], अर्धचंद्र [आधे अर्थात् अष्टमी के चंद्रमा के समान], सूचीमुख [सूई के समान], भल्ल [भाले के समान], वत्सदंत [बछड़े के दांत के समान], द्विभल्ल [दो भाले के समान], कर्णिक [फूल की पाँखुरी के समान], काकतुंड [कौवे की चोंच के समान]। और भी कई प्रकार के शल्य के मुख होते हैं। भिन्न भिन्न देशों के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार के शल्य [फल'] बनते हैं। आरामुख फल से ढाल को काटना चाहिए। क्षुरप्र शल्य से धनुष को तथा हाथ को काटना चाहिए। गोपुच्छ शल्य से निशाने को भेदना चाहिए। अर्धचंद्र शल्य से गर्दन, शिर, धनुष आदि को काटना चाहिए। सूचीमुख शल्य से कवच का छेदन करना चाहिए। भल्ल शल्य से छाती को छेदना चाहिए। द्विभल्ल शल्य से बाण को रोकना और काटना चाहिए। वत्सदंत शल्य से धनुष की डोरी को काटना चाहिए। कर्णिक शल्य से लोहे के बाण को काटना चाहिए। काकतुंड शल्य से लोहे को या और कोई कड़ी वस्तु को काटना चाहिए।

एक गोपुच्छ बाण होता है जो मजबूत लकड़ी का बनाया जाता है। उसके अग्रभाग में तीन तीन अंगुल के चोखे चोखे काँटे लगाए जाते हैं। एक बाण और होता है जिसके फल में स्याही का काँटा लगाया जाता है। इसका भी नाम गोपुच्छ बाण है। इस बाण से निशाना लगाने का अभ्यास करना चाहिए।

* धनुर्वेद सं०

फलपायन विधि *

बाण के फल पर शरकंडे [सरहरी] की जड़ का लेप लगाने से बाण का किया हुआ घाव कभी भी अच्छा नहीं होता और घायल प्राणी उसी घाव से मर जाता है। जिस शरकंडे के झुंड पर स्वाती की बूँदें पड़ती हैं वह पीले रंग का हो जाता है और इसकी जड़ में जहर उत्पन्न हो जाता है। इसका चिह्न यह है कि वह वायु के न चलने पर भी स्वयं हर समय हिलता रहता है। इसकी जड़ के रस का लेप करने से बाण का फल जहरीला हो जाता है और उसका घाव कभी भी अच्छा नहीं होता। और भी अनेक दिव्य औषधियाँ ऐसी हैं जिनके रस का लेप करने से बाण मजबूत से मजबूत लोहे के कवच को भी पत्ते के समान काट देता है। पीपर, सेंधा निमक, कुट, इन तीनों चीजों को गऊ के मूत में खूब पीसकर बाण के फल पर लेप करे। फिर उसे आग में तपावे। इसके अनंतर उसे ठंढा न होने दे और पीटे भी नहीं। जब आप से आप उसके ऊपर की औषधि नष्ट हो जाय अर्थात् जब बाण का फल सब औषध को पी जाय तब उसे तेल में बुझा दे। फिर उसे बाण में लगावे।

पाँचो निमक और पीली सरसों को शहद में पीसकर बाण के फल में लगावे। फिर आग में खूब तपावे। जब वह मोर की गर्दन की भाँति नीले रंग का हो जाय और सब औषधि को पी जाय तब उसे साफ पानी में बुझा दे। इस प्रकार उस फल पर पानी चढ़ जायगा। उसका घाव जहरीला होकर प्राण को ले लेता है, कदापि अच्छा नहीं होता।

नाराच †

जो बाण खाली लोहे का बनाया जाता है अर्थात् जिसमें ऊपर से नीचे तक सब लोहा ही रहता है उसका नाम नाराच है।

* शा० ध० प० तथा धनुर्वे० सं०

† शा० ध० प०

नाराच के पुंख [पिछले भाग] में मोटे. मोटे बड़े बड़े पांच पंख लगते हैं। नाराच का चलाना किसी किसी धनुर्धर को आता है। जो धनुर्धर बड़ा बलवान् होता है वही नाराच को चला सकता है।

नालीक [गोली]*

जो बाण बहुत ही छोटा होता है उसका नाम नालीक है। नालीक बाण नल यंत्र के द्वारा चलाया जाता है। नालीक को आज कल गोली कहते हैं और नलयंत्र को बंदूक कड़ाबीन इत्यादि कहते हैं। नालीक बाण बहुत ऊँचे या बहुत दूर का निशाना लगाने में काम देता है। दुर्गयुद्ध में नालीक बाण से काम लेना चाहिए।

बृहन्नालीक [गोला]

बृहन्नालीक बड़े गोले का नाम है। यह दुर्ग-रक्षा के लिये काम में लाया जाता है और वैरी के दुर्ग की दीवार और फाटक तोड़ने में भी काम देता है। इसके चलाने में रंजक द्रव्य [बारूद] की आवश्यकता होती है, अर्थात् बारूद के द्वारा यह बृहन्नलयंत्र [तोप] से चलाया जाता है।

स्थान [पैंतरा]*

युद्ध के लिये खड़े होने या चलने का जो तरीका होता है उसे स्थान [पैंतरा] कहते हैं। यह आठ प्रकार का होता है। आलीढ़, प्रत्यालीढ़, विशाख [वैशाख], समपाद, विषमपाद, दर्दुरक्रम, गरुड़क्रम, और पद्मासन। बायें पैर को आगे बढ़ाकर दहिनी टेहुनी सिकोड़कर दो हाथ पीछे रखने से जो पैंतरा किया जाय उसे आलीढ़ कहते हैं। दहिने पैर को आगे बढ़ाकर बाईं टेहुनी को सिकोड़कर दो हाथ पीछे रखने से जो पैंतरा होता है उसे प्रत्यालीढ़ कहते हैं। किसी किसी† आचार्य ने आलीढ़ को प्रत्यालीढ़ और प्रत्यालीढ़ को आलीढ़ कहा है। अर्थात्

---

* धनुर्वेद संहिता

† शा० ध० प०

उनके अनुसार आलीढ़ के लक्षण को प्रत्यालीढ़ का और प्रत्यालीढ़ के लक्षण को आलीढ़ का लक्षण समझना चाहिए। *एक दूसरे आचार्य ने आलीढ़ और प्रत्यालीढ़ के लक्षण को और ही भाँति का माना है। दोनों पैरों को पाँच बित्ते के फासले पर रखकर दहिने पैर को एक दम तान दे, और बाँयें पैर को हल के समान बनावे—यह आलीढ़ पैंतरे का लक्षण हुआ। इससे विपरीत प्रत्यालीढ़ पैंतरा होता है अर्थात् इस पैंतरे में दहिना पैर हल के समान रखा जाता है और बाँया पैर तान दिया जाता है।

एक हाथ के फासले पर दोनों पैरों को बराबर सीधा रखकर जो पैंतरा किया जाय उसे विशाख [वैशाख] कहते हैं। एक दूसरे आचार्य के मत से इस पैंतरे में दोनों पैरों को तीन बित्ते [डेढ़ हाथ] के फासले पर रखना चाहिए। इस पैंतरे से खड़े होकर कूटलक्ष्य [कपट से बनाए हुए निशाने] का भेदन करना चाहिए। दोनों पैरों को बराबर मिलाकर सीधा रखने से जो पैंतरा होता है उसका नाम समपाद है। बाँयें पैर को आगे करके दहिने पैर को पीछे रखकर शरीर को एक हाथ नीचे झुका देने से जो पैंतरा होता है उसका नाम विषमपाद है। दोनों जंघाओं को सिकोड़कर दोनों टेहुनी से जमीन टेकने से जो पैंतरा होता है उसका नाम दर्दुरक्रम है। इस पैंतरे से खड़े होकर मजबूत चीज के भेदन करने में सुविधा होती है। बाँई टेहुनी ज़मीन में लगाकर दहिने पैर को आगे रखकर सिकोड़ देने से जो पैंतरा किया जाता है उसका नाम गरुड़क्रम है। पद्मासन योगशास्त्र में प्रसिद्ध है। योगी जिस प्रकार पद्मासन लगाता है उसी प्रकार से जो पैंतरा होता है उसका नाम पद्मासन है। धनुर्वेद में 'धनुर्धरों के लिये यह पैंतरा सब पैंतरों से उत्तम कहा गया है। *एक आचार्य ने और भी छः प्रकार का पैंतरा माना है। यथा मंडल, जात, दंडायत, विकट, संपुट, स्वस्तिक। हंसों की पाँति के समान

* अ० पु०।

दोनों टेहुनियों को चार बित्ते के फासले पर रखने से जो पैंतरा होता है उसका नाम मंडल है। बाँयें पैर को टेढ़ा करके दहिने पैर को सीधा बारह अंगुल के फासले पर रखने से जो पैंतरा होता है उसका नाम जात है। बाँयें पैर को सीधा खड़ा करके दहिने पैर के फैलाने या सिकोड़ने से जो पैंतरा किया जाता है उसका नाम दंडायत है। इसी प्रकार दो हाथ के फासले पर दोनों पैर रखने से जो पैंतरा होता है उसका नाम विकट है। दोनों टेहुनियों को दुगुना करके दोनों पैरों को उतान करने से जो पैंतरा होता है उसका नाम संपुट है। सोरह अंगुल के फासले पर रखकर दोनों पैरों को बराबर दंड के समान लंबा करके कुछ आगे पीछे निश्चल रखने से जो पैंतरा होता है उसका नाम स्वस्तिक है।

युद्ध के समय प्रारंभ में इसी स्वस्तिक पैंतरे से खड़े होकर इष्ट देवता तथा गुरु जनों को प्रणाम करना चाहिए।

गुड़मुष्टि*

धनुष की डोरी जिस प्रकार की मुट्ठी बाँधकर खैंचने के लिये पकड़ी जाती है उसे गुड़मुष्टिक कहते हैं। गुड़मुष्टि पाँच प्रकार की होती है—पताका, वज्रमुष्टि, सिंहकर्णी, मत्सरी और काकतुंडी। तर्जनी अंगुली को बेड़ी करके अँगूठे की जड़ के पास ले जाने से जो मुट्ठी बाँधी जाती है उसका नाम पताका है। यह नालीक [गोली] के दूर तक चलाने में अधिक काम देती है। तर्जनी और मध्यमा अंगुली के बीच में अँगूठे को रखकर जो मुट्ठी बाँधी जाती है उसका नाम वज्रमुष्टि है। तर्जनी के अगले हिस्से को अँगूठे के मध्य में लगाकर जो मुट्ठी बाँधी जाती है उसका नाम सिंहकर्णी है। यह बड़े मजबूत लक्ष्य के भेदने में काम देती है। तर्जनी के अगले हिस्से को अँगूठे के नख की जड़ में ठहराकर जो मुट्ठी बाँधी जाती है उसे मत्सरी कहते हैं। यह चित्र-लक्ष्य के भेदने में काम देती है। अँगूठे के अगले हिस्से को तर्जनी अँगुली

के सिर में लगाकर जो मुट्ठी बाँधी जाती है उसका नाम काकतुंडी है। यह अत्यंत सूक्ष्म लक्ष्य के भेदने में काम देती है।

सज्जीकरण *

पहले धनुष को हाथ में लेकर उसे तौले अर्थात् धनुष के वजन को अच्छी तरह समझ ले। फिर उसकी डोरी को दूसरे सिरे में खूब कसकर बाँधे। धनुष को इतना लचकावे कि न तो वह बहुत अधिक अर्धवृत्ताकार हो और न बहुत कम। बारह अंगुल का अंतर धनुष और डोरी में होना चाहिए। अनंतर बाँयें हाथ में धनुष को लेकर दहिने हाथ में बाण को ले। फिर धनुष की डोरी पर बाण को रखकर उसे खैंचे।

संधान †

संधान तीन प्रकार का होता है। अधःसंधान, ऊर्ध्वसंधान, समसंधान। ये तीनों संधान क्रम से तीन प्रकार के निशाना लगाने में काम देते हैं। यदि बाण को अधिक दूर तक फेकना हो तो अधःसंधान से काम लेना चाहिए। यदि स्थिर लक्ष्य में बाण मारना हो तो समसंधान से काम लेना चाहिए। यदि बड़े कड़े लक्ष्य को बाण से तोड़ना हो तो ऊर्ध्वसंधान से काम लेना चाहिए। निशाना लगाने के समय शरीर को अपने वश में रखना चाहिए। धनुष को मजबूती के साथ पकड़ना चाहिए। दृष्टि को अच्छी तरह स्थिर रखना चाहिए। नाम मात्र भी दृष्टि इधर उधर चंचल न होने पावे।

व्याय [खैंचना]†

व्याय पाँच प्रकार के होते हैं—कैशिक, सात्त्विक, वत्सकर्ण, भरत और स्कंध। यदि बाण केश तक खैंचा जाय तो उसे कैशिक व्याय कहते हैं। यदि शृंग [शिर के अग्र भाग] तक खैंचा जाय तो उसे सात्त्विक व्याय कहते हैं। सात्त्विक व्याय का नाम शार्ङ्गिक व्याय भी है। यदि कान तक खैंचा जाय तो उसे

* ध० वे० सं०

† शा० ध० प०

वत्सकर्ण व्याय कहते हैं। यदि गर्दन तक खैंचा जाय तो उसे भरत व्याय कहते हैं। यदि कंधे तक खैंचा जाय तो उसे स्कंध व्याय कहते हैं। चित्रयुद्ध में कैशिक व्याय काम देता है। नीचे निशाना लगाने में सात्त्विक व्याय काम देता है। गूढ़ [छिपे हुए] लक्ष्य के भेदन में वत्सकर्ण व्याय से काम लेना चाहिए। मजबूत लक्ष्य के भेदन में भरत व्याय से काम ले। दूर के निशाना लगाने में स्कंध व्याय से काम लेना चाहिए।

लक्ष्य *

लक्ष्य [निशाना] चार प्रकार का होता है—स्थिर, चल, चलाचल, द्वयचल। इन चारों लक्ष्यों को क्रम से भेदना चाहिए। जो धनुर्धर स्वयं स्थिर होकर स्थिर लक्ष्य को तीनों प्रकार के संधान से भेदन करता है उसका नाम स्थिरवेधी है। जो धनुर्धर स्वयं स्थिर रहकर चंचल लक्ष्य को भेदता है उसका नाम चललक्ष्य है। जो धनुर्धर स्वयं चल होकर [चलता हुआ] स्थिर लक्ष्य को भेदता है उसे चलाचल कहते हैं। यह सर्वोत्तम लक्ष्यभेदी धनुर्धर होता है। जो धनुर्धर स्वयं चंचल [चलता हुआ] रहकर चल लक्ष्य को भेदता है उसका नाम द्वयचल है। इस प्रकार के लक्ष्य का भेदना बड़े परिश्रम से आता है। इस प्रकार से लक्ष्य-भेद करने का अभ्यास धनुर्धर को अवश्य करना चाहिए। जो धनुर्धर परिश्रमपूर्वक ठीक ठीक लक्ष्य में बाण मारता है, दूर से लक्ष्य भेदन करता है, मुट्ठी को मजबूती से बाँधकर दृढ़ता के साथ बाण को खैंचता है वही धनुर्धर शीघ्र संधान कर सकता है अर्थात् फुर्ती से बाण चला सकता है। परिश्रम करने से चित्रयुद्ध में निपुणता आती है। परिश्रम ही से युद्ध में विजय प्राप्त होती है। इससे गुरु के सम्मुख धनुर्विद्या के अभ्यास में यथेष्ट परिश्रम करना चाहिए।

जो धनुर्धर पहले बायें हाथ में धनुष और दहिने हाथ में बाण लेकर बाण चलाने का अभ्यास करता है उसे धनुर्विद्या में बहुत

* शा० ध० प० तथा ध० वे० सं०

शीघ्र सिद्धि मिलती है। बाँयें हाथ से धनुष धारण करके दहिने हाथ से बाण चलाने का अभ्यास ठीक हो जाने पर दहिने हाथ से धनुष धारण करके बाँयें हाथ से बाण चलाने का अभ्यास करना चाहिए। जब इसमें भी अभ्यास ठीक हो जाय, तब दोनों हाथों से बाण चलाने का अभ्यास परिश्रमपूर्वक करे। जब दोनों हाथों से बाण चलाना ठीक ठीक आ जाय तब दोनों हाथों से नाराच के चलाने का अभ्यास करना चाहिए। दहिने हाथ से बाण चलाना तो प्रायः सभी को परिश्रम करने से आ जाता है। परंतु बाँयें हाथ से बाण चलाना परिश्रम करने पर भी किसी किसी को भाग्य से आता है। प्राचीन काल में भी यही बात थी। प्राचीन धनुर्धरों में भी दोनों हाथों से बाण चलाना अर्जुन को जैसा आता था वैसा अन्य धनुर्धरों को नहीं आता था। इसी से अर्जुन का नाम सव्य-साची था। बाँयें हाथ से बाण चलाने का अभ्यास करना चाहे तो विशाख और विषमपाद स्थान [पैंतरे] से तथा कैशिक व्याय से सीखे। इसी रीति से सीखने में सुगमता होती है।

सूर्योदय से लेकर मध्याह्न काल तक पश्चिम दिशा में निशाना साधे। मध्याह्न काल से लेकर सायंकाल तक पूर्व दिशा में निशाना साधे। सब काल में उत्तर दिशा की ओर निशाना साधे परंतु युद्ध के बिना किसी काल में भी दक्षिण दिशा में निशाना न साधे। निशाना साधने के समय अपने बल का ध्यान रखना परम कर्त्तव्य है, अर्थात् अपने बल के अनुसार निशाना साधने में परिश्रम करना चाहिए। धनुर्विद्या सीखने के समय अपने से साठ धनुष के फासले पर जो निशाना साधा जाता है वह उत्तम होता है। अपने से चालीस ४० धनुष के फासले पर जो निशाना साधा जाता है वह मध्यम होता है और अपने से बीस धनुष के फासले पर जो निशाना साधा जाता है वह अधम होता है। अपने से चालीस धनुष के फासले पर नाराच से लक्ष्य भेदन करनेवाला उत्तम धनुर्धर होता है तथा अपने से तीस धनुष के फासले

पर नाराच से लक्ष्य भेदनेवाला मध्यम धनुर्धर होता है और अपने से सोरह धनुष के फासले पर नाराच से लक्ष्य भेदन करनेवाला अधम धनुर्धर होता है।

जो धनुर्धर सूर्योदय तथा सूर्यास्त काल में शिक्षाभ्यास के समय लगातार चार सौ बाणों से लक्ष्य भेदन करता है वह सब धनुर्धरों में श्रेष्ठ होता है, तथा जो लगातार तीन सौ बाणों से लक्ष्य भेदन करता है वह मध्यम धनुर्धर होता है और जो दो सौ बाणों से लगातार लक्ष्य भेदन करता है वह अधम धनुर्धर होता है। पृथ्वी से एक पुरसा ऊँचे पर लक्ष्य बनाकर निशाना साधना चाहिए। लक्ष्य के मध्य में छोटा सा गोल बिंदु लगाकर उसी में बाणों का निशाना लगाना चाहिए। इसी को आज कल चाँदमारी कहते हैं। जो धनुर्धर लक्ष्य के ऊपरी भाग का भेदन करता है वह धनुर्धर श्रेष्ठ होता है, जो लक्ष्य के मध्य भाग का भेदन करता है वह मध्यम धनुर्धर होता है और जो लक्ष्य के निचले भाग का भेदन करता है वह अधम धनुर्धर होता है। धनुर्धर पहले बाण को धनुष पर चढ़ावे। फिर अँगूठे और तर्जनी तथा मध्यमा और अनामिका अंगुली से बाण को दबाकर उतने वेग से खैंचे जितने में बाण पूरे वेग से भरा हुआ लक्ष्य तक ठीक ठीक पहुँच जावे। जो बाण बारह मुट्ठी का लंबा होता है वह उत्तम होता है, ग्यारह मुट्ठी का लंबा बाण मध्यम होता है और दश मुट्ठी का लंबा बाण निकृष्ट होता है। बारह मुट्ठी के लंबे बाण को चलाने के लिये चार हाथ के लंबे उत्तम धनुष की आवश्यकता होती है। ग्यारह मुट्ठी के लंबे बाण को चलाने के लिये साढ़े तीन हाथ के लंबे मध्यम धनुष की आवश्यकता होती है। दश मुट्ठी के लंबे बाण को चलाने के लिये तीन हाथ लंबे निकृष्ट धनुष की आवश्यकता होती है। धनुर्धर को चाहिए कि पहले चौखूँटे लक्ष्य का भेदना अच्छी तरह सीखे। फिर गोल लक्ष्य का भेदना सीखे। धनुर्धर पहले सामने सीधे

लक्ष्य का भेदना सीखे। अनंतर बाँयें, दाहिने, ऊपर, नीचे, लक्ष्य भेदने का अभ्यास करे। धनुर्धर पहले स्थिर लक्ष्य भेदने का अभ्यास करे। फिर चंचल लक्ष्य भेदने का अभ्यास करे। धनुर्धर प्रथम स्वयं स्थिर होके लक्ष्य भेदने का अभ्यास करे, फिर स्वयं चंचल होकर लक्ष्य भेदने का अभ्यास करे।

अनध्याय *

अष्टमी, अमावास्या, चतुर्दशी, और पूर्णिमा का आधा दिन धनुष विद्या संबंधी सब कार्यों में निषिद्ध है।

अकाल में मेघ गर्जन होने पर, आकाश में मेघ घिरे रहने पर, तथा पहले ही बाण के लक्ष्य में न लगने पर, धनुष विद्या के अध्ययन का अनध्याय होता है। अनुराधा नक्षत्र से लेकर सोरह नक्षत्रों पर जब तक सूर्य है उस समय का नाम अकाल है। अर्थात् अगहन के महीने (वृश्चिक राशि के सूर्य) से लेकर ज्येष्ठ के महीने (वृष राशि के सूर्य) तक धनुष विद्या सीखने का अनध्याय होता है। जिस दिन सूर्योदय काल में मेघ गर्जन हो उस दिन भी धनुष विद्या पढ़ने का अनध्याय होता है। धनुष विद्या का अभ्यास करने के प्रारंभ में यदि सर्प दिखलाई पड़े तो धनुष विद्या का अनध्याय होता है। धनुष विद्या सीखने के समय यदि धनुष टूट जाय अथवा पहले ही बाण छोड़ने के समय धनुष की डोरी टूट जाय तो अनध्याय होता है। इन अनध्यायों में धनुष विद्या का अथवा किसी भी शस्त्र का अभ्यास कदापि न करना चाहिए।

श्रमक्रिया*

पवित्र धर्मात्मा सुयोग्य पुरुषों के लिये धनुष विद्या की श्रमक्रिया का ज्ञान अत्यंत आवश्यक है। श्रमक्रिया के ज्ञान से ही सिद्धि प्राप्त होती है; और प्रकार से सिद्धि दुर्लभ होती है। प्रारंभ में धनुष को नम्र करके डोरी को धनुष के दूसरे कोण में दृढ़ता से बाँधे। फिर पैंतरे से खड़े होकर बाण के ऊपर हाथ

* शा० ध० प०।

को रक्खे। बाँयें हाथ से धनुष को तौलकर देहिने हाथ से धनुष पर बाण चढ़ावे। अनंतर एक बाण से पृथ्वी का भेदन करे। प्रथम शिवजी तथा गणेशजी को प्रणाम करके गुरु को प्रणाम करे। अनंतर धनुष और बाण को प्रणाम करे। इसके बाद गुरु से बाण खैंचने की आज्ञा लेकर प्रयत्नपूर्वक अपने प्राणवायु को बाण के साथ पूरण करे, अर्थात् पूरक प्राणायाम के साथ बाण को धनुष पर चढ़ाकर खैंचे। फिर कुंभक प्राणायाम से प्राण वायु के साथ बाण को स्थिर करके रेचक प्राणायाम से प्राणवायु के साथ बाण को हुंकारपूर्वक छोड़े।

सिद्धि चाहनेवाला धनुर्धर इसी प्रकार से श्रम-क्रिया का अभ्यास करे। छः महीने तक इस प्रकार से अभ्यास करने पर मुष्टि-सिद्धि [धनुष और बाण को मुट्ठी से पकड़ने की सिद्धि] होती है। एक वर्ष तक अभ्यास करने पर बाण-सिद्धि [बाण चलाने की सिद्धि] होती है। परंतु नाराच चलाने में सिद्धि उसी मनुष्य को होती है जिस पर भगवान् शिवजी की पूर्ण कृपा होती है।

बाणविद्या में सिद्धि चाहनेवाला धनुर्धर फूल की भाँति बाण को धारण करे, सर्प की भाँति धनुष को दबावे, और धन की भाँति लक्ष्य का ध्यान करे। आचार्य क्रियासिद्धि की चाहना करते हैं। भार्गव [चार प्रकार के युद्ध में कुशल] दूर तक बाण जाने की सिद्धि को चाहते हैं। राजा लोग दृष्टिसिद्धि [निशाने में निगाह रखने की सिद्धि] को चाहते हैं। और लोग लक्ष्य भेदने की सिद्धि को चाहते हैं। हीन [तुच्छ] बाण से भी लक्ष्यभेद हो जाने पर लोगों का मन प्रसन्न होता है। इससे लक्ष्यभेदन में ही पटुत्व प्राप्त होना अधिक अच्छा होता है।

लक्ष्याऽस्खलन विधि *

धनुर्धर को संधान करने के समय विशाख नाम पैंतरे से खड़ा होना चाहिए। गोपुच्छ मुख शल्ययुक्त बाण को धनुष पर चढ़ाना

* धनु० वे० सं०।

चाहिए। सिंहकर्णी मुष्टि से बाण को पकड़ना चाहिए और कैशिक व्याय से खींचना चाहिए। संधान के समय शरीर को इतना स्थिर रखना चाहिए जिससे शिखा भी न हिलने पावे। शरीर के अगले और पिछले भाग को बराबर रखना चाहिए। दोनों कँधों, दोनों हाथों और दोनों नेत्रों को स्थिर रखना चाहिए। दृष्टि को लक्ष्य पर गड़ाए रखना चाहिए। मन को दृष्टि पर लगाए रखना चाहिए। मुट्ठी से लक्ष्य को ढाँककर बाण को आगे रखना चाहिए। लक्ष्य पर ठीक ठीक दृष्टि गड़ाकर बाण को छोड़ना चाहिए। इस प्रकार से परिश्रमी धनुर्धर का बाण अपने लक्ष्य से कदापि नहीं चूकता किंतु अवश्य ही लक्ष्य भेदता है।

शीघ्र संधान*

जो धनुर्धर तर्कस से शीघ्र बाण निकालने का, बाण को शीघ्र धनुष पर चढ़ाने का, धनुष के शीघ्र खींचने का, शीघ्र बाण चलाने का, प्रति दिन नियम से अभ्यास करता है वह बहुत शीघ्र संधान करने में निपुण होता है।

दूरपातन*

प्रत्यालीढ़ पैंतरे से खड़े होकर पताका नामक मुष्टि से स्त्री बाण का अधःसंधान करने पर बाण बहुत दूर तक जाता है।

दृढ़ प्रहार*

दर्दुरक्रम पैंतरे से खड़े होकर वज्रमुष्टि से स्कंध व्याय करके पुरुष बाण का ऊर्ध्व संधान करने से धनुर्धर दृढ़ प्रहार में निपुण हो जाता है। इस कार्य में भुजाओं को भली भाँति अपने वश में रखने की अत्यंत आवश्यकता होती है।

हीन गति*

बाण की हीन गति तीन प्रकार की होती है—सूचीमुखा, मीन-पुच्छा, भ्रमरी। जिस बाण के पुंख में पंख न लगा हो या उलटा लगा हो उस बाण की गति सूचीमुखा होती है। जो बाण कर्कश

* शा० ध० प०।

धनुष पर चढ़ाकर हीनमुष्टि से खैंचा जाता है, उस बाण की गति मीनपुच्छा होती है। जो बाण धनुष के छूटने पर सीधी चाल को छोड़कर चलता है उस बाण की गति भ्रमरी होती है।

लक्ष्यस्खलन विधि*

बाँई ओर जानेवाली, दहिनी ओर जानेवाली, ऊपर जानेवाली, नीचे जानेवाली, ये चार प्रकार की गति बाण के स्खलन का [निशाने में न लगने का] कारण होती है। बाण के पिछले भाग में गुण की मुष्टि कंपित होने से तथा धनुष की मुष्टि सामने होने से बाण की गति वामगा (बाँई ओर जानेवाली) होती है। इस गति के होने पर बाण लक्ष्य में नहीं लगता। जो बाण ढिलाई के साथ पकड़ने से सीधा नहीं चलाया जाता उसकी गति दक्षिणगा [दहिनी ओर जानेवाली] होती है। धनुष की मुट्ठी ऊपर होने से तथा डोरी की मुट्ठी नीचे होने से बाण की गति ऊर्ध्वगा [ऊपर जानेवाली] होती है। धनुष की मुट्ठी नीचे होने से तथा डोरी की मुट्ठी ऊपर होने से बाण की गति नीचगा [नीचे जानेवाली] होती है। बाण चलाने के समय बड़े विचार से काम लेना चाहिए जिससे कि ये चारों प्रकार की गतियाँ न होने पावें, क्योंकि इन गतियों के होने पर बाण क्रम से लक्ष्य के बाँयें, दहिने, ऊपर या नीचे हो जाता है। इससे लक्ष्यभेद ठीक नहीं हो सकता।

शुद्ध गति*

लक्ष्य [निशाना] और बाण का अग्रभाग तथा धनुर्धर की दृष्टि [निगाह] ये तीनों जब एक साथ मिले रहते हैं तब धनुर्धर का छोड़ा हुआ बाण अपने लक्ष्य से कदापि नहीं चूकता, किंतु अवश्य ही लक्ष्यभेदन करता है। जो बाण उक्त दोषों से मुक्त होते हुए छूटने पर शब्द नहीं करता तथा जो बाण धनुष की और उसकी डोरी की मुट्ठी को बराबर करके छोड़ा जाता है वह अवश्य ही दृढ़ लक्ष्य को भेदता है। खूब सान चढ़ाया हुआ

* शा० ध० प०

अच्छी तरह खैंचकर गाढ़ी मुट्ठी से छोड़ा हुआ, विशुद्ध बाण मनुष्य, घोड़े, हाथी, आदि जीवों के शरीर को भेदकर बेदाग पार निकल जाता है। जो धनुर्धर बाणों को तृण के समान, धनुष को ईंधन के समान और डोरी को प्राण के समान मानता है वह सब धनुर्धरों में श्रेष्ठ होता है।

दृढचतुष्क *

मजबूत चार चीजों का भेदन

जो धनुर्धर अपने बाण से लोहे को, चमड़े की ढाल को, घड़े को और मिट्टी के पिंडे को, इन चारों को भेदता है उसका बाण वज्र के समान अकाट्य होता है। जो धनुर्धर एक बाण से डेढ़ अंगुल मोटे लोहे के अनेक तवों को भेदता है वह दृढ़घाती [मजबूत चीज को भेदनेवाला] कहाता है। जो धनुर्धर एक बाण से चौबीस चमड़े की ढालों को भेदता है उसके बाण में हाथी के शरीर को भेदन कर पार निकल जाने की शक्ति होती है। जो धनुर्धर पानी में चक्कर खाते हुए [भौंर में पड़कर घूमते हुए] घड़े को और जोर से घूमते हुए कुम्हार की चाक में मिट्टी के पिंडे को अपने एक बाण से भेदता है उसे दृढ़भेदी [मजबूती से भेदनेवाला] कहते हैं। लोहे को काकतुंड शल्ययुक्त बाण से भेदना चाहिए। ढाल को आरामुख शल्ययुक्त बाण से भेदना चाहिए, मिट्टी के पिंडे को और घड़े को सूचीमुख शल्ययुक्त बाण से भेदना चाहिए।

चित्रविधि †

जो धनुर्धर बाण को काटना, घूमती हुई कौड़ी को काटना, काठ को छेदना, विंदु [चाँदमारी] को और दो गोलों का भेदना जानता है वह सर्वत्र विजयी होता है। जो धनुर्धर अपनी मुट्ठी को कुछ टेढ़ी करके दो फलवाले बाण से लक्ष्य स्थान में रक्खे हुए

---

* शा० ध० प०।

† शा० ध० प० तथा ध० वे० सं०।

बाण को बिना प्रयत्न काट दे अथवा अर्धचंद्राकार बाण से सम्मुख आते हुए तिरछी छायावाले बाण को आकाश में काट दे वह बाणच्छेदी [बाण काटनेवाला] होता है।

वराटिकावर्त्त*

लकड़ो में बँधे हुए घोड़े के बाल से बाँधी गई घूमती हुई कौड़ी का भेदन करनेवाला मनुष्य उत्तम धनुर्धर होता है।

काष्ठ-छेदन*

लक्ष्य स्थान में गौ की पूँछ के समान मोटी गीली लकड़ी को रखकर क्षुरप्र बाण से काटनेवाला मनुष्य काष्ठच्छेदी [काठ काटने-वाला] होता है।

बिंदुभेदन

लक्ष्य स्थान में दुपहरी के फूल के बराबर सफेद बिंदी लगाकर उसे भेदनेवाला मनुष्य चित्रयोधी [विचित्र युद्ध करनेवाला] होता है।

काठ के दो गोलों को आकाश में ऊपर दूर फेंक दे। वे दोनों गोले पृथ्वी पर गिरने न पावें, बीच ही में गोपुच्छ मुखवाले दो बाणों से शीघ्र संधान करके उन दोनों की पीठ को भेदनेवाला मनुष्य सब धनुर्धरों में श्रेष्ठ होता है। ऐसे धनुर्धर का आदर सब राजा महाराजा करते हैं।

धावल्लक्ष्य*

रथ, हाथी और घोड़े पर सवार होकर अथवा पैदल दौड़ता हुआ धनुर्धर ठीक ठीक लक्ष्य भेदने का अभ्यास करे।

शब्दवेध*

जहाँ अत्यंत अधिक अंधकार हो वहाँ दो हाथ के फासले पर लक्ष्य स्थान में एक काँसे के पात्र को रखकर उसमें कंकड़ो मारे। जब शब्द हो तब ध्यानपूर्वक कान और मन को लगाकर सुने, और समझे कि शब्द कहाँ हुआ। फिर उसमें कंकड़ी मारे और फिर "शब्द कहाँ हुआ" इस बात का निश्चय करे। ठीक निश्चय हो

---

* शा० ध० प० तथा ध० वे० सं०।

जाने पर उस पात्र को कुछ दूर हटाकर रक्खे और फिर कंकड़ी मारे। फिर शब्द का निश्चय करे। निश्चय होने के बाद उस पात्र को और दूर रखकर इसी क्रिया को करे। इसी तरह प्रति दिन कुछ दूर हटा हटाकर रक्खे और कंकड़ी मारकर शब्द का निश्चय करे। जब ठीक ठीक शब्द से लक्ष्य का ज्ञान हो तब सावधान होकर बुद्धिमानी से उस लक्ष्य में बाण मारे। यह बहुत दुष्कर कार्य है। बड़े भाग्य से किसी किसी धनुर्धर को शब्दवेधी बाण मारना आता है।

प्रत्यागमन*

बाण में बारूद भरी नलिका लगाकर उसे वायु के सम्मुख छोड़ने से वह बाण फिर चलानेवाले के पास लौट आता है। इस बाण का नाम खग होता है।

अस्त्रविधि*

धनुर्धर को जब तक शस्त्र चलाने में खूब निपुणता न हो तब तक इसी भाँति प्रति दिन शस्त्र चलाने में परिश्रमपूर्वक अभ्यास करना चाहिए। शस्त्रप्रयोग में खूब निपुण होने के बाद धनुर्धर वर्षाऋतु में कदापि धनुष को हाथ में न ले। शस्त्र चलाना भूल न जावे, इसलिये प्रति वर्ष शरद ऋतु में दो महीने नियम से शस्त्र चलाने का अभ्यास किया करे। आश्विन के महीने में शुक्ल पक्ष की नवमी तिथि को शिवजी की, दुर्गाजी की और गुरु की तथा शस्त्र, हाथी घोड़े (इत्यादि) इन सबकी पूजा करे। ब्राह्मण और कुमारी को भोजन कराकर यथाशक्ति दक्षिणा दे। दुर्गा भगवती को पशु की बलि दे। गाना बजाना करके मंगल मनावे। इसके बाद अस्त्रों की सिद्धि के लिये वैदिक तथा तांत्रिक मंत्रों से जप और होम करे।

अस्त्रों के नाम†

ब्रह्मास्त्र, नारायणास्त्र, पाशुपतास्त्र, पिनाकास्त्र, शैवास्त्र, शूलवतास्त्र, ब्रह्मदंडास्त्र, ब्रह्मशिरोऽस्त्र, नारसिंहास्त्र, वज्रास्त्र, ऐषीकास्त्र,

---

* शा० ध० प०।

† वाल्मीकि रामायण, महाभारत तथा ध० वे० सं०।

वारुणास्त्र, पार्जन्यास्त्र, आग्नेयास्त्र, वायव्यास्त्र, हयशिरोऽस्त्र, क्रौंचास्त्र, विद्याधरास्त्र, गंधर्वास्त्र, दूसरा गंधर्वास्त्र, मोहनास्त्र, दूसरा मोहनास्त्र, प्रस्वापनास्त्र, प्रशमनास्त्र, सौम्यास्त्र, भौमास्त्र, वर्षणास्त्र, शोषणास्त्र, संतापनास्त्र, विलापनास्त्र, मोदनास्त्र, मानवास्त्र, पैशाचास्त्र, तामसास्त्र, सौमनास्त्र, संवर्त्तास्त्र, मौसलास्त्र, मुसलास्त्र, सत्यास्त्र, मायामयास्त्र, सौरास्त्र [तेजःप्रभ], सोमास्त्र [शिशिर], त्वाष्ट्रास्त्र, भगास्त्र, मानदास्त्र, पर्वतास्त्र, ऐंद्रास्त्र, सर्पास्त्र, गारुड़ास्त्र, अंतर्धानास्त्र, शीतेषु अस्त्र, कंकालास्त्र, घोरास्त्र, कापालास्त्र, वारुणपाशास्त्र, किंकिणी अस्त्र, नंदनासिरत्नास्त्र, शक्ति अस्त्र, दूसरा शक्ति अस्त्र, शिखरास्त्र, शुष्काशनि अस्त्र, आर्द्राशनि अस्त्र, धर्मपाशास्त्र, कालपाशास्त्र, धर्मचक्रास्त्र, कालचक्रास्त्र, दंडचक्रास्त्र, विष्णुचक्रास्त्र, इंद्रचक्रास्त्र, मोदकी गदास्त्र, शिखरीगदास्त्र ।

इन अस्त्रों के अतिरिक्त और भी अस्त्र हैं, परंतु इतने अस्त्रों के नाम शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। इन अस्त्रों के प्रयोग से बड़े कठिन कठिन कार्य क्षण मात्र में सिद्ध होते हैं। इन अस्त्रों का, या और जो अनेक अस्त्र हैं, उन सबका ज्ञान केवल शिवजी को है। उनके ही द्वारा संसार में मनुष्यों को ये प्राप्त हुए हैं।

संहारास्त्रों के नाम *

सत्यवान्, सत्यकीर्ति, धृष्ट, रभस, प्रतीहार, तर, पराङ्मुख, लक्ष्य, अवाङ्मुख, अलक्ष्य, दृढ़नाभ, सुनाभ, दशाक्ष, शतवक्त्र, दशशीर्ष, शतोदर, पद्मनाभ, महानाभ, दुंदुनाभ, स्वनाभ, ज्योतिष, शकुन, नैरास्य, विमल, यौगंधर, विनिद्र, दैत्य, प्रमथन, शुचिबाहु, महाबाहु, निष्कलि, विरुच, सार्चिमाली, धृतिमाली, वृत्तिमान्, रुचिर, पित्र्य, सौमनस, विधूत, मकर, करवीर, रति, धन, धान्य, कामरूप, कामरुचि, मोह, आवरण, जृंभक, सर्पनाथ, पंथान, वरुण, इतने संहारास्त्र हैं। इनके प्रयोग से पूर्वोक्त चलाए हुए अस्त्र बटोर (खैंच) लिए जाते हैं, अर्थात् अपने वश में कर लिए जाते हैं।

* वा० रामा० ।

ये सब अस्त्र कृशाश्व [भृशाश्व] प्रजापति से उत्पन्न हुए हैं। भगवान् शिवजी के अधीन ये सब रहते हैं। संसार में उन्हीं के अनुग्रह से लोगों को ये प्राप्त हुए हैं। इन अस्त्रों को गुरु से पाकर इन्हें सिद्ध करना चाहिए। अस्त्रों की प्राप्ति हो जाने पर मन वचन कर्म से जितेंद्रिय होकर सर्वदा सदाचार से रहना उचित है। अन्यथा ये अस्त्र अपात्र, असमर्थ, कुत्सित, दुराचारी मनुष्य को दग्ध कर देते हैं। इन अस्त्रों का यथार्थ ज्ञान रखनेवाला, विश्वविजयी धनुर्धर होता है। साधारण कामों में इन अस्त्रों का प्रयोग कदापि न करना चाहिए। जो मनुष्य इन अस्त्रों का प्रयोग नहीं जानता उसके ऊपर भी इनका प्रयोग न करना चाहिए। अन्यथा ये अस्त्र निर्वीर्य (बेकाम) हो जाते हैं, अथवा प्रयोग करनेवाले को ही नष्ट कर देते हैं। प्राण-संकट उपस्थित होने पर अवश्य इनका प्रयोग करना उचित है। इन* अस्त्रों में आग्नेयास्त्र के निवारण के लिये वारुणास्त्र या पार्जन्यास्त्र का प्रयोग करे अथवा वारुणास्त्र का प्रयोग करे। पार्जन्यास्त्र और वारुणास्त्र के निवारण के लिये वायव्यास्त्र का प्रयोग करे। वायव्यास्त्र के वारण के लिये सर्पास्त्र का प्रयोग करे। सर्पास्त्र के निवारण के लिये गारुड़ास्त्र का प्रयोग करे और गारुड़ास्त्र के वारण के लिये पर्वतास्त्र का प्रयोग करे।

पर्वतास्त्र के वारण के लिये वज्रास्त्र अथवा ऐंद्रास्त्र का प्रयोग करे। तामसास्त्र के वारण के लिये सौरास्त्र का प्रयोग करे। वर्षणास्त्र के वारण के लिये शोषणास्त्र का प्रयोग करे। पैशाचास्त्र के वारण के लिये घोरास्त्र का प्रयोग करे। गंधर्वास्त्र के वारण के लिये दूसरे गंधर्वास्त्र का प्रयोग करे। मोहनास्त्र के वारण के लिये दूसरे मोहनास्त्र का प्रयोग करे। संतापनास्त्र के वारण के लिये मोदनास्त्र का प्रयोग करे। घोरास्त्र के वारण के लिये सौम्यास्त्र का प्रयोग करे। सौरास्त्र के वारण के लिये सोमास्त्र का प्रयोग करे। मायामयास्त्र के वारण के

* नाना ग्रंथों से।

लिये सत्यास्त्र का प्रयोग करे। शुष्काशनि अस्त्र के वारण के लिये आर्द्राशनि अस्त्र का प्रयोग करे। धर्म-पाशास्त्र के रोकने के लिये धर्मचक्रास्त्र का प्रयोग करे। कालपाशास्त्र के रोकने के लिये कालचक्रास्त्र का प्रयोग करे। शक्ति अस्त्र के वारण के लिये दूसरे शक्ति अस्त्र का प्रयोग करे। कंकालास्त्र के वारण के लिये कापालास्त्र का प्रयोग करे। मौसलास्त्र के वारण के लिये मुसलास्त्र का प्रयोग करे। प्रस्वापनास्त्र के वारण के लिये प्रशमनास्त्र का प्रयोग करे। पिनाकास्त्र के वारण के लिये शैवास्त्र का प्रयोग करे। नारायणास्त्र के वारण के लिये पाशुपतास्त्र का प्रयोग करे। ब्रह्मास्त्र के वारण के लिये ब्रह्मास्त्र का ही प्रयोग करे, अन्य का नहीं। इसी प्रकार अन्य अस्त्रों के वारण के लिये उनके समान बलवाले विरोधी अस्त्रों का प्रयोग करना चाहिए या उन्हीं अस्त्रों का प्रयोग करना चाहिए।

अस्त्रसिद्धि की प्रयोगविधि *

ब्रह्मास्त्र की सिद्धि के लिये दकार से दकार तक [अर्थात् ॐ देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदे ॐ] [इस प्रकार से] गायत्री मंत्र को विपरीत बनाकर दस खर्ब जपे। तदनंतर इसी मंत्र से बाण को अभिमंत्रित करके शत्रु के ऊपर चलाने से संपूर्ण देव, दैत्य, राक्षस, गंधर्व, किन्नर, मनुष्य आदि, बाल, वृद्ध, युवा, गर्भस्थ सब क्षण मात्र में भस्म हो जाते हैं। इसकी संहार-सिद्धि के लिये भी इसी मंत्र का इतना ही जप करना चाहिए। यह अस्त्र सब अस्त्रों में श्रेष्ठ है। इसके समान दूसरा अस्त्र संसार में नहीं है। ब्रह्मदंडास्त्र की सिद्धि के लिये [ॐ प्रचोदयात् नो यो धियः धीमहि देवस्य भर्गो वरेण्यं सवितुः तत् अमुक शत्रुं हन हन हुं फट्] इस मंत्र का दो करोड़ जप करे। अनंतर इसी मंत्र से बाण को अभिमंत्रित करके वैरी के ऊपर चलाने से यमतुल्य भयंकर वैरी भी नष्ट हो जाते हैं। इसकी संहार-सिद्धि के लिये भी इसी मंत्र का इतना ही जप करना चाहिए।

---

* धनुर्वेद सं०।

ब्रह्मशिर् अस्त्र की सिद्धि के लिये [ॐ धियो यो नः प्रचोदयात् भर्गो देवस्य धीमहि तत्सवितुर्वरेण्यं शत्रून्मे हन हन हुं फट्] इस मंत्र का तीन कोटि जप करे। बाद इस मंत्र से बाण को अभिमंत्रित करके शत्रु के ऊपर प्रयोग करने से संपूर्ण देव दैत्य आदि शत्रु भी नष्ठ हो जाते हैं। इसकी संहार-सिद्धि के लिये इसी मंत्र को उलटा करके जपे। जप की संख्या उतनी ही है। पाशुपत अस्त्र की सिद्धि के लिये [ॐ देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदे ॐ श्लीं पशुं हुं फट् अमुकं शत्रुं हन हन हुं फट्] इस मंत्र का दो करोड़ जप करे। बाद इस मंत्र से बाण को अभिमंत्रित करके शत्रु पर चलाने से संपूर्ण शत्रु और उनके चलाए अस्त्र शस्त्रों का नाश हो जाता है। इसकी संहारसिद्धि के लिये इसी मंत्र को उलटा करके उतना ही जप करे। नारायणास्त्र की सिद्धि के लिये [ॐ भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् तत्सवितुर्वरेण्यं ॐ क्लीं नारायण मे शत्रुं हन हन हुं फट्] इस मंत्र का दो करोड़ जप करे। बाद इसी मंत्र से बाण को अभिमंत्रित करके वैरी के ऊपर चलाने से संपूर्ण देव दैत्य आदि शत्रु नष्ट हो जाते हैं। इसकी संहार-सिद्धि के लिये इस मंत्र को उलटकर उतना ही जप करे। वायव्यास्त्र की सिद्धि के लिये [ॐ वायव्यया वायव्ययान्योर्वाययावा अमुकं मे शत्रुं हन हन हुं फट्] इस मंत्र से संपुटित करके गायत्री मंत्र का दो करोड़ जप करे। बाद इस मंत्र से बाण को अभिमंत्रित करके चलाने से देवता भी हट जाते हैं। इसकी संहार-सिद्धि के लिये भी इसी मंत्र का उतना ही जप करे। आग्नेयास्त्र की सिद्धि के लिये [ॐ अग्नि-स्त्यता हृदुभूं शिवं वनाशिवविणिहृगादश रूपनः सदवहादति तोयति राममसो हित्वा वानसु सेद वेदयाऽमुकं शत्रुं मे हन हन हुं फट्] इस मंत्र को गायत्री के अंत में लगाकर एक करोड़ जप करे। बाद इस मंत्र से बाण को अभिमंत्रित करके वैरी पर चलाने से वैरी भस्म हो जाते हैं। इसी मंत्र को आदि में लगाकर गायत्री का इतना ही जप करने से इसकी संहार-सिद्धि होती है। नरसिंहास्त्र की सिद्धि

के लिये [ॐ वज्रनखवज्रदंष्ट्रायुधाय महासिंहाय हुं फट्.] इस मंत्र से संपुटित करके गायत्री का एक करोड़ जप करे। बाद इस मंत्र से अभिमंत्रित करके बाण को चलाने से सहस्रों बाण सिंहरूप से प्रगट होकर वैरियों को नष्ट कर देते हैं। इसकी संहार-सिद्धि के लिये भी इसी मंत्र का उतना ही जप करे।

इसी प्रकार अन्य अस्त्रों की सिद्धि के लिये गायत्री मंत्र का जप करना चाहिए। इन अस्त्रों के चलाने के समय पहले हाथ पैर धोकर आचमन, प्राणायाम तथा शिवजी का ध्यान अवश्य करना चाहिए। परंतु ये अस्त्र कलियुग में सिद्ध नहीं होते। इससे आज-कल इनकी सिद्धि के लिये प्रयत्न करना सर्वथा वृथा है।

तूणीर [तर्कस] *

तूणीर तर्कस का नाम है। इसमें बाण रक्खे जाते हैं। यह चमड़े का बनता है। एक हाथ से कुछ अधिक लंबा होता है। एक तर्कस में कम से कम दो सौ बाण रहते हैं। धनुर्धर बाणों से भरे हुए दो तर्कसों को दोनों तरफ पीठ में बाँधता है।

चक्र*

चक्र नामक आयुध रथ के पहिये के समान होता है। यह लोहे का बनता है। इसके मध्य में लोहे की नाभि बनी रहती है। नाभि के बीच में छिद्र रहता है। इसी में अँगुली डालकर घुमा के यह चलाया जाता है। नाभि में चारों ओर १६ या ८ या ६ लोहे के अरे लगे रहते हैं। अरे के चारों ओर लोहे की नेमि (प्रधि) लगी रहती है। यह नेमि बहुत ही चोखी धारदार होती है। जितने जोर से घुमाकर यह चलाया जाय उतने ही वैरियों के मारने में अधिक सफलता होती है।

यह विष्णु भगवान् का मुख्य आयुध है। विष्णु के चक्र का नाम सुदर्शन है।† छेदन, भेदन, पात, भ्रमण, शमन (शयन), विकर्त्तन, कर्त्तन, ये सात चक्रकर्म हैं।

---

* अनेक ग्रंथों से।

† अग्नि पु० तथा धनुर्विद्या।

कुंत (भाला) *

कुंत [भाला या बरछा] काठ का बनता है। इसके अग्र भाग में खूब चोखा नोकीला सानदार डेढ़ बित्ते का लंबा लोहे का फल लगा रहता है। भाला कम से कम आठ हाथ लंबा होता है।

त्रिशूल *

त्रिशूल लोहे का बनता है। इसके अग्र भाग में तीन फल बने रहते हैं। तीनों खूब चोखे सानदार होते हैं। बीच का फल सीधा नोकीला होता है। इधर उधर के फल टेढ़े टेढ़े होते हैं। यह भाले से भी अधिक लंबा होता है। त्रिशूल भगवान् शिवजी का मुख्य आयुध है।

शक्ति [साँग] *

शक्ति का आकार ठीक भाले के समान होता है। यह लोहे की बनती है। यह त्रिधारा [तीन धार की] होती है। इसमें घंटियाँ लगी रहती हैं। यह वजन में बहुत भारी होती है। शक्ति कार्त्तिकेयजी का मुख्य आयुध है। आस्फोट, क्ष्वेडन, भेद, त्रास, आंदोलितक, आघात, ये ६ कुंत और त्रिशूल तथा शक्ति के कर्म हैं। छोटी शक्ति को संगीन कहते हैं। आज काल यह बंदूक के आगे लगाई जाती है।

खड्ग (तलवार) †

खड्ग छ अंगुल का चौड़ा और सात हाथ का लंबा होता है। यह खड्ग का प्रमाण प्राचीन काल के अनुसार है। इस समय यह दो ढाई हाथ का लंबा होता है। इसमें मुठिया लगी रहती है। यह बाँई ओर कमर में लटकाया जाता है। यह कोश (म्यान) में रहता है। युद्ध में बाँए हाथ से म्यान को और दहिने हाथ से मुठिया को पकड़ इसे म्यान से बाहर निकालना चाहिए। यह भी दुर्गा भगवती का मुख्य आयुध है। भ्रांत, उद्भ्रांत, आविद्ध,

---

* अग्नि पु० तथा धनुर्विद्या।

† अ० पु०।

आप्लुत, विप्लुत, सृत, संपात, समुद्दीश, श्येनपात, आकुल, उद्धूत, अवधूत, सव्य, दक्षिण, अनालक्षित, विस्फोट, करालेंद्र, महासख, विकराल, निपात, विभीषण, भयानक, समग्र, अर्ध, तृतीयांश, पाद, पादार्ध, वारिज, प्रत्यालीढ़, आलीढ़, वराह, लुलित, ये बत्तीस प्रकार के पैंतरे खड्ग युद्ध में होते हैं।

खड्ग से बढ़कर किसी शस्त्र की भी महिमा नहीं है, खड्ग सब शस्त्रों का सम्राट् है।

कृपाण (कटार या खुखुड़ा)*

आधे खड्ग को कृपाण कहते हैं। हरण, छेदन, घात, बलोद्धारण, आयत, पातन, स्फोटन, ये सात खड्ग और कृपाण के कर्म हैं।

छुरिका (छूरा)*

आधे कृपाण को छुरिका कहते हैं। कृपाण के जो कर्म हैं वे ही इसके भी हैं।

चर्म*

चर्म ढाल का नाम है। यह कछुवे की पीठ का, गैंडे के पुट्ठों का, लोहे का, पीतल का या काठ का बनता है। बांयें हाथ से इसको धारण किया जाता है। खड्गयुद्ध में आत्मरक्षा के लिये इसकी बड़ी आवश्यकता होती है। यह खड्ग-प्रहार को रोकने के लिये होता है। और शस्त्रों के प्रहार को भी यह रोक सकता है। खड्गयुद्ध का यह एक मुख्य अंग है। इसका बनानेवाला शिल्पी हिंदू धर्मशास्त्र के अनुसार सीधा स्वर्ग पहुँच जाता है।

गदा †

गदा लोहे की बनती है। लोहे का ही इसमें सात हाथ का लंबा दंडा लगा रहता है। आहत, गोमूत्र, प्रभूत, कमलासन, अर्द्धगात्र, नमित, वाम दक्षिण, आवृत्त, परावृत्त, पादोद्धूत, अव-

* अ० पु०।
† अनेक ग्रंथ।

प्लुत, समर्द, विमर्द, गदा युद्ध के पैंतरे होते हैं। आगमवर्दंस, वराहोद्धूतक, हस्तावहस्त, आलीन, एकहस्त, अवहस्त, द्विहस्त, बाहुपाश, कटिरेचितक, उद्गत, उरोघात, ललाटघात, भुजाविधमन, करोद्धूत, विमान, पादाहति, विपादिक, गात्र संश्लेषण, शांत, गात्र-विपर्यय, ऊर्ध्वप्रहार, घात, पारक, तारक, दंड, करवीरंध, आकुल, तिर्यग्वंध, अपामार्ग, भीमवेग, सुदर्शन, सिंहाक्रांत, गजाक्रांत, गर्दभाक्रांत, ये चौंतीस गदा युद्ध के भेद हैं।

यह कुबेर देवता का मुख्य आयुध है।

पाश (फाँसी) *

पाश फाँसी का नाम है। जो पाश जीवित सर्प का (बना) होता है उसका नाम नाग-पाश है।

साधारण पाश धनुष की डोरी या कपास या मूँज अथवा ताँत या मदार की छाल का बनता है। हर वक़्त इसे कमर में लपेटकर रखना चाहिए। यह कम से कम दश हाथ का लंबा होता है। इसका अग्र भाग हाथ के पंजे के समान बनाया जाता है। युद्ध में इसके पिछले भाग को बाँएँ हाथ से पकड़कर तथा अग्र भाग को दहिने हाथ में लेकर कुंडलाकार घुमाकर शत्रु की गर्दन पर फेकने से यह गर्दन में लपट जाता है।'

परावृत्त, अपावृत्त, गृहीत, लघु, ऊर्ध्वक्षिप्त, अधःक्षिप्त, संधारित, विधारित, श्येनपात, गजपात, ग्राहग्राह्य, ये ग्यारह पाश के प्रकार हैं। पाश वरुण देवता का मुख्य आयुध है।

तोमर *

तोमर एक प्रकार का आयुध होता है। यह लोहे का बनता है। दृष्टिघात, भुजाघात, पार्श्वघात, ऋजु पक्षेषुपात, ये तोमर युद्ध के भेद हैं।

परशु *

परशु गड़ाँसे का नाम है। यह लोहे का बनता है। इसमें बड़ा

* अ० पु०।

लंबा मजबूत लकड़ी का डंडा लगा रहता है। कराल, अवघात, दंशोपप्लुत, क्षिप्तहस्त, स्थित, शून्य, ये परशु युद्ध के भेद हैं।

मुद्गर *

मुद्गर प्रसिद्ध है। प्राचीन समय में यह युद्ध में काम देता था। आज कल यह केवल कसरत करने के लिये होता है। ताड़न, छेदन, चूर्णन, प्लवन, घातन, ये मुद्गर युद्ध के भेद हैं।

परिघ *

प्ररिघ बेवँड़े का नाम है। पूर्व काल में इससे युद्ध किया जाता था। आज कल हिंदुस्तानी मकानों के सदर फाटक को बंद करने के लिये बनता है। यह लोहे का अथवा काठ का बनता है। दोनों हाथ से पकड़कर चलाया जाता है। मुद्गर युद्ध के जो भेद हैं वे ही इसके भी हैं।

भिंदिपाल *

भिंदिपाल भी एक प्रकार का आयुध होता है। यह खड्ग के समान होता है। इसका फल बहुत लंबा चौड़ा होता है। यह बड़ा वजमदार होता है।

संभ्रांत, विभ्रांत, गोविसर्ग, सुदुर्धर, ये चार भिंदिपालयुद्ध के भेद होते हैं।

दंड [लाठी] *

दंड लाठी का नाम है। यह लोहे का अथवा मजबूत बाँस का बनता है। भिंदिपाल युद्ध के जो भेद हैं वे ही इसके भी हैं। यह यमराज का मुख्य आयुध है।

वज्र *

वज्र भी एक प्रकार का आयुध है। यह लोहे का बनता है। अंत्य, मध्य, परावृत्त, निदेशांत, ये वज्रयुद्ध के भेद हैं। यह इंद्र देवता का मुख्य आयुध है।

* अ० पु०।

पट्टिश *

पट्टिश पटा या किरिच का नाम है। इसका आकार तलवार के समान होता है। इसका फल सीधा तथा पतला और लंबा होता है। फल में दोनों ओर धार होती है। जो वज्रयुद्ध के प्रकार हैं वे ही इसके भी हैं।

क्षेपणी (गोफना) *

क्षेपणी सूत्र की बनती है। इसका आकार छीके के समान होता है। इसमें पत्थर रखकर फेंका जाता है। भ्रामन, रक्षण, घात, बलोद्धरण, आयत, ये क्षेपणीयुद्ध के भेद हैं।

यंत्र *

यंत्र भी एक तरह का आयुध होता है। क्षेपणी के आकार के समान इसका आकार होता है। क्षेपणी युद्ध के जो भेद हैं वे ही इसके भी हैं।

नलिका †

नलिका बंदूक का नाम है। यह नालीक के चलाने में काम देती है।

बृहन्नलिका †

बृहन्नलिका तोप का नाम है। इसके द्वारा बृहन्नालीक (गोला) चलाया जाता है। अपने किले की रक्षा के लिये और वैरी के किले को तोड़ने के लिये इसकी बड़ी आवश्यकता होती है।

शतघ्नी ‡

शतघ्नी लोहे की बनती है। यह चार ताड़ की लंबी होती है। इसमें लोहे के काँटे लगे रहते हैं। इसका आकार लाठी के समान होता है। इसके द्वारा एक बार में सौ मनुष्य मारे जाते हैं।

---

* अ० पु०।

† धनुर्वेदसंहिता।

‡ अनेक ग्रंथ।

भुसुंडी *

भुसुंडी भी एक प्रकार का आयुध होता है। इसका आकार शतघ्नी के समान होता है। पैदल सिपाही इसके द्वारा युद्ध करते हैं।

और भी अनेक प्रकार के आयुध होते हैं। जैसे कि प्रास, ऋष्टि, मुसल इत्यादि। इन आयुधों से भी प्राचीन काल में युद्ध होता था।

नियुद्ध (बाहुयुद्ध)*

नियुद्ध [बाहुयुद्ध] कुश्ती और मुक्की आदि बिना आयुध के युद्ध का नाम है। आकर्षण, विकर्षण, बाहुमूल, ग्रीवा विपरिवर्त्त, पृष्ठभंग, सुदारुण, पर्यासन, विपर्यास, पशुमार, अजाविक, पादप्रहार, आस्फोट, कटिरेचितक, गात्राश्लेष, स्कंधगत, महीव्याजन, उरोललाटघात, विस्पष्टकरण, उद्धूत, अवधूत, तिर्यङ्मार्गगत, गजस्कंध, अवक्षेप, अपराङ्मुख, देवमार्ग, अधोमार्ग, अमार्ग, अनाकुल, यष्टिघात, अवक्षेप, वसुधादारण, जानुबंध, भुजाबंध, गात्रबंध, विपृष्ठ, सोदक, शुभ्र, भुजावेष्टितक, ये अड़तीस बाहुयुद्ध के भेद होते हैं।

शंख†

शंख भी युद्ध का एक अंग है। धनुर्धर को अपने पास एक शंख रखना चाहिए। शंख युद्ध के आरंभ में और वैरी को जीत लेने पर या अन्य समय में [जब मौका हो] बजाया जाता है।

कवच †

कवच लोहे का बनता है। इसको पहिर कर योधा लड़ते हैं। इसको पहिरने से शरीर में शस्त्र की चोट नहीं लगती।

शिरस्त्राण †

शिरस्त्राण लोहे के टोप का नाम है। योधा इसे सिर पर पहिरते हैं।

---

* अनेक ग्रंथ।

† अ० पु०।

तलवारण *

तलवारण हाथ में पहिरा जाता है। इसके पहिरने से हाथ में धनुष की डोरी का आघात नहीं लगता। यह प्रायः चमड़े का बनता है।

अंगुलित्र *

अंगुलित्र दस्ताने के समान होता है। इसके पहिरने से अँगुलियाँ सुरक्षित रहती हैं। यह चमड़े का या जालीदार लोहे का बनता है।

शस्त्र-वारण*

हस्तार्क [रविवार को हस्त नक्षत्र होने पर] योग में लांगली [जलपीपल] के कंद का शरीर में लेप करने से साधारण पुरुष भी युद्ध में बड़े बड़े वीरों के गर्व को चूर कर देता है। पुष्यार्क [रवि-वार को पुष्य नक्षत्र होने पर] योग में अपामार्ग [चिँचड़े] की जड़ का शरीर में लेप करने से साधारण पुरुष भी बड़े बड़े वीरों के साथ युद्ध कर सकता है। उसके शरीर में किसी शस्त्र की भी चोट नहीं लगती। रविवार को अधःपुष्पी [औंधाहूली], शंखपुष्पी, [शंखाहूली], लज्जालु [लजाधुर], गिरिकर्णिका [वनमोगरा], कमलिनी, सहदेई, पुत्रमार्जारी [मूँज], विष्णुक्रांता [कौवाठोंठी], इन सब की जड़ लेकर शरीर में लेप करने से या दहिने हाथ में बाँधने से कोई भी शस्त्र शरीर में नहीं लगता तथा सर्प, बाघ आदि हिंसक जीवों का और भूत प्रेत आदि का भय नहीं होता। अष्ट मातृका देवी उसकी रक्षा करती हैं। हस्तनक्षत्र में छुछुं-दरी [केवाँच] को लाकर उसका चूर्ण पास में रखने से हाथी सामने नहीं आता। सिंह का मांस मार्ग में रख देने से कोड़ा मारने पर भी घोड़ा उस मार्ग में नहीं आता। छुछुंदरी और श्रीफल का चूर्ण शरीर में लेप करनेवाले मनुष्य की गंध को सूँघकर मस्त हाथी मदरहित हो जाता है। सफेद वनमोगरा की जड़ हाथ में रखने से हाथी पास नहीं आता। सफेद भटकटैया की जड़

* अनेक ग्रंथ।

हाथ में रखने से बाघ का भय नहीं होता। पुष्यार्क योग में पाढ़र की जड़ उखाड़कर मुख में रखने से तीखी तलवार भी शरीर में नहीं लगती। पुष्यार्क योग में विधिपूर्वक गांधारी की जड़ को लाकर मुख में रखने से कोई भी शस्त्र शरीर में नहीं लगता। पुष्यार्क योग में सफेद या नीली शरफों की जड़ को लाकर हाथ में या शिर में बाँधने से अथवा मुख में रखने से कोई भी शस्त्र शरीर में नहीं लगता, तथा राजा, चोर, साँप इत्यादि का भय नहीं होता।

युद्धयात्रा-विधि *

जिस दिन युद्ध हो उसके सात दिन पहले योद्धा स्नान करके शुद्ध श्वेतवस्त्र पहिरकर मंगलगानपूर्वक विष्णु, शिव, गणेश, आदि देवताओं का पूजन करे। गणेशजी को लड्डू का भोग लगावे। दूसरे दिन दिक्पालों का पूजन करके शयन करे। सोने के पहले देवपूजन करके शिव-मंत्र का जप करे।

शिव-मंत्र

नमः शंम्भो त्रिनेत्राय रुद्राय वरदाय च।
वामनाय विरूपाय स्वप्राधिपतये नमः॥ १॥
भगवन्देव देवेश शूलभृद्वृषवाहन।
इष्टानिष्टे समाचक्ष्व स्वप्ने सुप्तस्य शाश्वत॥ २॥

तीसरे दिन फिर दिक्पालों का पूजन करके एकादश रुद्रों का पूजन करे। चौथे दिन नवग्रहों का पूजन करे। पाँचवें दिन अश्विनी-कुमार का पूजन करे। मार्ग में जो देवता हों उनका पूजन करे। स्वर्ग, आकाश, पृथ्वी के देवताओं का पूजन करे तथा उनको बलि दे। रात में भूतों का पूजन करे। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, भद्रकाली, श्री, का पूजन करके सब देवताओं से प्रार्थना करें। छठे दिन विजयस्नान अभिषेक के साथ करे। हाथी घोड़ा आदि वाहनों को स्नान कराके नृसिंहजी का पूजन करे। पुरोहित से होम कराकर अग्नि देवता का दर्शन करे। सातवें दिन देवता

* अ० पु० तथा ध० वे० सं०।

तथा ब्राह्मणों का पूजन करे। तदनंतर क्षेत्रपाल के नाम से दशों दिशाओं में बलि दे। फिर शस्त्रों का पूजन करे। तब सर्प मुद्रा करके भगवान् रुद्र का ध्यान [ॐ नमः परमात्मने सर्वशक्तिमते विरूपाक्षाय भालनेत्राय रं हुँ फट् स्वाहा] इस मंत्र को पढ़ता हुआ करे। [ॐ ह्रीं श्रीं हैमवति ईश्वरि ह्रीं स्वाहा] इस मंत्र को पढ़कर श्री पार्वतीजी को प्रणाम करे। [ॐ ह्रीं वज्रयोगिन्यै स्वाहा] इस मंत्र से सिंहवाहिनी रुद्राणी भगवती का ध्यान करे। इसके बाद रक्षा-मंत्र का पाठ करे।

रक्षामंत्र

ॐशूलेन पाहि नो देवि पाहि खड्गेन चाम्बिके।
घण्टास्वनेन नः पाहि चापज्यानिःस्वनेन च ॥ १ ॥
प्राच्यां रक्ष प्रतीच्यां च चंडिके रक्ष दक्षिणे।
भ्रामणेनात्मशूलस्य उत्तरस्यां तथेश्वरि ॥ २ ॥
सौम्यानि यानि रूपाणि त्रैलोक्ये विचरन्ति ते।
यानि चात्यर्थघोराणि तैरक्षास्माँस्तथा भुवम् ॥ ३ ॥
खड्गशूलगदादीनि यानि चास्त्राणि तेऽम्बिके।
करपल्लवसंगीनि तैरस्मान् रक्ष सर्वतः ॥ ४ ॥

योद्धा, दिव्य औषधियों का अपने शरीर में लेप करके इन पूर्वोक्त मंत्रों से रक्षाबंधन करे। तदनंतर कुछ भोजन और जलपान कर कवच को पहिरे। यात्रा के पूर्व सेनापति, हाथी सवार, घोड़ सवार, रथी, पदाति (पैदल), मुख्य मुख्य योद्धाओं को धन वस्त्र भूषण आदि देकर संतुष्ट करे। प्रथम सारथी को रथ पर सवार होना चाहिए। फिर रथी रथ पर सवार हो। रथ में चार घोड़े जुते हों जो कि अच्छी जाति के हों, थके न हों, प्रसन्नचित्त हों, अच्छे लक्षणों से युक्त हों, भूषणों से भूषित हों। रथ में कम से कम चार मनुष फालतू रख लेना चाहिए। खड्ग, ढाल, गदा, शक्ति, त्रिशूल, परिघ, तोमर, मुद्गर, परशु, कुंत, नाराच, पट्टिश आदि आयुधों को रथ में रखना चाहिए। दोनों तर्कसों में चार सौ

बाण भर लेना चाहिए। जिसके पास रथ या हाथी न हो उसे घोड़े पर सवार होना उचित है। घोड़सवार को अपनी कमर में एक ही तर्कस बाँधना चाहिए। खड्ग, शक्ति और धनुष को पास रखना चाहिए। अनंतर भगवान् नारायण का स्मरण कर अर्जुन के नाम को जपना चाहिए।

नारायण के स्मरण करने का मंत्र

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराजयः।
येषामिंदीवरश्यामो हृदयस्थो जनार्दनः॥ १॥

अर्जुन के नाम

अर्जुनः फाल्गुनः पार्थः किरीटी श्वेतवाहनः।
वीभत्सुर्विजयः कृष्णः सव्यसाची धनंजयः॥ १॥

अनंतर शुभ मुहूर्त्त में चंद्रबल और योगिनी की अनुकूलता का विचार कर शुभ स्वर चलने पर ब्राह्मण की आज्ञा लेकर चतुरंगिणी सेना के साथ युद्धयात्रा करनी चाहिए।

सेना के चार अंग

रथी (रथ पर सवार), हाथी (हाथी पर सवार), घोड़सवार, पैदल सिपाही ये सेना के चार अंग हैं।

अक्षौहिणी*

एक रथ,	एक हाथी,	तीन घोड़े,	पाँच पैदल
[सवार],	[सवार]	[सवार]	

इतने सिपाहियों की एक पत्ति होती है। तीन पत्ति का एक सेनामुख होता है। तीन सेना-मुख का एक गुल्म होता है। तीन गुल्म की एक वाहिनी होती है। तीन वाहिनी की एक पृतना होती है। तीन पृतना की एक चमू होती है। तीन चमू की एक अनीकिनी होती है। दश अनीकिनी की एक अक्षौहिणी होती है अर्थात् एक अक्षौहिणी में इक्कीस हजार आठ सौ सत्तर रथ [रथी] होते हैं और इतने ही हाथी [हाथीसवार] होते हैं तथा

* महाभारत।

सठ हजार छ सौ दस घोड़े [घोड़सवार] होते हैं और एक लाख नव हजार तीन सौ पचास पैदल सिपाही होते हैं। तेरह करोड़ इक्कीस लाख चौबीस हजार नव सौ महा अक्षौहिणी की संख्या होती है। महाअक्षौहिणी में एक करोड़ सैंतीस लाख बारह हजार चार सौ रथ [रथी] रहते हैं और इतने ही हाथी [हाथी सवार], चार करोड़ ग्यारह लाख सैंतीस हजार चार सौ सत्तर घोड़े [घोड़-सवार] और छ करोड़ पचासी लाख बासठ हजार चार सौ पचास पैदल सिपाही रहते हैं।

किसी किसी के मत से* दस हजार हाथी [हाथी सवार], तीस हजार रथ [रथी], एक लाख योद्धा [पहलवान], दस लाख घोड़े [घोड़ सवार], छत्तीस करोड़ अथवा चालीस करोड़ पैदल एक अक्षौहिणी में रहते हैं। तथा दश अक्षौहिणी की एक महा अक्षौहिणी होती है।

व्यूह-विधि†

साधारण व्यूहरचना में आगे रथों को, उनके पीछे हाथियों को, उनके पीछे पैदल सिपाहियों को और दोनों तरफ [अगल बगल में] घोड़ों को रखना चाहिए। आरंभ व्यूह, दंडव्यूह, शकट व्यूह, वराह व्यूह, मकर व्यूह, सूचीमुख व्यूह, गरुड़ व्यूह, पद्म व्यूह, चक्र व्यूह, अर्ध-चंद्र व्यूह, श्रेणी व्यूह, गुल्म व्यूह, पिपीलिकाव्यूह, दिग्व्यूह, चतुष्पथ व्यूह, गोमूत्रिका व्यूह, मंडल व्यूह, सर्वतोभद्र व्यूह, श्येन व्यूह, मयूर व्यूह, सेनाशयन व्यूह, इत्यादि अनेक प्रकार के व्यूह होते हैं। युद्ध के आरंभ में आरंभ व्यूह की रचना होती है। सब ओर से वैरी का भय होने पर दंड व्यूह की रचना होती है। पीछे से शत्रु का भय होने पर शकट व्यूह की रचना होती है। दहिनी ओर से या बाईं ओर से अथवा दोनों ओर से वैरी का भय होने पर वराह व्यूह अथवा गरुड़ व्यूह की रचना होती है। आगे से वैरी का भय होने पर पिपीलिका व्यूह की रचना होती है। राजा

---

* स्फु०।

† शा० ध० प० तथा ध० वे० सं० तथा अ० पु०।

अथवा सेनापति या और किसी प्रधान पुरुष की रक्षा के लिये चक्र व्यूह या पद्म व्यूह अथवा सर्वतोभद्र व्यूह की रचना होती है। रात्रि को सेना के शयन करने के लिये सेनाशयन व्यूह की रचना होती है। यदि वैरी की सेना अधिक हो और अपनी सेना कम हो तो सूचीमुख व्यूह की रचना होती है। सब व्यूहों में सेना के पाँच भाग होते हैं। उनमें दो भाग वैरी की सेना के सामने रहते हैं, दो भाग दोनों ओर पीछे रहकर अपनी सेना की रक्षा करते हैं और पाँचवाँ भाग अलग बचा रहकर निरीक्षण करता हुआ समय पर सहायता देता है। सेना का एक भाग या दो भाग वैरी का सामना करे। बाकी बचा रहकर समय समय पर सहायता दे—यही परमोत्तम नीति तत्त्व है। राजा या प्रधान सेनापति सहसा स्वयं युद्ध नहीं करता, किंतु सेना के पीछे एक कोस पर रहता है। राजा या प्रधान सेनापति को बहुत सुरक्षित सचेत रहना पड़ता है। उसके मर जाने या कैद हो जाने पर सेना बेकाम हो जाती है, भाग जाती है। इसलिये राजा या प्रधान सेनापति की रक्षा आवश्यक होती है। सेनापति को वीर, धीर, गंभीर, विद्वान्, न्यायनिष्ठ, महाबल, परमोत्साह-वान्, साहसी, क्षमाशील, दृढ़प्रतिज्ञ और मृदुभाषी होना चाहिए। राजा या प्रधान सेनापति भागती हुई सेना को रोकता है, सेना के उत्साह को बढ़ाने का प्रयत्न करता है, संपूर्ण सैनिकों को सम-दृष्टि से देखता है, सैनिकों के परिश्रमानुसार उनको अधिकार देता है और व्यूह रचना में अत्यंत निपुण होता है। बहुत अधिक या बहुत कम योद्धाओं का व्यूह नहीं बनाता। व्यूह-रचना इस प्रकार की हो जिसमें योद्धाओं के आयुध परस्पर टक्कर न खावें। वैरी के व्यूह को भेदने के लिये योद्धा इकट्ठे होकर युद्ध करते हैं। व्यूह ऐसा बनाना चाहिए कि वैरी के व्यूह को तोड़ने में सुग-मता हो। शूर वीर उत्साही पुरुष व्यूह के आगे रहा करते हैं, भीरु पुरुषों को व्यूह के आगे कदापि न रखना चाहिए। भीरु पुरुष

व्यूह के आगे रहकर अपनी सेना का नाश करा देते हैं। शूर वीर पुरुष सेना के आगे रहकर भीरुओं का भी उत्साह बढ़ाते हैं पर भीरु पुरुष सेना के आगे रहकर शूरों के भी उत्साह को चौपट कर देते हैं। क्रोधी, कलहप्रिय पुरुषों को व्यूह में सबसे आगे रखना चाहिए। व्यूह में हर एक हाथी और रथ की रक्षा के लिये चार चार घोड़सवार रखे जाते हैं। रथियों के रथ के चारों घोड़े बराबर हुआ करते हैं। युद्ध में मरे हुए वीरों की लाश को युद्धभूमि से तुरंत हटा देना चाहिए। व्यूह टूटने न पावे—इस बात का विचार सेनापति या राजा को हर समय में करना पड़ता है। व्यूह में पैदल सिपाही आयुधों को लाया करते हैं, जिस रथी या हाथीसवार या घोड़सवारों के पास आयुध न हो उसे आयुध देकर समय पर सहायता करते हैं। वैरियों को मारना और अपने व्यूह की रक्षा करना तरवार-बहादुरों का काम होता है। वैरियों को युद्धभूमि से भगा देना धनुर्धरों का काम होता है। स्वयं दूर हट जाना, या दूर से धावा मारना, वैरियों को डरा देना इत्यादि रथियों का काम होता है। वैरियों के झुंड को तितर बितर कर देना, व्यूह को बिगाड़ देना, किले की दीवार या फाटक को तोड़ना, पेड़ों को उखाड़ना, पहाड़ पर चढ़ना, पानी में तैरना, नदी में पुल का काम देना, भागना, उठना, बैठना, अग्निचक्र से [लुकारी या मशाल या आतशबाजी वगैरह से] स्वयं न डरना तथा वैरियों को डरा देना इत्यादि हाथियों का काम होता है।

युद्ध में घोड़े की चाल *

मंडलाकार, चौकोर, गोमूत्रिकाकार, अर्धचंद्राकार, नागपाशाकार, यह पाँच प्रकार की युद्ध में घोड़े की चाल होती है। इन पाँचों प्रकार की चाल जाननेवाला घोड़ा युद्ध में अपनी और अपने सवार की रक्षा करता हुआ, बिना अटकाव के विजय लाभ करता है।

---

* ध० वे० सं० तथा शा० ध० प० तथा अ० पु०।

युद्धविधि

राजा युद्धभूमि में राजपुत्रों को तथा अपने अधीन राजाओं को तथा विश्वासी भृत्यों को रक्षा के लिये अपने पास रखता है। जिस कुल में जो प्रधान पुरुष हो उसकी रक्षा सर्वथा सर्वदा करनी चाहिए। क्षात्रतेज और बल से युक्त, शस्त्रास्त्र के प्रयोग में कुशल, अनुराग रखनेवाली थोड़ी सी सेना भी युद्ध में विजय पाती है। बहुत मुंडों के इकट्ठे होने से कुछ भी फल नहीं होता। पाँच सौ शूरवीर सैनिक एक बड़ी सेना का ध्वंस कर देते हैं। बहुत थोड़े से सैनिक उत्साह रखने पर युद्ध में अनायास विजय पाते हैं। वृद्ध सिपाही [जो कि लड़ने में असमर्थ होते हैं] संग्राम में राजा का जय जयकार करते हैं। परस्पर प्रेम रखते हुए धनुर्धर घोड़सवार धनुष से या कुंत से या खड्ग आदि आयुधों से लड़ते हैं। हाथी-सवार धनुषबाण से या भाले से या त्रिशूल से या चक्र आदि आयुधों से लड़ते हैं। रथी धनुष बाण या नाराच या शक्ति या त्रिशूल या कुंत आदि आयुधों से लड़ते हैं। पैदल सिपाही खड्ग या त्रिशूल या गदा या परिघ या भुसुंडी आदि आयुधों से युद्ध करते हैं। नीची ऊँची ऊबड़ खाबड़ जमीन में पैदल सिपाही युद्ध करते हैं। समतल भूमि में रथी और घोड़सवार लड़ते हैं। गीली या पंकिल [कीचड़वाली] भूमि में हाथीसवार लड़ते हैं। जल में हाथियों पर या तुंबियों पर या कुप्पों पर या नौका [जहाज] पर चढ़कर युद्ध किया जाता है। युद्ध में योद्धाओं के नाम, गोत्र, कुल को कहकर खूब प्रशंसा करनी चाहिए जिससे कि योद्धाओं का उत्साह बढ़े। दोनों हाथ उठाकर खूब जोर से पुकारकर कहना चाहिए कि वैरी भाग रहे हैं। मेरे मित्र की सेना आ रही है। वैरियों का राजा और सेनापति मारा गया इत्यादि। दुर्दिन हो तो वैरियों से ध्वंस के लिये कूट युद्ध करना चाहिए। वैरियों के मोह के लिये धूँआ देना चाहिए। मारू बाजों को खूब बजाना चाहिए। झंडे खूब फहराते रहें। थोड़ी सेना युद्ध करे। बाकी

सेना चारों ओर घूम घूमकर रक्षा करती रहे। यदि अपनी सेना कम हो तो पैदल सिपाही वृक्ष की ओट में होकर या वृक्षों पर चढ़-कर या और किसी प्रकार छिप कर युद्ध करें। दोनों सेनाओं के पर-स्पर पास हो जाने पर ढाल तलवार भाले आदि से लड़ाई होती है। वैरी के सिपाहियों को अपनी ओर मिला लेने या परस्पर लड़ा देने का उद्योग करना परमावश्यक होता है। यदि वे मिल जायँ तो उनका खूब आदर करे, कभी अपमान न करे। वैरी को जीत कर अपने वश में कर लेने के बाद पुत्र की भाँति उसकी रक्षा करनी चाहिए। फिर उससे लड़ना न चाहिए। युद्ध में विजयी होने के बाद देवता और ब्राह्मणों का पूजन करे। जो योद्धा युद्ध में मारा जाय उसके कुटुंब का सब दिन पालन पोषण करना चाहिए। युद्ध में लूटे हुए धन का हिस्सा योद्धाओं को बाँट देना चाहिए। सेना में कादर मनुष्यों की भर्ती नहीं करनी चाहिए। एक कादर युद्ध में पीठ दिखाकर सेना के भगाने का कारण हो जाता है। एक कादर भग्गू के पीछे बड़े बड़े वीर भी हिम्मत छोड़ कर भागने लगते हैं। इस प्रकार संपूर्ण सेना की हिम्मत छूट जाती है और वह पीठ दिखाने लगती है। फिर भागती हुई सेना का रोकना असंभव हो जाता है। जो मनुष्य भागी हुई सेना से लौट आकर फिर युद्ध के लिये उद्यत होता है उसे पद पद में अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता है। योगाभ्यास से प्राण छोड़नेवाला ब्राह्मण, तथा युद्ध में सम्मुख लड़कर मरनेवाला क्षत्रिय सूर्य-मंडल को भेदकर ब्रह्म-लोक में जाता है। वैरियों के बीच में घिरा हुआ वीर पुरुष जहाँ मारा जाता है वहाँ ही उसे अक्षय लोक की प्राप्ति होती है, यदि वह क्लीब शब्द [कादरपने की बात] मुख से न निकाले। नशे से बेहोश हुए, घबड़ाए हुए, सोते हुए, मूर्छित हुए, दूसरे से लड़ते हुए, भागते हुए, शरण में आए हुए, खाली हाथ वाले, मुक्तकच्छ [भय से काँछ खोल देनेवाले], असावधान, दीन वचन बोलनेवाले, बालक, अत्यंत वृद्ध, पागल, विरथ [जिस का रथ युद्ध में टूट गया हो],

वैरी को धर्मात्मा वीर पुरुष नहीं मारता। मारना चाहिए भी नहीं। ऐसे को मारने से इस लोक में अयश और परलोक में नरक मिलता है। भागे हुए भीरु वैरी को बलवान् पुरुष नहीं ढूँढ़ता, क्योंकि कदाचित् वह पुरुष भी प्राण का मोह छोड़कर वीर भाव को न धारण कर ले, और विजयी न हो जावे। सेना थोड़ी हो अथवा बहुत हो, सैनिक पुरुषों की प्रसन्नता ही विजय का चिह्न होती है। जिस सेना के पृष्ठ भाग में वायु है, सूर्य पीछे रहे, पक्षीगण पीछे कलरव [मधुर शब्द] करते हुए पीछे पीछे चलें, और मेघ ऊपर छाया करता रहे वह सेना अवश्य युद्ध में विजय पाती है। आयु के रहते कोई मरता नहीं। आयु के पूर्ण होने पर कोई एक क्षण भी जी नहीं सकता। इससे धैर्य धरकर युद्ध करना वीरों का परम कर्तव्य है। युद्ध में जीतने पर लक्ष्मी, यश, सुख मिलता है। मर जाने पर स्वर्ग मिलता है। इससे वीरों को युद्ध में उत्साह के साथ शत्रुओं का वध करना चाहिए। क्षत्रिय का घर में रोगी होकर मरना महा अधर्म है। युद्ध में सम्मुख प्राण छोड़ना ही परम धर्म है।

क्षत्रिय के लिये जप-तप तीर्थ आदि करने की वैसी आवश्यकता नहीं होती जैसी कि युद्ध में प्राण परित्याग करने की आवश्यकता होती है। क्षत्रिय धर्म-युद्ध में मरकर मुक्त हो जाता है। गो, ब्राह्मण, स्त्री, बालक और शरणागत की रक्षा के लिये क्षत्रिय का युद्ध में मरना मंगलमय मोक्ष-प्राप्ति का कारण होता है। बड़े ही पूर्व-जन्म के पुण्य से क्षत्रिय को यह मंगलमय अवसर मिलता है।

इस धनुर्वेद का उपदेश क्रूर, कुबुद्धि, अशांत, गुरुद्रोही, अधर्मी पुरुषों को न देना चाहिए किंतु ब्रह्मचारी, धर्मात्मा, प्रजापालक, दुष्टों के दमनकारी साधु संरक्षक को देना चाहिए।

परिशिष्ट भाग

राजा* को प्रति दिन जिस समय फुर्सत मिले उस समय खड्ग, धनुष, चक्र, कुंत (भाला), गदा, आदि शस्त्रों के चलाने में कुशल परिश्रमी योद्धाओं को, हर एक विद्या के जाननेवाले पुरुषों को, सेवकों को, मंत्री आदि प्रधान पुरुषों को, कुमारों (राजपुत्रों) को, मंडलाधीशों (जिलाधीशों) को, दूसरे मंडल में रहनेवालों को, पंडितों को, अच्छी अच्छी बातें सुनानेवालों को, हर एक देश की भाषा जाननेवालों को, पाठकों (स्तुति पढ़नेवालों) को, गानेवालों को, सूतों को, मागधों को, वंदियों को, रनिवास की स्त्रियों को, खास खास रानियों को और सुंदरी प्यारी वेश्याओं को बुलाकर उचित स्थानों में बैठाना चाहिए। बाद स्वयं अच्छे वस्त्रों को पहिरे तथा मस्तक और इतर अंगों में कुंकुम चंदनादि लेप लगावे। मस्तक में एक कज्जल की रेखा बनावे जिससे दृष्टिदोष न लगने पावे। बाघ की पूँछ और मृगचर्म का शेखर शिर में धारण करे। सोने की सिकड़ी गले में पहिने। दोनों हाथों में सोने के कड़े पहिरकर दोनों कानों में सोने के रत्नजटित कुंडल धारण करे। इस प्रकार अच्छी भाँति शृंगार कर वीर वेश बनावे। फिर दर्शकों से भरे हुए अखाड़े में आकर खड़ा हो। अपने से तीन बित्ते के फासले पर दूसरे योधा को खड़ा करे। इस दूसरे योधा का वेश भूषण भी वैसा ही हो जैसा कि स्वयं राजा का वेश भूषण हो। एक अच्छी छूरी को आप अपने हाथ में लेवे। दूसरी वैसी ही छूरी दूसरे योधा को देवे। छूरी की धार खूब तीखी और मजबूत हो, कहीं से कटी फटी टूटी न हो। छूरी हलकी और छोटी हो। उसमें टेढ़ी रेखा न हो। उसका रंग जामुन के समान काला हो। तब राजा अपने प्रतियोधा के सामने

---

* अभिलषितार्थ-चिन्तामणि।

वाम पाद को अगाड़ी करके तथा वाम बाहु को आगे फैलाकर पैतरे के साथ खड़ा हो। दहिने हाथ में छूरी की मुठिया मजबूती से पकड़कर शिर के बराबर ऊपर करे। इस तरह से भैरव स्थान (भैरव नामक पैतरे) को दिखलावे। अनंतर दहिने हाथ में छूरी लिए हुए पीठ की तरफ उसे ले जाकर वाम हस्त में एक डंडा लेकर उसे आगे फैलाकर "पुलिवाल" पैतरे को दिखावे। अनंतर छूरी के आगे दंड को बराबर सामने रखकर अपने शरीर को आगे की ओर लचाता हुआ "शुनक" पैतरे को दिखलावे। अनंतर दहिने हाथ को फैलाकर छूरी को नीची करके अपनी छाती में दंड को रखता हुआ पैंतरा करे। अनंतर छूरी को ऊपर उठाकर दंड को छाती में लगाता हुआ पैतरा करे। अनंतर छूरी को बाँई ओर और दंड को दाहिनी ओर करके दोनों हाथों को कंपित करता हुआ "लुलित" पैतरे को दिखलावे। छूरी को आगे बढ़ाता हुआ दंड को छाती की ओर बटोरता हुआ पैतरा करे। छूरी को छाती में लगाकर दंड को उसके आगे करके देखनेवालों को खुश करता हुआ "नट्टक" पैंतरे को दिखलावे। दोनों जानु के बीच में छूरी के अग्रभाग से पृथ्वी का स्पर्श करता हुआ बायें हाथ को फैलाकर "रोपितक" पैंतरे को दिखावे। छूरी के सहित हाथ को शिर पर रखता हुआ बायें हाथ के दंड को आगे फेंककर "पात्रांगुल" पैंतरे को दिखलावे। सिंह के समान छूरी के सहित दहिने हाथ को ऊपर उठाकर दंड को नीचे करता हुआ "व्याघ्रनख" पैंतरे को दिखावे। छूरी के सहित मुट्ठी को बाएँ गाल के नीचे करता हुआ दंड को दहिनी छाती के ऊपर आधे गाल में रखकर बायें पैर को आगे करके दहिने पैर से उसे स्पर्श करे फिर हटकर दहिने पैर को बाएँ पैर से स्पर्श करे। इसी भाँति बार बार करता हुआ "पादग्राह" पैंतरे को दिखलावे। पहले एक पैर को आगे बढ़ाकर उससे दूसरे पैर को रगड़ता हुआ फिर उसी पैर को आगे पीछे करके "पदप्राप्ति" गति पैंतरे को दिखावे। दोनों पैर ऊपर न उठाकर धीरे धीरे फैलाता

हुआ आगे पीछे हटता बढ़ता हुआ "अनुत्क्षेप" पैंतरे को दिखावे। दोनों पैरों को थोड़ा थोड़ा ऊपर उठाता हुआ सर्प की भाँति चलकर "सर्पिका" पैंतरे को दिखलावे।

दोनों पैरों को बटोरकर लीलापूर्वक मंद मंद मतवाले हाथी की नाईं चलता हुआ "मत्तेभगति" पैंतरे को दिखलावे। पकड़ने की इच्छा करके अनूठी चाल से उछलकर पीछे हटने के "वायसी" गति पैंतरे को दिखलावे। दोनों पैरों को बटोरकर अँगुलियों के अग्र से पृथ्वी को छूता हुआ छूरी हाथ में लेकर "कर्कटी" गति पैंतरे को दिखलावे। शरीर सिकोड़कर सिंह की भाँति उछाल मारता हुआ पैर की फुर्त्ती से "पंचानन" गति पैंतरे को दिखलावे। पैंतरा करने में कुछ कुछ शस्त्र को बाहर खींचे कुछ कुछ हाथ को हिलावे। लौटाए हुए तथा टेढ़े किए हुए बाँए तथा दहिने भाग से ऊपर नीचे आगे पीछे दोनों काँख में दोनों कान के पास छूरी को घुमावे। पैर की गति को बनाता रहे। अपने को बिजुली के पिंजड़े में स्थित की नाईं दिखलावे। उछलता हुआ चारों ओर आगे बढ़े। जल्दी जल्दी चलता हुआ बैठता हुआ उठता हुआ घूमता हुआ पैर की फुर्त्ती को दिखलावे। रोकने में, पकड़ने में, काटने में, मारने में बिना रुकावट के भयंकर होकर अमोघ आशा को दिखलावे। दुष्टों को भय देनेवाली तथा अच्छे पुरुषों को खुश करनेवाली अपनी प्यारी छूरी को दिखलावे।

इसके बाद चार बित्ते की लंबी छूरी को लेकर दहिने पैर को आगे बढ़ाकर छाती में दंड को रखकर पहले की नाईं ताली बजाता हुआ इस लंबी छूरी को घुमावे और पूर्ववत् पैर की फुर्ती को दिखलावे। इसके बाद पाँच बित्ते की लंबी छूरी को लेकर कान के पास में बँधी हुई शत्रु का वध करनेवाली मुट्ठी को रखकर बाद बायें हाथ को फैलाकर अँगुली को मुँह में लगाता हुआ तथा छूरी को मुँह में लगाता हुआ ऊपर उछले। चले। कछुवे की भाँति बैठे। फुर्ती से उठे। बाघ की भाँति शरीर को सिकोड़े। इस प्रकार लंबी छूरी का तमाशा दिखाकर राजा लोगों को खुश करता हुआ खड्ग का तमाशा दिखावे।

* खड्ग पचास अंगुल का लंबा उत्तम होता है। पैंतीस अंगुल का अधम होता है। इन दोनों के बीच के मान का मध्यम होता है। वाराही संहिताकार के मत से पैंतीस अंगुल का मध्यम और पचीस अंगुल का अधम होता है। जिस खड्ग में व्रण न हो, टेढ़ापन न हो, जो श्री वृक्ष(बिल्व), वर्धमान, छत्र, कुंडल, ध्वज, शिवलिंग, कमल, चंद्र, पंजर, आयुध, स्वस्तिक, इन चिह्नों से युक्त हो वह खड्ग शुभ होता है। गिरगिट, कौवा, डोम कौवा, क्रव्याद, (कच्चा मांस खानेवाला पक्षी गिद्ध आदि), कबंध (बिना शिर का धड़), बिच्छू, इन चिह्नों से युक्त खड्ग अशुभ होता है। नाप में छोटा, बीच से फटा हुआ, कुंठित, बिना शब्द का वंशछिन्न (याने कुलपरंपरा से विच्छिन्न), आंखों को और मन को अच्छा न लगनेवाला खड्ग अनिष्ट फल देता है।

इससे उलटे गुणवाला खड्ग उत्तम इष्ट फल देता है। खड्ग का स्वयं आवाज देना मरण के लिये होता है। स्वयं म्यान से बाहर हो जाना पराजय के लिये होता है। स्वयं म्यान से ऊपर निकलना युद्ध के लिये होता है। स्वयं चमकना विजय के लिये होता है। बिना प्रयोजन खड्ग को म्यान से बाहर न निकाले। खड्ग में मुँह न देखे। खड्ग का मूल्य किसी को न बतावे। जहाँ खड्ग रखा हो उस स्थान को जाहिर न करे। खड्ग का हर समय आदर करे। असावधानता से खड्ग में हाथ न लगावे। गौ की जीभ के समान, नील कमल के समान, बांस के पत्ते के समान, कदल के पत्ते के समान तथा त्रिशूल के अग्रभाग के समान आकारवाला खड्ग उत्तम होता है। तैयार खड्ग को काटकर छोटा न करे। किंतु सान पर चढ़ाकर ठीक नाप का बनावे। खड्ग मूल भाग में कटा हो तो स्वामी मर जाता है। अग्र भाग में कटा हो तो माता मर जाती है। प्रश्न करने के समय प्रश्नकर्त्ता जिस अंग का स्पर्श करे, खड्गधारी शास्त्रानुसार उसी प्रकार से निश्चय करके म्यान

* बृहत्संहिता।

के भीतर रक्खे हुए खड्ग के व्रण को शुभाशुभ फल के सहित बतावे। शिर का स्पर्श करके पूछे तो खड्ग के प्रथम अंगुल में व्रण को बतावे। उसका फल पुत्र-मरण है। ललाट स्पर्श करके पूछे तो खड्ग के द्वितीय अंगुल में व्रण होना बतावे। उसका फल धन-प्राप्ति है। भौंह के मध्य को स्पर्श करके पूछे तो खड्ग के तृतीय अंगुल में व्रण होना बतावे। उसका फल धनहानि है। नेत्र का स्पर्श करके पूछे तो खड्ग के चतुर्थ अंगुल में व्रण को बतावे। उसका फल संपत्ति है। नाक को स्पर्श करके पूछे तो खड्ग के पाँचवें अंगुल में व्रण को बतावे। उसका फल बंधन है। ओंठ को स्पर्श करके पूछे तो खड्ग के छठे अंगुल में व्रण को बतावे। उसका फल पुत्रलाभ है। गाल को स्पर्श करके पूछे तो खड्ग के सातवें अंगुल में व्रण को बतावे। उसका फल कलह है। चिबुक (ठोढ़ी) को स्पर्श करके पूछे तो खड्ग के आठवें अंगुल में व्रण को बतावे। उसका फल हाथी का लाभ है। कान का स्पर्श करके पूछे तो खड्ग के नवें अंगुल में व्रण को बतावे। उसका फल पुत्र-मरण है। गर्दन का स्पर्श करके पूछे तो खड्ग के दशवें अंगुल में व्रण को बतावे। उसका फल धन लाभ है। कंधे को स्पर्श करके पूछे तो खड्ग के ग्यारहवें अंगुल में व्रण को बतावे। उसका फल विनाश है। उर स्पर्श करके पूछे तो खड्ग के बारहवें अंगुल में व्रण को बतावे। उसका फल स्त्री-लाभ है। काँख को स्पर्श करके पूछे तो खड्ग के तेरहवें अंगुल में व्रण को बतावे। उसका फल चित्त-दुःख है। स्तन स्पर्श करके पूछे तो खड्ग के चौदहवें अंगुल में व्रण को बतावे। उसका फल लाभ है। हृदय स्पर्श करके पूछे तो खड्ग के पंद्रहवें अंगुल में व्रण को बतावे। उसका फल हानि है। उदर स्पर्श करके पूछे तो खड्ग के सोरहवें अंगुल में व्रण बतावे। उसका फल स्त्रीप्राप्ति है। कुक्षि स्पर्श करके पूछे तो खड्ग के सत्रहवें अंगुल में व्रण को बतावे। उसका फल वध है। नाभि को स्पर्श करके पूछे तो खड्ग के अठारहवें अंगुल में व्रण को बतावे। उसका फल वृद्धि है। नाभिमूल को स्पर्श करके

पूछे तो खड्ग के उन्नीसवें अंगुल में व्रण को बतावे। उसका फल मरण है। कटि का स्पर्श करके पूछे तो खड्ग के बीसवें अंगुल में व्रण को बतावे। उसका फल परितोष है। गुह्य स्पर्श करके पूछे तो खड्ग के इक्कीसवें अंगुल में व्रण को बतावे। उसका फल धन-हानि है। ऊरु स्पर्श करके पूछे तो खड्ग के बाइसवें अंगुल में व्रण को बतावे। उसका फल धन-प्राप्ति है। ऊरु के मध्य भाग को स्पर्श करके पूछे तो खड्ग के तेईसवें अंगुल में व्रण को बतावे। उसका फल (दुःख) अनिर्वाण है। जानु स्पर्श करके पूछने पर खड्ग के चौबीसवें अंगुल में व्रण को बतावे। उसका फल धनागम है। जंघा स्पर्श करके पूछे तो खड्ग के पचीसवें अंगुल में व्रण को बतावे। उसका फल मृत्यु है। जंघा-मध्य को स्पर्श करके छूने पर खड्ग के छब्बीसवें अंगुल में व्रण को बतावे। उसका फल संपत्ति है। गुल्फ स्पर्श करके पूछे तो खड्ग के सत्ताईसवें अंगुल में व्रण को बतावे। उसका फल निर्धनता है। पार्ष्णि (एँड़ी) स्पर्श करके पूछे तो खड्ग के अट्ठाईसवें अंगुल में व्रण को बतावे। उसका फल ऐश्वर्य है। पाद स्पर्श करके पूछे तो खड्ग के उंतीसवें अंगुल में व्रण को बतावे। उसका फल मृत्यु है। पैर की अंगुली को स्पर्श करके पूछे तो खड्ग के तीसवें अंगुल में व्रण को बतावे। उसका फल राज्य है। इसके आगे व्रण होने का कुछ फल नहीं है। विषम अंगुल में व्रण होने से अशुभ फल होता है, और सम अंगुल में व्रण होने से शुभ फल होता है। यह गर्ग ऋषि का मत है।

* जो खड्ग हरितमणि (पन्ना) के समान रंगवाला हो तथा जिसमें पोगर (चिह्न या दाग) न हो वह उत्तम खड्ग होता है। भगवान् विष्णु (कृष्ण) ने ऐसे ही खड्ग से बाणासुर की भुजाओं का छेदन किया था। जो खड्ग घास के समान रंगवाला हो, सूत के समान लंबी लकीर जिसमें हो, जो किसी से काटा न जावे, उस खड्ग का नाम रोहिणीवाल है। रावण का खड्ग इसी प्रकार

* अभिलषितार्थ-चिंतामणि।

का था। जिस खड्ग में केसर के समान टेढ़ी टेढ़ी लकीरें हों, लोहे के समान जिसका रंग हो, उसका नाम मत्कुण है। जिस खड्ग में गौ की जीभ के समान अथवा पल्लव के समान चिह्न हो, उसका नाम निरवह है। इस खड्ग से शत्रु का वध सुखपूर्वक होता है। स्त्री के केश के समान रंगवाले महीन सफेद चिह्न से युक्त खड्ग का नाम भद्रांग है। भगवती भद्रकाली के हाथ में यही खड्ग रहता है। जामुन के समान रंगवाले टेढ़े सफेद चिह्न से युक्त खड्ग का नाम वेगीवाल है। यह खूब चिकना और चमकदार होता है। जो नए जल से भरे मेघ के समान वर्णवाला हो, जिसमें पढ़िना मछली के चमड़े के समान चिह्न हो उस खड्ग का नाम रिपुदारण है। जिसमें कहीं कहीं चंद्रक (मोरपंख का दाग) के समान बहुत घने चिह्न हों उस खड्ग का नाम कच्छेल्लक है। जिस खड्ग का रंग तमाल, आकाश तथा भौंरे के रंग के समान हो और जो पुरुषाकार चिह्न से युक्त हो उस खड्ग का नाम भीत है। जिसमें सोने के पिंजड़े और सोने की चोंच के समान महीन महीन चिह्न हो उस खड्ग का नाम पट्टालभ है। इस खड्ग के पास रखने से विष और वज्र का भय नहीं होता। मोती के चूर्ण के समान रंगवाले, मुरुंड (?) के बीज के समान चिह्न से युक्त, खड्ग का नाम तारपादुक है। स्त्री की रोमराजि के समान रंगवाला, लचाने पर भी न लचनेवाला जो खड्ग होता है, जिसमें पीले टेढ़े चिह्न हों उसका नाम तित्तिरि-पंजर है। काले मेघ के समान काले तथा कज्जल के सदृश चिह्नों से युक्त खड्ग का नाम कालपंजर है। आकाश के समान काला, थोड़े थोड़े सफेद चिह्नों से युक्त जो खड्ग हो, जिसमें बीच बीच में केले की भाँति सिकड़ी सी रेखा हो उसका नाम कोंगि है। राजा सोमेश्वर ने खड्ग के इन लक्षणों और नामों को कहा है।

राजा दहिने हाथ से खड्ग को म्यान से बाहर निकालकर बाँयें हाथ में ढाल को या फलक (पटिया) को लेकर दोनों हाथों से दोनों को घुमाता हुआ पूर्वोक्त पैंतरे से अखाड़े में घूमे। खड्ग

को माथे के ऊपर रखकर तथा ढाल को छाती में लगाकर दहिने पैर को आगे बढ़ाकर "शिखरक" पैंतरे को करे। बांयें हाथ को आगे फैलाकर ढाल से या फलक से कान के पास को छूता हुआ "कापालक" पैंतरे को करे। ढाल को छाती में लगाकर खड्ग को छाती के बाहर रखता हुआ "ग्रीवा स्थान" पैंतरे को करके दूसरे प्रतियोधा के अंतर (मौका) को देखे। खड्ग को जमीन की ओर करके ढाल को छाती में टेढ़ी चाल से लगाता हुआ प्रतिभट के छिद्र का ख्याल रखकर "भूमंडल" पैंतरे को करे। खड्ग की मुठिया को काँख में दाबकर खड्ग के अग्र भाग को सामने रखकर ढाल को आगे फैलाता हुआ "तीक्ष्णाग्र" पैंतरे को करे। नाभि से लेकर कंठ तक खड्ग के अग्रभाग को भेदन करने को खड्गविद्या जाननेवाले पुरुष "मुनय" कहते हैं। पैर के, दहिने अंग के, वाम भाग के, मस्तक के तथा नाभि से लेकर कंठ तक के भेदन को "पंचघात" कहते हैं। पंचघात में रोकना, मारना, पटुता दिखलाना, रचना घात (चाल से मारना) को दिखलाना चाहिए। इन कामों में हाथ की फुर्ती खूब होनी चाहिए। फलक अथवा ढाल से अपने सब अंग को छिपाकर दूसरे योधा को मारने के लिये उसके अंग को देखता हुआ पैंतरा करे। पंचघात का करना, पंचघात का रोकना और पैर की फुर्ती दिखलाना तथा ढाल तरवार का चलाना दिखलावे।

बाद हाथ में लोहे के कवच (दस्ताने) को बाँधकर धनुष को धारण करे। वह धनुष पक्के बाँस का हो। गोपी चंदन से रँगा हो। लाही का रोगन उसके ऊपर चढ़ाया हो। ताँत से लपेटा हो। सोने के पट्टे से बँधा हो। अनेक रत्नों से चित्रित हो। ठीक नाप का हो। मजबूत हो। सुंदर हो। अच्छी डोरी से युक्त हो। तीन पोर का या पाँच पोर का या सात पोर का या नव पोर का हो। धनुष की डोरी चमड़े की हो या और किसी मजबूत चीज की हो। डोरी चिकनी हो। बराबर अंदाजे की हो। धनुष के माथे

का भाग उत्तम हो। धनुष की मुट्ठी सुखद हो। धनुष तीन प्रकार का होता है—मृदु, मध्य अथवा उत्तम। उत्तम धनुष से दृढ़ वस्तु को मारे। मध्य से दूर की वस्तु को मारे। मृदु से लघु चित्र लक्ष्य को बेधे। धनुष चलाते समय दोनों कंधों को नीचा करे, छाती को फैला दे, हाथ को आगे बढ़ाकर मुट्ठी को मजबूती के साथ बाँधे, हाथ के पहुँचे को थोड़ा टेढ़ा रक्खे, मुट्ठी के सामने मुख को कंधे के ऊपर रखे, चिबुक (ठुड्ढी) और कंधे के बीच में चार अंगुल का अंतर रखे, आगे के हाथ के बराबर दूसरे हाथ को टेढ़ा करे, दृष्टि को निशाने पर लगाए रहे, दोनों पार्श्व (पसुरी) को सीधा रखे, पूरक प्राणायाम करके वायु से पेट को भर दे, पीठ की निचली हड्डी को लचाए रहे। पैर को पैंतरे के साथ मजबूती से रक्खे। इस प्रकार राजा अपनी सफाई को दिखलावे। एक पैर को आगे फैलाकर टेढ़ा किए रहे। दूसरे पैर को टेढ़ा करके पीछे रखे। आगे के पैर के अँगूठे पर शरीर का भार रखे। पीछे के पैर की कानी अँगुली पर शरीर का भार रखे। आलीढ पैंतरे में दोनों पैरों के बीच में एक बित्ते का अंतर रहे। इससे उलटा प्रत्यालीढ़ पैंतरा करे। वैशाख पैंतरे में दोनों पैरों को तीन बित्ते के अंतर पर रखे। दोनों पैरों को बराबर एक बित्ते के अंतर पर रखकर पहले की भाँति सम्पक्पाद पैंतरे को दिखलावे। दोनों पैरों को टेढ़ा करके चार बित्ते के फासले पर रखकर मंडल पैंतरे को करे। यह पैंतरा घोड़े वगैरह की सवारी में अच्छा काम देता है। आगे के पैर की एँड़ी से लेकर पीछे के पैर के अँगूठे तक एक बित्ते का अंतर रखकर "जात" पैंतरे को दिखलावे। इस पैंतरे से उलटे अभिजात पैंतरे को दिखलावे। पिछले पैर को ऊपर उठाकर हंसपाद पैंतरे को दिखलावे। दोनों पैरों को बाहर टेढ़ा करता हुआ दोनों जानु को पृथ्वी में टेककर दार्दुर पैंतरे को दिखलाता हुआ अपनी योग्यता को प्रकट करे। एक पैर को दोनों जंघों के नीचे रखकर स्वस्तिकासन दिखलावे। एक पैर को नीचे तथा दूसरे पैर को जंघाओं के ऊपर रखकर पद्मा-

सन को दिखलावे। बायें जानु को जमीन में टेककर दहिना पैर ऊपर उठाकर गरुड़ासन से खड़े होकर गारुड़ (गरुड़पच्छ में युक्त या गरुड़देवता के मंत्र से अभिमंत्रित) बाणों को चलावे। दहिने पैर को स्वस्तिकाकार बनाकर बायें पैर को दर्दुर (मेंढक) की भाँति बनाकर शिकार खेलने के लायक स्वस्तिक दर्दुर आसन को दिखलावे। दोनों जानु से जमीन को दबाकर जानुपीडन आसन को दिखलावे। नीची शय्या पर दोनों पैरों को उतान कर शयनासन दिखलावे। धनुष धारण किए हुए हाथ की तर्जनी अँगुली यदि ऊपर उठी हो और धनुष ऊपर उठा हो तो उस मुट्ठी का नाम तुंग मुष्टी है। अगर धनुष का दहिना अग्र भाग कुछ टेढ़ा किया हो और कानी अँगुली ऊपर उठी हो तो उस मुट्ठी का नाम उपतुंग मुष्टि है। गुलेला से गोली चलाने के समय अँगूठे को ऊँचा रखे और मुट्ठी को गोलाकार बनावे। तर्जनी अँगुली और अँगूठे के अग्रभाग को परस्पर मिलाकर बहुत मोटे धनुष को मुट्ठी में पकड़े। धनुष को मजबूती से खैंचने के समय हाथ तलवे से दबावे। इस मुट्ठी का नाम तलाश्रय मुट्ठी है। जिस धनुष के चढ़ाने के समय सब अँगुलियाँ बराबर रहें और अँगूठे से दबी रहें उस मुट्ठी का नाम सममुट्ठी है। यह मुट्ठी मजबूत चोट करने में काम आती है। इस तरह धनुष खैंचने में छ तरह से मुट्ठियों से काम ले।

तीन अँगुली को हाथ के तलवे में रखकर तर्जनी अंगुली के नह को अँगूठे से दबावे। इस मुट्ठी का नाम सिंहकर्णी मुट्ठी है। सिंहकर्णी मुट्ठी बाँधने में यदि तर्जनी अँगुली फैला दी गई हो तो उसे पताका मुट्ठी कहते हैं। यह मुट्ठी नालीक तथा स्थूल बाण चलाने में काम देती है। अँगूठे के नह की पीठ पर यदि तर्जनी अँगुली का नह हो और बाकी अँगुलियाँ पूर्व की भाँति हों तो इस मुट्ठी का नाम अधोवर्त्ती मुट्ठी है। यदि पूर्व की भाँति तर्जनी अँगुली और अँगूठे का अग्रभाग आगे पोर से मिला हो तो इस मुष्टि का नाम मुचुटी मुष्टि है। यह सूक्ष्म बाण के चलाने में काम देती

है। हाथ के तलवे में लगाकर तर्जनी अँगुली से अँगूठे को तथा और अँगुली को लपेट लेने से वज्रमुष्टि नामक मुष्टि होती है। इससे मजबूती का काम लिया जाता है। यदि पुंख के ऊपर तर्जनी अँगुली हो और पुंख के नीचे मध्यमा अँगुली हो और पुंख के आगे अँगूठा हो तो त्र्यंबक नामक मुष्टि होती है। यदि तर्जनी और मध्यमा अँगुली के मध्य में अनामिका अँगुली को लगाकर पुंख दबाया जाय तो एकलव्य नामक मुष्टि होती है। टेढ़े धनुष बाण के चलाने में त्र्यंबक और एकलव्य मुट्ठी से काम ले। इस प्रकार सात तरह की मुष्टि से अनेक प्रकार के वेध में काम लेवे।

कान के अग्र भाग के ऊपर अँगुली से बाण को खैंचकर मुट्ठी रखे। इसका नाम कौशिक है। नीची वस्तु के भेदन में इससे काम लिया जाता है। बाण को खैंचकर मुट्ठी को कान के अग्रभाग में लगावे। इसका नाम सात्वत है। यह भी पूर्ववत् नीचे लक्ष्य के भेद में काम देती है। बाण से भरी हुई मुट्ठी को कान के मध्य में लगावे। इसका नाम वर्षगण्य है। इससे सम लक्ष्य के भेद में काम लेवे। कान के छेद के एक अंगुल नीचे मुट्ठी को स्थिर रखे। इसका नाम भरत है। इससे भी लक्ष्य के भेदन में काम ले। बाण के सहित मुट्ठी को बाहु के ऊपर रखे। इसका नाम छंदन्याय है। इससे ऊँचे तथा दूर के लक्ष्यभेद में काम ले। मनुष्य की उँचाई की नाप से छाती के बराबर जो लक्ष्य हो उसे समलक्ष्य कहते हैं। छाती से ऊपर जो लक्ष्य हो वह ऊर्ध्वलक्ष्य कहाता है, और छाती से नीचे जो लक्ष्य हो वह नीच लक्ष्य कहाता है। सूखे बैल के सौ चमड़े को रात दिन पानी में भिगो रखे। चमड़ा सोरह अंगुल चौड़ा हो। भीग जाने के बाद उसे मजबूत रस्सियों से खूब कसकर बाँधे। इसका नाम दृढ़चर्म होता है। यह हाथी के चमड़े के समान मजबूत हो जाता है। इसी प्रकार घोड़े के बीस चमड़े को दृढ़ बनावे और मनुष्य के आठ चमड़े को दृढ़ बनावे। इसी तरह हाथी घोड़े मनुष्यों के चमड़े को मजबूत बनाना चाहिए।

यह परशुरामजी का मत सोमदेव राजा को कहा हुआ है। छब्बीस अंगुल की भाथी को बकरे के मांस से भरकर उसे दृढ़ बनावे। जब मांस दृढ़ हो जाय याने हाथी के मांस के समान मजबूत हो जाय तब उसका भेदन करे। इसी प्रकार मनुष्य घोड़े गदहे के मांस को दृढ़ बनाकर भेदन करे। इसकी दृढ़ता भी हाथी के मांस के समान होती है। सात वर्ष के भैंसे की सींग को लेकर उसके मूल भाग और अग्रभाग को त्यागकर उसे हाथी के शरीर के सामन मजबूत बनावे, फिर उसका भेदन करे। पाँच अंगुल का ऊँचा सूत बेंड़ा करके टेढ़ा रखे। उसे खूब कसकर चमड़े से लपेटे। जब वह हाथी के समान दृढ़ हो जाय तब उसका भेदन करे। एक हाथ की गोलाई जिसकी हो ऐसी कछुवे की पीठ को हाथी सा दृढ़ बनावे। इसका नाम अस्थिदृढ़ है। फिर इसका वेध करे। छब्बीस अंगुल की मोटी पेंड की छाल को रस्सियों से लपेटकर हाथी के समान दृढ़ बनावे, फिर इसका भेदन करे। सोरह अंगुल का चौड़ा लकड़ी के भीतर का भाग लेकर हाथी के समान मजबूत बनावे फिर इसका भेदन करे। इसका नाम दारुदृढ़ है। नव अंगुल का मोटा मट्टी का पिंड लेकर घूमते हुए कुम्हार के चाक के ऊपर रक्खे। हाथी के चमड़े के समान जब दृढ़ हो जाय तब इसका भेदन करे। छ अंगुल का ऊँचा कपास का पुंज चमड़े से कसकर बाँधा हुआ जब हाथी के अंग के समान दृढ़ हो जाय तब उसका भेदन करे।

कंडा (गोबर का), धान की भूसी और काँटा इन सब का चूर्ण एक में मिलाकर आठ अंगुल का मोटा हाथी के अंग के समान मजबूत पिंड बनाकर उसे भेदे। दो अंगुल की मोटी, सोरह अंगुल की चौड़ी, मांस के समान वर्णवाली, हाथी के समान मजबूत शिला (पत्थर) का भेदन करे। सोरह अंगुल की चौड़ी, तीन सरसों की ऊँची, हाथी के समान मजबूत लोहे की पटिया का भेदन करे। दो खंभों के बीच में इन तीनों (कंडे का

पिंड, शिला और लोहे का तवा) को मजबूती के साथ तीन धनुष के फासले पर आदमी की छाती बराबर ऊँचाई पर बाँधकर उसमें बाण मारें। यदि बाण तीनों को भेदकर पार होता हुआ पृथ्वी में धँस जाय तब समझना चाहिए कि बाण चलाने की क्रिया ठीक हो गई। अँगूठे के पास में तर्जनी अँगुली को लगाकर बाण खैंचने में पुंख के बराबर धनुष की मुट्ठी रहे तो उसका नाम समसंधान होता है। रथ की चर्या में (रथ पर चढ़कर बाण चलाने में) समसंधान होने पर अधःसंधान होता है। इसलिये ऊपर से संधान करने में ऊर्ध्व संधान ही करना चाहिए। यदि लक्ष्य ऊपर हो तो नीच संधान करे, यदि लक्ष्य नीचे हो तो ऊर्ध्व संधान करे, यदि लक्ष्य बराबर हो तो सम संधान करे। सोरह अंगुल का गोल लक्ष्य स्थूललक्ष्य होता है। दो अंगुल का लक्ष्य सूक्ष्म होता है। पाँच घुँघुची के बराबर का लक्ष्य उससे सूक्ष्म होता है। बाल के बराबर महीन लक्ष्य उससे भी सूक्ष्म होता है। आवाज समझा गया हुआ लक्ष्य परापर होता है। इन पाँचों प्रकार के लक्ष्य का भेदन दिखलावे। टेढ़े दौड़ता हुआ, चलता हुआ, घूमता हुआ) चक्कर देता हुआ), उछलता हुआ, आकाश से जमीन पर पानी में लक्ष्य भेदन करे। दो सौ धनुष के फासले पर से जो लक्ष्य भेदन होता है वह उत्तम होता है। डेढ़ सौ धनुष के फासले पर से जो लक्ष्य भेद किया जाता है वह मध्यम होता है। एक सौ बीस धनुष के फासले पर से जो लक्ष्य भेदा जाता है वह कनिष्ठ होता है।

दो सौ धनुष के फासले पर से पक्षयुक्त या पक्षरहित मोटी जड़वाले चार बाणों को एक संग चलाता हुआ धनुर्धर फुर्ती दिखलावे। एक बाण पैर में और एक बाण हाथ में तथा पाँच बाण आकाश में फेंकता हुआ लक्ष्य भेदन करने में फुर्ती को दिखलावे। युद्ध में, शत्रुवध में, शिकार खेलने में, मन बहलाने में—इन चार कामों में बाणविद्या से काम लेना चाहिए। इन चार कामों में यह चार प्रकार की संपत्ति है। राजा मन बहलाने के लिये उस तमाशे

को भी दिखलावे जो कि अनूठा हो और लोगों की लालसा को बढ़ानेवाला हो तथा देखनेवालों के दिल को अपनी ओर खींचनेवाला हो। खंभे के ऊपर एक चक्र यंत्र बनावे जिसमें एक मछली लगी हो जो कि हवा के झोंकों से बड़े वेग के साथ घूमती हो। ठीक उसके नीचे एक पात्र रक्खे जो कि जल भरा हो। उस जल में घूमती हुई मछली की परछाहीं को देखता हुआ मछली की आँख में बाण का निशाना लगाकर प्रत्यालीढ़ पैंतरे से खड़ा हुआ राजा मत्स्यवेध का तमाशा दिखलावे। खजूर के पेड़ के समान एक लकड़ी का नकली पेड़ बनावे। उसमें सैकड़ों बाण इस भाँति मारे कि उन्हीं बाणों का पत्ता और काँटा उस नकली पेड़ में लग जाय। इस तमाशे का नाम खर्जूरवेध होता है। एक शूद्र को सामने खड़ा करके उसकी छाती में एक पत्ता लगा दे। उसी में बाण के पुंख से निशाना लगावे। पर टेढ़ा होकर खड़ा हो। इसका नाम पत्रच्छेद भेद तमाशा है। इसके देखने से देखनेवाले का दिल चक्कर खाने लगता है। राजा इस तमाशे को दिखलाकर लोगों के मन में आश्चर्य पैदा कर दे। एक धनुष में दो बाण एक साथ चढ़ाकर दो लक्ष्य का भेद एक बार में करता हुआ यमलार्जुन नामक तमाशे को दिखलावे। एक लक्ष्य के ऊपर दूसरे लक्ष्य को रखकर दो बाणों से एक बार में भेदन करता हुआ विकाटार्जुन नामक खेल को दिखलावे। तर्जनी और अँगूठे को अर्धचंद्राकार बनाकर उसके आगे चार अंगुल का तृणकांड रखकर अँगुली के अग्र भाग की टक्कर से भेदन करता हुआ अर्धचंद्र नामक तमाशे को दिखलावे।

एक बाण को धनुष पर चढ़ाकर और दूसरे बाण को धनुष के सामने रखकर दोनों बाणों को एक साथ आगे और पीछे छोड़ता हुआ आगे पीछे दोनों ओर के दोनों लक्ष्यों का भेदन करके माला-विद्या-धन नामक तमाशे को दिखलावे। इस प्रकार दो सौ चौरासी तरह के खेल दिखलावे। मज़बूत निशाने के भेदन में, दूर के निशाने के भेदन में, फुर्ती करने में तथा पैतरा आदि दिखलाने में

अपनी धनुर्विद्या के विज्ञान को प्रगट करे। इसके बाद आठ अरे का या छ अरे का चक्र लेकर उसकी नाभि के भीतर थोड़ी टेढ़ी की हुई तर्जनी अँगुली को डालकर बाईं ओर तथा दाहिनी ओर खूब वेग से घुमावे और ऊपर की ओर फेंके। इसी भाँति पाँच सात बार ऊपर फेंककर पर्याय से चलावे या एक एक बार चलावे। सिंहकर्णी आदि मुष्टि से लक्ष्य को मारे। बार बार वेग से ऊपर फेंककर फिर हाथ में ले ले। इस प्रकार चक्र के तमाशे दिखलाकर कुंत हाथ में धारण करे और उसका तमाशा दिखलावे। पैदल सिपाही का कुंत सात अरत्नि का लंबा होता है। घोड़सवार का कुंत छ अरत्नि का लंबा होता है। हाथी-सवार का कुंत आठ अरत्नि का लंबा होता है। इस प्रकार कुंत के दंडे तीन तरह के होते हैं। कुंत का फल बीस अंगुल का लंबा होता है। फल का मूल वज्र के आकार का होता है। फल का अग्रभाग मुकुलाकार होता है। पैदल योद्धा कुंत को दहिने हाथ से पकड़े। कुंत का मूल एक हाथ के फासले पर रहे। यदि कुंत को बायें हाथ से पकड़े तो कुंत का मूल तीन बित्ते के फासले पर रहे। कुंत का दंड त्रिशूलाकार चिह्न से युक्त न हो, बहुत पुराना न हो और भीतर से पोला न हो। बहुत मोटी या बहुत पतली गाँठ से युक्त न हो। पोर बहुत दूर दूर न हों? जिस कुंत का दंड इन दोषों से युक्त हो उस कुंत को कदापि धारण न करे, क्योंकि इस प्रकार का कुंत विघ्नकारी होता है।

कुंत का दंडा भीतर से ठस हो। सीधा हो। पक्के बाँस का हो। शुद्ध हो। अच्छी भूमि में उत्पन्न हुआ हो। ऐसे दंडवाला कुंत सब कार्य सिद्ध करनेवाला होता है। कुंत के अग्रभाग में बीस अंगुल का लंबा एक फल लगा हो। फल के नीचे अंकुश लगा हो। फल के पीछे कैंची लगी हो। फल के मूल देश में मुकुलाकार लोहे का वज्र लगा हो। इस तरह का कुंत घोड़सवार को धारण करना चाहिए। पैदल का कुंत घोड़सवार के कुंत से बड़ा रहता है। इतना ही

दोनों में फर्क है। हाथी-सवार का कुंत इन दोनों से बड़ा होता है। पैदल योद्धा (राजा) भूमि कुंत को (पैदल का कुंत) दहिने हाथ में लेकर नीची मुट्ठी से वज्र के अग्रभाग को पकड़कर कुंत के पैंतरे को दिखलावे। मणिबंध (पहुँचे) से चलाता हुआ कंकणावर्त्त पैंतरे को दिखलावे। कंधे पर कुंत को घुमाता हुआ कंठावर्त्त पैंतरे को दिखलावे। पीठ में कुंत को घुमाता पृष्ठावर्त्त पैंतरे को दिखलावे। काँख में कुंत को घुमाता हुआ कक्षावर्त्त पैंतरे को दिखलावे। तर्जनी अंगुली में कुंत को घुमाता हुआ तर्जन्यावर्त्त पैंतरे को दिखलावे। जिस जिस शरीर के हिस्से में कुंत को घुमावे उसी उसी नामवाले पैंतरे को दिखलावे। कुंत के फल से शत्रु के भेदन की आशा को दिखलावे। कुंत के अंकुश से शत्रु के खैंचने की आशा को दिखलावे। कुंत की कैंची से शत्रु के पकड़ने की आशा को दिखलावे। कुंत के वज्र से शत्रु के वध की आशा को दिखलावे। इस प्रकार राजा सभासदों को कुंत का खेल दिखलाकर गदा को हाथ में धारण करे। गदा लोहे की बनी हो, या मजबूत लकड़ी की बनी हो या घन (एक प्रकार का लोहे का सार), रत्न और सुवर्ण से भूषित हो। इसके बीच का भाग मोटा हो। आगे का भाग मोटा हो। उसके बराबर का सीधा डंडा हो। गदा को मूल देश में मजबूत मुट्ठी से खड्ग की भाँति पकड़कर दोनों हाथों से या एक हाथ से घुमावे। विचित्रमंडलाकार होकर बाँयें, दहिने, गमन से, आगमन से, गोमूत्रिकाकार होकर ऊपर, नीचे, उछलकर पैंतरा करे। दूसरे के आघात को बचावे। स्वयं दूसरे पर प्रहार करे। पास ले जाकर, दूर हटाकर, चक्कर देकर, लौटकर, गदा का खेल दिखलावे। इसके अनंतर रानियाँ राजा की आरती उतारें। बंदी लोग स्तुति करें। कवि लोग यशवर्णन करें। गवैये गाना सुनावें और भृत्य जय-जयकार मनावें। पुरोहित आदि ब्राह्मण आशीर्वाद दें। मातहत राजा हाथ जोड़कर प्रणाम करें। इस प्रकार खुशी मनाता हुआ खेल को समाप्त कर राजा आनंद भोग करे।

यहाँ तक अभिलषितार्थचिंतामणि तथा वाराही संहिता के अनुसार यह सब विषय लिखा गया है।

* राजा सब समय में खड्ग को अपने पास रखे। खड्ग ही राजा का परम सहाय होता है। खड्ग के बिना राजा निर्विष सर्प के समान होता है। राजा का खड्ग अति उत्तम सब गुणों से संपन्न हो। खड्ग की उत्तमता का ज्ञान आठ वस्तुओं से होता है। उन आठ वस्तुओं के नाम हैं—१ अंग, २ रूप, ३ जाति, ४ नेत्र, ५ अरिष्ट, ६ भूमि, ७ ध्वनि, ८ मान। जैसा चिह्न अभिन्न (बिना टूटे हुए) खड्ग में दिखाई पड़े वैसा ही चिह्न तोड़कर जोड़ने पर भी खड्ग में जो दिखाई पड़े उसे अंग कहते हैं। खड्ग में जो काला या नीला वगैरह रंग होता है उसे रूप कहते हैं। उसी रूप से जो जाना जाय उसे जाति कहते हैं। अंग के अतिरिक्त खड्ग आदि आयुधों की जो जाति होती है उसके माहात्म्य को जनानेवाला जो हो उसे नेत्र कहते हैं। अंग से अतिरिक्त खड्ग आदि की शुद्धता का जो अपसूचक (न जनानेवाला) हो उसे अरिष्ट कहते हैं। अंग आदि को धारण करनेवाली भूमि होती है। नख से या दंड आदि से मारने पर खड्ग में जो आवाज होती है उसे ध्वनिक कहते हैं। खड्ग के तौल का नाम मान है। इन आठों में प्रथम पाँच वस्तुएँ खड्ग में नकली भी होती हैं। परंतु अंत की दो वस्तुएँ (अर्थात् ध्वनि और मान) स्वाभाविक होती हैं। अंग सौ प्रकार का होता है। रूप चार प्रकार का होता है। जाति चार प्रकार की होती है। नेत्र तीस प्रकार के होते हैं। अरिष्ट तीस प्रकार के होते हैं। भूमि दो प्रकार की होती है। ध्वनि आठ प्रकार की होती है। मान दो प्रकार का होता है। १ रूप्य, २ स्वर्ण, ३ गज, ४ ऊरु, ५ वुक्क, ६ मदन, ७ स्थूल, ८ कृष्ण, ९ अरुण, १० श्वेत, ११ अंभोज, १२ गद, १३ प्रतिमानन, १४ कला,

* यह विषय युक्तिकल्पतरु से लिखा गया है

१५ ग्रंथि, १६ स्थिर, १७ तैत्तिर, १८ माला, १९ जीवक, २० षट्पद, २१ ऊर्ध्व, २२ मरिच, २३ व्याल, २४ अश्व, २५ वर्ह, २६ अंजन, २७ च्छेत्र, २८ क्षुद्रक, २९ मक्षिका, ३० तुष, ३१ यव, ३२ व्रीहि, ३३ क्षुमा, ३४ सर्षप, ३५ सिंही, ३६ तंडुल, ३७ गोक्षुर, ३८ शिव, ३९ नख, ४० ग्राह, ४१ अक्षि, ४२ केश, ४३ उपल, ४४ द्रोणी, ४५ काक, ४६ कपाल, ४७ पत्र, ४८ तुवरी, ४९ बिंबी, ५० फली, ५१ सर्षपा, ५२ नीली, ५३ रक्त, ५४ वर्चा, ५५ रसोन, ५६ सुमना, ५७ यज्ञ (जिह्वा), ५८ शमी, ५९ रोहित, ६० प्रोष्ठी, ६१ मारिषु, ६२ मार्क, ६३ खुर, ६४ तडित, ६५ मेघ, ६६ अद्रि, ६७ गुंजा, ६८ शिवा, ६९ दूर्वा, ७० विल्व, ७१ मसूर, ७२ टुंटुक, ७३ शठी, ७४ मार्जारिका, ७५ केतकी, ७६ मूर्वा (मुर्रा), ७७ वज्र, ७८ कलाय, ७९ चंपक, ८० वन, ८१ वला, ८२ न्यग्रोध, ८३ वंश, ८४ असन, ८५ ज्येष्ठी, ८६ जाल, ८७ पिपीलिका, ८८ नल, ८९ रजः, ९० कूष्मांड, ९१ रोम, ९२ स्नुही, ९३ कर्कंधू, ९४ वकुल, ९५ रसाल, ९६ महिष, ९७ स्वच्छ, ९८ ऋतु, ९९ वक्र, १०० अंग—ये सौ प्रकार के खड्ग के अंग होते हैं। लोह विशारद मुनि ने इनका वर्णन किया है। नील, कृष्ण, पिशंग, धूम्र, ये चार प्रकार के खड्ग के रूप होते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ये चार प्रकार की खड्ग की जातियाँ होती हैं। १ चक्र, २ पद्म, ३ गदा, ४ खड्ग, ५ शंख, ६ डमरू ७ धनु, ८ अंकुश, ९ छत्र, १० पताका, ११ वीणा, १२ मत्स्य, १३ लिंग, १४ ध्वज, १५ इंदु, १६ कुंभ, १७ शूल, १८ शार्दूल, १९ सिंह, २० सिंहासन, २१ गज, २२ हंस, २३ मयूर, २४ जिह्वा, २५ दशन, २६ पुत्रिका, २७ चामर, २८ शैल, २९ पुष्पमाला, ३० भुजंगम, ये तीस प्रकार के खड्ग के नेत्र होते हैं। १ छिद्र, २ काकपद, ३ रेखा, ४ भेक, ५ मूषिक, ६ विडाल, ७ शर्करा, ८ नीली, ९ मशक, १० भृंग, ११ सूचक, १२ त्रिबिंदु, १३ कालिका, १४ पावी, १५ कपोत, १६ काक, १७ खर्पर, १८ शकली, १९ कोड़ी, २० कुशपत्र, २१ जालिक, २२ कराल, २३ कंक, २४ खर्जूर, २५ भृंग, २६ पुच्छ, २७ खनित्र, २८ लांगल, २९

शूर्प, ३० वडिश, ये तीस प्रकार के खड्ग के अरिष्ट होते हैं। दिव्य, भौम, ये दो प्रकार की खड्ग की भूमि होती है। १ हंसध्वनि, २ २ कांस्यध्वनि, ३ अभ्रध्वनि, ४ ढक्काध्वनि, ५ काकध्वनि, ६ तंत्री-ध्वनि, ७ खरध्वनि, ८ अश्मध्वनि, ये आठ प्रकार की खड्ग की ध्वनि होती हैं। ये ध्वनि के भेद नागार्जुन मुनि के मतानुसार लिखे गए हैं। उत्तम, अधम, ये दो प्रकार के खड्ग के मान होते हैं। यदि खड्ग की भूमि चाँदी के पत्र के समान हो तथा अंग श्वेत मालूम हो, तो उसका नाम रूप्यवज्र अंग होता है। यह खड्ग लक्ष्मी आयु बल यश को देता है। जिस खड्ग की भूमि में पतली सोने की रेखा कसौटी की रेखा की भांति हो, उसे स्वर्णवज्र अंग कहते हैं। यह भी लक्ष्मी आयु जय को देता है। जिस खड्ग की काली भूमि में हाथी के शुंड की भाँति आकार हो उसे गजवज्र अंग कहते हैं। इस खड्ग का शरीर के खून के साथ स्पर्श होने पर ज्वर आदि रोग पैदा होते हैं। जल से धो देने पर यह दोष छूट जाता है। कमजोर राजा भी इस खड्ग के प्रभाव से पृथ्वी को वश में कर लेता है। जिस खड्ग की काली भूमि में रेंड़ के बोज के समान अंग हो उसका नाम उरु (रुवु) वज्र अंग है। यह खड्ग शत्रु के अभिमान को नष्ट करने-वाला होता है। कोई आचार्य उरुवज्र अंग का नाम महिषवज्र भी कहते हैं। जिस खड्ग में धतूरे के पत्र के समान अंग हो, उसका नाम मदवज्र अंग है। यह दो प्रकार का होता है—नील भूमि-वाला और श्वेत भूमिवाला। इन दोनों में नील भूमिवाला उत्तम होता है। इसके प्रभाव से राजा संपूर्ण पृथ्वी को वश में करता है। यदि खड्ग में काली दृढ़ भूमि पर एक मोटी श्वेत रेखा हो तो उसका नाम स्थूलांगवज्र अंग होता है। यह लक्ष्मी और यश को देता है। इस खड्ग का घाव होने पर बहुत सूजन होती है जो कि शीघ्र नहीं हटती। कोई आचार्य इसका नाम महद्वज्र अंग कहते हैं। जिस खड्ग में काली निर्मल भूमि कुछ सफेदी लिए वज्र अंग से मिली हुई हो उसका नाम कृष्णवज्र अंग है। इसका घाव लगने

पर मनुष्य बेहोश हो जाता है। इसी में यदि सोने की आभा कुछ सफेदी लिए हुए अंग के साथ हो तो इसी अंग का नाम डाहुलीवज्र अंग होता है। इसी को काल भी कहते हैं। यदि काली भूमि हो और ऊपर कुछ अरुण अंग हो तो उसे अरुणवज्र अंग कहते हैं। यह खड्ग सूर्य की किरण पड़ने से अग्नि की ज्वाला को उगलता है और इसके स्पर्श से रात में कमल खिलता है। यह खड्ग मनुष्यों को दुर्लभ है। बड़े भाग्य से यह किसी को मिलता है। जिसके पास यह खड्ग रहता है उसके संपूर्ण अरिष्ट एक हजार योजन दूर रहने पर भी नष्ट हो जाते हैं। जिस खड्ग में मूल से लेकर तीन श्वेत रेखा हों, उसका नाम श्वेत अंग है। यह खड्ग यश, लक्ष्मी और बल को देता है। जिसकी काली भूमि पर कमल-दल के समान अंग हो, उसे अंभोजवज्र अंग कहते हैं। जिसकी काली भूमि पर गदा के समान अंग हों, उसे गदावज्र अंग कहते हैं। इस खड्ग का घाव लगने से शूल उत्पन्न होता है। जिस खड्ग की भूमि काली और श्वेत हो तथा काले तिल के समान अंग हो उसे तिलवज्र अंग कहते हैं। इसी को अतिमानन अंग भी कहते हैं। इसका घाव लगने पर तिल के तेल के समान वसा (हड्डी का रस) शरीर से बहती है। जिसकी भूमि सफेद या काली हो और पीपर के समान अंग हो उसे कला (कण) वज्र कहते हैं।

जिस खड्ग की भूमि काली और अंग में गाँठ का समूह हो उसे ग्रंथिवज्र अंग कहते हैं। इसके घाव से दाह अधिक होता है तथा प्यास अधिक लगती है। ज्वर भी आता है। जिसमें काली भूमि हो और शालपर्णी के पत्र के समान अंग हो उसे स्थिरवज्र अंग कहते हैं। जिसमें काली भूमि पर तीतर के पत्र के समान अंग हो, उसे तैत्तिरवज्र अंग कहते हैं। जिसमें वनमाला के समान माला दिखाई पड़े उसे मालावज्र अंग कहते हैं। इसका जल सुगंधित होता है। उसके ऊपर गर्म जल डालने से ठंढा हो जाता है। यदि खड्ग में काली और सफेद भूमि हो तथा जीरे के समान अंग हो तो उसे जीरक

वज्र अंग कहते हैं। इसका घाव लगने से तुरंत ज्वर आ जाता है। कोई इसका नाम जीविक भी कहते हैं। जिसमें काली और सफेद भूमि हो और भौंरे के समान अंग हो उसका नाम भ्रमर (षट्पद) वज्र अंग है। इसके घाव से हैजा होता है। जिस खड्ग में ऊँचा पीले रंग का अंग हो, उसे ऊर्ध्ववज्र अंग कहते हैं। इससे जहर का वेग दूर होता है। इसका नाम लांगलवज्र अंग भी है। जिसमें काली भूमि पर मिर्च के समान अंग हो, उसे मरीचवज्र अंग कहते हैं। इसको धोकर जल पिलाने से पीनस आदि रोग नष्ट होते हैं। जिसकी निर्मल भूमि हो तथा साँप के फन सा अंग हो, उसे व्यालवज्र अंग कहते हैं। इसके छू जाने से मेढक मर जाता है। जिसकी निर्मल भूमि हो और घोड़े के खुर सा अंग हो, उसका नाम अश्ववज्र अंग है। इसके संयोग मात्र से सुस्त घोड़ा भी बड़ी तेजी से दौड़ता है। इसको धोकर जल पिलाने से घोड़े के सब रोग नष्ट होते हैं। जिसकी काली भूमि हो और मोरपंख सा अंग हो, उसे बर्हवज्र अंग कहते हैं। इसके स्पर्श से सर्प मर जाता है जिसकी भूमि अंजन सी काली हो, और धार सफेद हो उसे अंजन-वज्र अंग कहते हैं। इसका नाम कज्जलवज्र अंग भी है।

जिसकी भूमि शहद के रंग सी हो और शहद के बिंदु सा अंग हो, उसे क्षौद्रवज्र अंग कहते हैं। इसका नाम क्षौद्रवज्र अंग भी है। जिसमें शहद के समान रंग हो, बीच में कुछ गहरा हो, काली श्वेत भूमि हो, मक्षिका के समान अंग हो, दिन रात लेप चढ़ा हुआ मालूम हो, उसे मक्षिकावज्र अंग कहते हैं इस खड्ग पर मधुमक्षिका बहुत अधिक बैठना पसंद करती है। जिसमें कुंडलाकार क्षुद्र अंग हो नागार्जुन मुनि उसे क्षुद्रवज्र अंग कहते हैं। लोहार्णव मुनि उसे कुंडलवज्र अंग कहते हैं जिसमें काली श्वेत भूमि हो और तुष (धान का छिलका) के समान अंग हो, उसे तुषवज्र अंग कहते हैं। जिसकी काली श्वेत भूमि पर जौ के फल का सा अंग हो उसे यववज्र अंग कहते हैं

यह खड्ग बहुत निषिद्ध है। इसके छू जाने से खुजली पैदा होती है। जिसकी धूमिल भूमि पर धान के फूल सा अंग हो, उसे ब्रीहिवज्र अंग कहते हैं। जिसमें काली श्वेत भूमि हो तथा तीसी के फल के समान अंग हो, उसे अतसी (तुमा) वज्र अंग कहते हैं। जिसमें काली श्वेत भूमि हो तथा सरसों के बीज सा अंग हो, चोखी धार हो उसे सर्षपवज्र अंग कहते हैं। जिसकी काली सफेद भूमि पर सिंही के समान अंग हो, उसे सिंहीवज्र अंग कहते हैं। इसे धोकर जल पिलाने से खाँसी बंद हो जाती है। जिसकी धूमिल श्वेत काली भूमि पर चावल सा अंग हो, उसे तंदुलवज्र अंग कहते हैं। इसको जल में रात भर रखने से जल भात के मांड के समान हो जाता है। जिसकी भूमि चोट न सह सके और अंग गोखुरू के समान हो उसे गोक्षुरवज्र अंग कहते हैं। जिसमें मोटी लंबी रेखा हो, भूमि काली और श्वेत हो, शिव के लिंग-सा अंग हो धार श्वेत हो, उसे शिवावज्र अंग कहते हैं। इसका नाम शिववज्र अंग भी है। जिसकी पिंगल भूमि में बाघ के नख सा अंग हो, उसे नखवज्र अंग कहते हैं। जिसकी धूमिल भूमि पर ग्राह की पूँछ सा अंग हो, उसे ग्राहवज्र अंग कहते हैं। इसके छू जाने से जीती मछलियाँ चटपट मर जाती हैं।

जिसकी काली श्वेत भूमि पर मनुष्य के नेत्र के समान अंग हो उसे नेत्रवज्र अंग कहते हैं। इसे धोकर जल आँख में लगाने से अंधे को दिखाई पड़ने लगता है। जिसका अंग केश सा हो और भूमि धूमिल काली श्वेत हो उसे केशवज्र अंग कहते हैं। जो अंगरहित हो और स्थूल प्रकृति हो, उसे उपलवज्र अंग कहते हैं। जिसकी धार अंगरहित तथा तीक्ष्ण हो, शान पर चढ़ाने से जो अग्नि की चिनगारी उगिले, उसे द्रोणीवज्र अंग कहते हैं। जिस की भूमि चोट न सह सके और कौवे के पैर सा अंग हो उसे काकवज्र अंग कहते हैं। यह खड्ग अधम होता है। यदि अंगों में कपाल छूने पर खरखरा जान पड़े तो उसे कपालवज्र अंग कहते

हैं। यह खड्ग बहुत दुःख देता है। जिसकी पत्ते के समान भूमि पर काला अंग हो, उसे पत्रवज्र अंग कहते हैं। जिसमें तुवरी (रहर) के दल सा अंग हो, उसे तुवरीवज्र अंग कहते हैं। यह खड्ग अधम होता है। जिसमें बिंबी (कुँदरू) के दल सी भूमि हो तथा बिंबी के फल सा अंग हो उसे बिंबीवज्र अंग कहते हैं। जिसकी भूमि कपिल रंग की हो तथा प्रियंगु (मालकंगुनी) के फल सा अंग हो उसे फलवज्र अंग कहते हैं। इसे शान पर चढ़ाने से धुवाँ अधिक निकलता है। जिसकी काली सफेद भूमि हो, सरसों के फूल सा अंग हो और शान चढ़ाने पर आग अधिक निकले उसे सर्षपावज्र अंग कहते हैं। जिसकी भूमि नीली (लील) रस के समान और नीली तरंग सा अंग हो, उसे नीलीवज्र अंग कहते हैं। जिसकी काली श्वेत भूमि पर तीन लाल रेखाएँ हों, उसे रक्तवज्र अंग कहते हैं। जिसकी काली श्वेत भूमि पर वचा (बालवच) के दल सा अंग हो, उसे वचावज्र अंग कहते हैं। जिसकी भूमि लशुन के दल के समान हो तथा लशुन से उत्तम अंग हो, और शान चढ़ाने पर आग अधिक निकले, उसे रसोनवज्र अंग कहते हैं। जिसकी भूमि निर्मल तथा अंगरहित हो, धार तीखी हो, उसे सुमनावज्र अंग कहते हैं। जिसमें मजीठ के समान लंबी पतली रेखाएँ हों, उसे जिंग (यज्ञ) वज्र अंग कहते हैं। जिसकी भूमि काली सफेद धूमिल हो, शमी के पत्ते के समान अंग हो, उसे शमीवज्र अंग कहते हैं। जिसकी भूमि काली सफेद हो, रोहू मछली की त्वचा के समान अंग हो, उसे रोहितवज्र अंग कहते हैं। यह खड्ग देवताओं को भी दुर्लभ है। जिस की काली सफेद भूमि पर शफरी मछली की त्वचा के समान अंग हो, उसे प्रोष्ठीवज्र अंग कहते हैं। यह खड्ग पानी में मछली के समान तैरता है। बड़े भाग्य से यह खड्ग मिलता है। जिसकी भूमि विषम शोभा से युक्त हो, मारिषपत्र के समान अंग हो, उसे मारिषवज्र अंग कहते हैं। जिसकी भूमि भँगरैया के दल के समान हो, अंग भँगरैया के फूल के समान हो,

उसे मार्कवा (भृंग) वज्र अंग कहते हैं। जिसकी तीखी धार खुर के समान हो, भूमि अंग से रहित हो, टक्कर खूब ले सके उसे खुर-वज्र अंग कहते हैं। जिसकी भूमि कभी निर्मल और कभी समल हो, धार मंद और तीक्ष्ण हो उसे तडित्वज्र अंग कहते हैं। जिसकी भूमि नील अंजन के समान हो, अंग जलतरंग के समान हो, उसे मेघ (मेष) वज्र अंग कहते हैं। यह खड्ग अधम होता है। इसे पास में न रखना चाहिए। यह मालिक के प्रताप को नष्ट कर देता है। जिसकी भूमि अंग से रहित हो, धार अत्यंत गाढ़ी तथा मंद हो, उसे पर्वतवज्र अंग कहते हैं। जिसका अंग घुँघुची के फल सा हो और भूमि मीन के दल सी हो उसे गुंजावज्र अंग कहते हैं। यह खड्ग घिसने पर तप जाता है। शान पर चढ़ाने से लाल सेंदुर के समान धूल फेंकता है। बड़े भाग्य से इसकी प्राप्ति होती है। जिसका अंग सूक्ष्म बाण के आकार का हो, काली श्वेत भूमि हो, तीक्ष्ण धार हो, शान पर चढ़ाने से अग्नि की ज्वाला निकले उसे शर (शिवा) वज्र अंग कहते हैं। जिसकी भूमि दूब के दल के समान न हो, तीक्ष्ण धार हो, कर्कश आवाज हो उसे दूर्वावज्र अंग कहते हैं। जिसकी काली सफेद भूमि पर बिल्व (बेल) पत्र सा अंग हो, उसे बिल्ववज्र अंग कहते हैं। इससे नीली और पीली ज्वाला निकलती है। जिसकी मसुरी की पत्ती सी भूमि पर मसुरी सा अंग हो, उसे मसूरवज्र अंग कहते हैं। जिसकी काली भूमि पर शोण (शण) पुष्प सी लंबी रेखा हो उसे शोण (टुंटुक) (शण) वज्र अंग कहते हैं। यह खड्ग परम दुर्लभ है। जिसकी शठी दल सी भूमि पर शठी के फूल सा अंग हो, उसे शठीवज्र अंग कहते हैं। जिसकी काली भूमि पर बिल्ली के रोम सा अंग हो उसे मार्जारवज्र अंग कहते हैं। यह खड्ग रोग शोक भय का देनेवाला होता है। इससे इसका त्याग कर देना चाहिए। जिसमें केतकी के पत्ते के समान अंग हो, उसे केतक-वज्र कहते हैं। यह खड्ग काशीपुरी में होता है। जिसकी भूमि

मूर्वा दल के समान हो तथा अंग मूर्वातंतु के समान हो, शान पर चढ़ाने से श्वेत ज्वाला निकले, उसे मूर्वावज्र अंग कहते हैं। जिसके शान पर चढ़ाने से तीखी आग की चिनगारी निकले तथा जो और लोहे को शीघ्र काट दे उसे वज्र अंग कहते हैं। जिसकी काली सफेद भूमि पर कलाय के फूल सा अंग हो, उसे कलायवज्र अंग कहते हैं। इसका घाव पक जाता है। जिसकी श्वेत भूमि पर चंपा के फूल सा अंग हो उसे चंपकवज्र अंग कहते हैं। इसके धोने से जल तीता हो जाता है। जिसकी काली सफेद भूमि और बला-पुष्प सा अंग हो, उसे बलावज्र अंग कहते हैं। यह वात रोग की परम दवा है। जिसकी भूमि वट के पत्ते सी और अंग वररोह सा हो, उसे वटवज्र अंग कहते हैं। इसके स्पर्श मात्र से मनुष्य संपत्ति-रहित हो जाता है। जिसकी भूमि बाँस के पत्ते सी और धार चोखी तथा सफेद हो उसे वंशवज्र अंग कहते हैं। यह वंश की वृद्धि करता है। जिसकी भूमि सर्जक के पत्ते सी तथा अंग काला और सफेद हो उसे असनवज्र अंग कहते हैं। जिसकी भूमि काली तथा सफेद और जेठी मधु के समान हो, उसे ज्येष्ठीवज्र अंग कहते हैं। जिसकी भूमि काली सफेद और अंग पुराने जाल के समान हो, उसे जालवज्र अंग कहते हैं। यह शत्रु की संपदा का नाश करता है। अगर शान पर चढ़ाने से यह खड्ग नील ज्वाला या आग को उगले तो यह शुभ होता है, नहीं तो भय देनेवाला होता है। जिसकी भूमि सफेद तथा धूमिल और अंग चींटी के समान हो, उसे पिपीलिकावज्र अंग कहते हैं। जिसकी भूमि नल के पत्ते सा और अंग नर्कट के फूल सा हो, उसे (नर्कट) नलवज्र अंग कहते हैं। जिसकी भूमि निर्मल तथा कलंकरहित हो और घिसने से धूल निकले, धार मजबूत और बहुत मोटी हो और चोट न सह सके, उसे रजवज्र अंग कहते हैं। जिसकी काली सफेद भूमि और कोंहड़े के बीज सा अंग हो, उसे कूष्मांड वज्रअंग कहते हैं। जिसकी धूमिल काली सफेद भूमि और मनुष्य के रोम के समान अंग हो ,

उसे रोमवज्र अंग कहते हैं। जिसकी भूमि स्नुही (सेहुँड़) के समान तथा उसके काँटे के समान अंग हो, धार चोखी हो, वजन कम हो उसे स्नुहीवज्र अंग कहते हैं। इसको सर्प के फन के ऊपर रखने से फन फट जाता है। साँप जमीन में शिर पटकने लगता है। इसे धोकर जल लगाने से कोढ़ दूर होता है। जिसकी भूमि बेर के फल सी और अंग बेर सा हो, उसे कर्कंधूवज्र अंग कहते हैं। यह खड्ग अधम होता है। जिसकी भूमि मौलसिरी के फल सी और अंग मौलसिरी के फूल सा हो, उसे वकुलवज्र अंग कहते हैं। शान पर चढ़ाने से इसमें मौलसिरी के फूल की गंध निकलती है। ऐसा कोई कार्य संसार में नहीं जो इससे न हो सके। जिसमें कुछ अंग मालूम न पड़े ऐसा मिला हो, धार चोखी हो, आवाज कर्कश हो, उसे रसाल (कांजिक) वज्र अंग कहते हैं। जिसकी भूमि काली अंगरहित हो, चोखी मजबूत धार हो, टक्कर न सह सके, उसे महिषवज्र कहते हैं। जिसकी भूमि अत्यंत निर्मल हो, जिसमें शरीर का प्रतिबिंब पड़े, उसे स्वच्छवज्र अंग कहते हैं। इसी में यदि लंबी ऊँची रेखा हों तो उसे ऋतुवज्र अंग कहते हैं। इसी में यदि टेढ़ी रेखा हो तो उसे वक्र अंग कहते हैं। इसी में यदि वन की पाँति सी रेखा हो तो उसे वनवज्र अंग कहते हैं। इसी खड्ग में यदि दो अंग के लक्षण हों तो उसे मिश्र अंग कहते हैं। यदि सब अंग के लक्षण मिलें तो सर्वांग कहते हैं।

यदि खड्ग की भूमि नीली और कलाय (मटर) के फूल सी तथा चंद्रमा और नीलमणि और काचमणि के समान तथा हरिन्मणि (पन्ना) के समान शोभित हो, तो खड्ग का नील रूप जानना चाहिए। इस खड्ग में यद्यपि निंदित अंग और बहुत अरिष्ट तथा बहुत दोष हों तथापि यह खड्ग प्रशंसनीय गुणवान होता है। यदि खड्ग की भूमि काले मेघ और स्याही तथा काले सर्प और अंधकार, काले केश तथा भौंरे के बराबर काले रंग की हो, तो खड्ग का कृष्णरूप होता है। इस खड्ग के अशुभ अरिष्ट और नेत्र भी

संपत्ति के लिये होते हैं, यह नागार्जुन मुनि का मत है। यदि खड्ग की भूमि बरसाती मेढक के समान और गोमेद (पीला रत्न) के समान रंग वाली हो, तो खड्ग का पिंग (पीला) रूप होता है। यह खड्ग स्वामी के यश, बल, धन को नष्ट कर देता है। यदि खड्ग की भूमि मंद धूम के समान और शिरिस के फूल के समान मलिन रंगवाली हो तो खड्ग का धूम्र रूप होता है। यह खड्ग स्वामी के यश, धन, बल का बढ़ानेवाला होता है। एक खड्ग में दो रूप के मिलने से संकर होता है। तीन रूप के मिलने से खड्ग का नाम त्रिपुर होता है। चार रूप के मिलने से खड्ग का नाम चतुर होता है।

जिसका अंग वर्ण नेत्र स्वर शुद्ध हो, स्पर्श कोमल हो, धार चोखी हो, महान् गुण हो, उस खड्ग को ब्राह्मण जाति का समझना चाहिए। इसका घाव लगने पर सब शरीर में सूजन, मूर्छा, प्यास, दाह, ज्वर, मृत्यु होती है। यह खड्ग परमोत्तम होता है। इस खड्ग का धारण करनेवाला त्रैलोक्य-विजयी होता है। यह खड्ग कुशद्वीप में प्रायः होता है। जिसका धूम्र वर्ण हो, महान् सार हो, तीखी धार हो, कर्कश स्वर हो, जो सब प्रकार की चोट को सह सके, संपूर्ण नेत्र वर्ण स्वर से युक्त हो, उस खड्ग को क्षत्रिय जाति का समझना चाहिए। इसके घाव से दाह, प्यास, ज्वर, भ्रम, (चक्कर) मृत्यु होती है। यह खड्ग सब खड्गों में श्रेष्ठ होता है। जिसका कृष्ण या नील वर्ण हो, जो साफ करने पर खूब निर्मल हो, शान चढ़ाने पर खूब चोखी धार हो, मारने से अवश्य वस्तु को काट दे वह खड्ग वैश्य जाति का होता है। यह खड्ग न तो अत्यंत उत्तम और न अत्यंत निकृष्ट होता है। जो खड्ग जल से भरे मेघ के समान श्याम वर्ण हो, जिसकी धार मोटी हो, स्वर कोमल हो, सफाई करने पर भी मलिन हो, शान चढ़ाने पर तीक्ष्ण न हो, वह शूद्र जाति का होता है। इसके घाव में थोड़ी भी पीड़ा नहीं होती। यह खड्ग अधम होता है। इसे त्याग देना चाहिए। जिस खड्ग में दो जाति के लक्षण मिलें उसे जारज

(दोगला) समझना चाहिए। जिसमें तीन जाति के लक्षण मिलें उसे त्रिजाति समझना चाहिए। जिसमें चार जाति के लक्षण मिलें उसे जाति-संकर समझना चाहिए।

खड्ग में अंग सब जगह होते हैं, नेत्र एक जगह होता है। जैसे मनुष्य सब अंगों से युक्त होने पर भी नेत्र से हीन हो तो अंधा होकर किसी काम लायक नहीं होता वैसे ही खड्ग सब अंगों से युक्त होने पर भी नेत्र के बिना बेकाम होता है। यदि खड्ग के अंग में चक्र सा नेत्र हो तो उसे चक्र नेत्र कहते है। यदि खड्ग में विकसित कमल सा नेत्र हो तो उसे पद्म नेत्र कहते हैं। यदि खड्ग में ऊँची गदा सी रेखा हो तो उसे गदा नेत्र कहते हैं। यदि खड्ग में शंख सा नेत्र हो तो उसे शंख नेत्र कहते हैं। यदि खड्ग में खड्ग सा नेत्र हो तो उसे खड्ग नेत्र कहते हैं। यदि खड्ग में डमरू सा नेत्र हो तो उसे डमरू नेत्र कहते हैं। यदि खड्ग में धनुष सा नेत्र हो तो उसे धनुष नेत्र कहते हैं। यदि खड्ग में अंकुश सा नेत्र हो तो उसे अंकुश नेत्र कहते हैं। यदि खड्ग में छत्र सा नेत्र हो तो उसे छत्र नेत्र कहते हैं। यदि खड्ग में पताका सा नेत्र हो तो उसे पताका नेत्र कहते हैं। यदि खड्ग में वीणा सा नेत्र हो तो उसे वीणा नेत्र कहते हैं। यदि खड्ग में मछली सा नेत्र हो तो उसे मत्स्य नेत्र कहते हैं। यदि खड्ग में शिवलिंग सा नेत्र हो तो उसे लिंग नेत्र कहते हैं। यदि खड्ग में ध्वज सा नेत्र हो तो उसे ध्वज नेत्र कहते हैं। यदि खड्ग में चंद्रमा सा नेत्र हो तो उसे इंदु नेत्र कहते हैं। यदि खड्ग में घड़ा सा नेत्र हो तो उसे कुंभ नेत्र कहते हैं। यदि खड्ग में त्रिशूल सा नेत्र हो तो उसे शूल नेत्र कहते हैं। यदि खड्ग में शार्दूल सा नेत्र हो तो उसे शार्दूल नेत्र कहते हैं। यदि खड्ग में सिंह सा नेत्र हो तो उसे सिंह नेत्र कहते हैं। यदि खड्ग में सिंहासन सा नेत्र हो तो उसे सिंहासन नेत्र कहते हैं। यदि खड्ग में हाथी सा नेत्र हो तो उसे गज नेत्र कहते हैं। यदि खड्ग में हंस सा नेत्र हो तो उसे हंस नेत्र कहते हैं। यदि खड्ग में मोर सा नेत्र हो तो उसे मयूर

नेत्र कहते हैं। यदि खड्ग में जीभ सा नेत्र हो उसे जिह्वा नेत्र कहते हैं। यदि खड्ग में दाँत सा नेत्र हो तो उसे दंत नेत्र कहते हैं। यदि खड्ग में मनुष्य की पुतली सा नेत्र हो तो उसे पुत्रिका नेत्र कहते हैं। यदि खड्ग में चमर सा नेत्र हो तो उसे चमर नेत्र कहते हैं। यदि खड्ग में पर्वत सा एक या अनेक शिखावाला नेत्र हो तो उसे शैल नेत्र कहते हैं। यदि खड्ग में फूल की माला सा नेत्र हो तो उसे पुष्पमाला नेत्र कहते हैं। यदि खड्ग में साँप सा नेत्र हो तो उसे सर्प नेत्र कहते हैं।

इन तीसों नेत्रों में से कोई एक नेत्र भी जिस खड्ग में होता है वह खड्ग संपूर्ण प्रकार के सुख देता है। उस खड्ग से अकेला राजा संपूर्ण शत्रुओं का नाश कर सकता है, संपूर्ण पृथ्वी का राज्य कर सकता है, विजयलक्ष्मी उसके अधीन रहा करती है। एक नेत्रवाला खड्ग धर्म को देता है। दो नेत्रोंवाला खड्ग स्वर्ग और काम को देता है। तीन नेत्रोंवाला खड्ग अर्थ धर्म काम को देता है। एक नेत्रवाले खड्ग का नाम एक नेत्र है। दो नेत्रोंवाले का नाम द्विनेत्र है। तीन नेत्रोंवाले का नाम त्रिनेत्र है। बहुत नेत्रोंवाले का नाम बहुनेत्र है।

खड्ग में नेत्र का स्थान नियमित होता है। अरिष्ट के स्थान का नियम नहीं होता। कितना भी अच्छा खड्ग हो परंतु एक भी अरिष्ट यदि उसमें हो तो वह निंदित होता है। खड्ग में स्वभाव से यदि छेद की भाँति दिखाई पड़े तो वह छिद्रारिष्ट होता है। यदि खड्ग में कहीं कौवे के पैर की भाँति अरिष्ट दिखाई पड़े तो वह काकपदारिष्ट होता है। यदि खड्ग में टेढ़ी या ऊँची रेखा की भाँति अरिष्ट हो तो वह रेखारिष्ट होता है। यदि खड्ग में कहीं मेंढक के सिर सा अरिष्ट हो तो वह भेकारिष्ट होता है। यदि खड्ग में मूसे के समान अरिष्ट हो तो वह मूषिकारिष्ट होता है। यदि खड्ग में बिल्ली के नेत्र सा अरिष्ट हो तो वह बिडालारिष्ट होता है। यदि खड्ग में शर्करा (खिपड़ी) सा अरिष्ट हो तो वह शर्करारिष्ट होता

है। यदि खड्ग में नीली (लील) सा अरिष्ट हो तो वह नीली-अरिष्ट होता है। यदि खड्ग में मशक (मच्छड़) सा अरिष्ट हो तो वह मशकारिष्ट होता है। यदि खड्ग में भौंरे के समान एक या अनेक बिंदु हों तो वह भृंगारिष्ट होता है। यदि खड्ग में सूची की भाँति अरिष्ट हो तो वह सूची-अरिष्ट होता है। यदि खड्ग में तीन बिंदु या तीन रेखा बिषम ऊपर ऊपर या नीचे नीचे हों तो उसे त्रिबिंदु अरिष्ट कहते हैं। यदि खड्ग में काला दाग हो तो वह कालिकारिष्ट होता है। यदि खड्ग में एक ठौर फटा हुआ मालूम हो तो वह एरी (पावी) अरिष्ट होता है। यदि खड्ग में कबूतर के पंख सा अरिष्ट हो तो वह कपोतारिष्ट होता है। यदि खड्ग में कौवा सा अरिष्ट हो तो वह काकारिष्ट होता है। यदि खड्ग में खर्पर सा अरिष्ट हो तो वह खर्परारिष्ट होता है। यदि खड्ग में दूसरे लोहे का टुकड़ा लगा मालूम हो तो वह शकली अरिष्ट होता है। यदि खड्ग में शूकरी के आकार सा अरिष्ट मालूम हो तो उसे क्रोडी अरिष्ट कहते हैं। यदि खड्ग में कुशा के पत्र सा अरिष्ट हो तो वह कुशपत्रारिष्ट होता है। यदि खड्ग के मध्य में कहीं पर गहरा (गड़हा) सा मालूम हो तो वह नालारिष्ट होता है। यदि खड्ग में एक फैली हुई लंबी रेखा हो तो वह करालारिष्ट होता है। इस अरिष्ट के दर्शन मात्र से राजा की राज्यलक्ष्मी नष्ट हो जाती है। यदि खड्ग में कंक के पंख सा अरिष्ट हो तो वह कंकारिष्ट होता है। यदि खड्ग में खजूर के पत्ते सा अरिष्ट हो तो वह खर्जूरारिष्ट होता है। यदि खड्ग में गौ की सींग सा अरिष्ट हो तो वह शृंगारिष्ट होता है। यदि खड्ग में गौ की पूँछ सा अरिष्ट हो तो वह पुच्छारिष्ट होता है। यदि खड्ग में खुर्पा सा अरिष्ट हो तो वह खनित्रारिष्ट होता है। यदि खड्ग में लांगल (हल) सा अरिष्ट हो तो वह लांगलारिष्ट होता है। यदि खड्ग में शूप सा अरिष्ट हो तो वह शूर्पारिष्ट होता है। यदि खड्ग में बडिश (मछली फँसाने की कँटिया) सा अरिष्ट हो तो वह बडिशारिष्ट होता है। ये तीसों

अरिष्ट महा अशुभ होते हैं। इनमें एक भी अरिष्ट यदि खड्ग में हो तो राजा का सर्वस्व नष्ट हो जाता है। इसलिये इन अरिष्टों का सर्वथा परित्याग करना चाहिए। अरिष्टवाले खड्ग का दर्शन और स्पर्श भी न करना चाहिए। यदि एक खड्ग में दो अरिष्ट हों तो खड्ग शुभदायक होता है। जैसे एक विष दूसरे विष का नाश कर देता है, वैसे ही एक अरिष्ट दूसरे अरिष्ट का नाश कर देता है।

खड्ग की भूमि दो प्रकार की होती है। एक दिव्य और दूसरी भौम। स्वर्ग में होनेवाली भूमि दिव्य होती है। पृथ्वी में होने-वली भूमि भौम होती है। जिन खड्गों की धार मोटी होती है, जो खड्ग वजन में बहुत हलके होते हैं, जिन खड्गों के अंग अत्यंत निर्मल होते हैं, जिनके नेत्र शोभन होते हैं, जिनमें अरिष्ट नहीं होता है, जो बिना सफाई किए हुए भी स्वच्छ रहते हैं, जिन्हें कोई शस्त्र काट नहीं सकता है, जो टूटने पर जुटते नहीं हैं, जिनकी आवाज भारी होती है, जिनके घाव में दाह और पाक होता है और जिनके पास रहने से कुल, धन, विजय, लक्ष्मी, यश की वृद्धि होती है, वे खड्ग दिव्य भूमिवाले होते हैं।

जिन खड्गों की धार तीखी होती है, जो खड्ग वजन में बहुत भारी होते हैं, जो छः गुणों से युक्त होते हैं, जो दूसरे शस्त्रों से काटे जा सकते हैं, जिनमें कोई सांग (अंगों के सहित) और कोई अंगरहित होते हैं, तथा जिनमें कोई मलसहित और कोई मलरहित होते हैं। वे खड्ग भौम भूमिवाले होते हैं। इन खड्गों को पास रखने से उग्र दुःख होता है। ये खड्ग बल कुल यश लक्ष्मी के नाश करनेवाले होते हैं।

ध्वनि के आठ भेद लिख आए हैं उनमें पहले के चार भेद शुभद होते हैं। दूसरे चार भेद निंदित होते हैं। ये आठों ध्वनि के भेद दो प्रकार के होते हैं—घोर और तार। घोर सुख संपत्ति के लिये होता है और तार उच्चाटन (दुःख आदि से जी का घबड़ाना) के लिये होता है।

जिस खड्ग में नह से ठोकने पर हंस की आवाज ऐसी आवाज निकले उसे हंसध्वनि कहते हैं। जिस खड्ग में नह की ठोकर लगने पर काँसे की सी आवाज निकले वह कांस्यध्वनि कहाता है। जिस खड्ग में नह से मारने पर मेघ की सी आवाज आवे, उसे मेघ-ध्वनि कहते हैं। जिस खड्ग में नख से मारने पर ढक्का (एक तरह का बाजा) की सी आवाज निकले उसे ढक्काध्वनि कहते हैं। जिस खड्ग में नह की ठोकर लगने से कौवे की सी आवाज निकले उसे काकध्वनि कहते हैं। जिस खड्ग में नह की ठोकर मारने से वीणा के तार की सी आवाज निकले उसे तंत्रीध्वनि कहते हैं। जिस खड्ग में नख की ठोकर मारने से गदहे की सी आवाज आवे उसे खरध्वनि कहते हैं। जिस खड्ग में नह की ठोकर लगने से पत्थर की सी आवाज निकले उसे अश्मध्वनि कहते हैं। खड्ग की ध्वनि यदि गंभीर और ऊँची हो तो खड्ग शुभ होता है। खड्ग की ध्वनि दबी हुई और धीमी हो तो खड्ग अशुभ होता है। नह से अथवा डंडे से या लोहे की शलाका से या मट्टी के ढेले से या शर्करा से खड्ग में ठोकर लगाकर ध्वनि की परीक्षा करनी चाहिए।

खड्ग का मान दो प्रकार का कह चुके हैं। उसमें एक उत्तम मान और दूसरा अधम मान होता है। ये दोनों मान आदि, मध्य और अंत्य के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। जो खड्ग बीस मुट्ठी का लंबा छः अंगुल का चौड़ा हो, वजन आठ पल का हो वह खड्ग न अत्यंत उत्तम न अत्यंत अधम होता है। जो खड्ग बारह, आठ या नव मुट्ठी का लंबा हो उसी का चौथाई भाग चौड़ाई में हो, उतना ही पल वजन में हो, वह खड्ग अधम होता है। खड्ग जितनी मुट्ठी का लंबा हो उसके आधे अंगुल का चौड़ा और उसके चौथाई पल का वजनदार यदि हो तो उत्तम मान-वाला होता है। खड्ग जितनी मुट्ठी का लंबा हो उसी के तिहाई अंगुल का यदि चौड़ा हो, उसके आधे पल का वजनदार हो तो मध्यम मानवाला खड्ग होता है। जितनी मुट्ठी का लंबा खड्ग

हो यदि उतने ही अंगुल का चौड़ा हो, और उतने ही पल का या उससे अधिक पल का वजन में हो तो अधम मानवाला होता है। दीर्घता, लघुता, तीक्ष्णता, विस्तीर्णता (चौड़ाई), दुर्भेद्यता (टूट न सकना), सुघटता (जुट जाना) ये खड्गों के गुण होते हैं। खर्वता (छोटा होना), गुरुता, मंदता, तनुता (कम चौड़ा होना), सुभेद्यता (जल्द टूट जाना), दुर्घटता (जल्द जुट जाना) ये खड्गों के दोष होते हैं।

[प्राचीन ग्रंथों में जो कुछ मुझे मिला उसे मैंने इस निबंध में संग्रह कर दिया है। अभी इस संबंध में बहुत कुछ खोज तथा जाँच पड़ताल करने की आवश्यकता है। यदि मेरे इस निबंध को पढ़कर किसी विद्वान् की इसकी ओर प्रवृत्ति हो और वह इस विज्ञान का अधिक रहस्योद्घाटन कर सके तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

इस निबंध के प्रस्तुत करने में मुझे पंडित गोपीनाथ कविराज और डाक्टर मंगलदेव शास्त्री से अमूल्य सहायता प्राप्त हुई जिसके लिये मैं इन दोनों विद्वान् महोदयों का विशेष कृतज्ञ हूँ।]